परम् पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

जैन राजनैतिक चिन्तनधारा

(सातवीं से दसवीं शताब्दी)

आशीर्वाद व प्रेरणा -

आध्यात्मिक संत परम् पूज्य मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज

एवं क्षु. गम्भीरसागरजी महाराज क्षु. धैर्यसागरजी महाराज

-: सम्पादक द्वय :-

डॉ. रमेशचन्द जैन
एम.ए., पी-एच. डी., डी.लिट्
जैन दर्शनाचार्य
संस्कृत विभाग
बिजनौर (उ.प्र.)

डॉ. अरुणकुमार शास्त्री
व्याकरणाचार्य
सरस्वती भवन
सेठजी की नसीयाँ
ब्यावर (राज.)

लेखिका :

डॉ. विजयलक्ष्मी जैन,
एम. ए., पी-एच. डी.
प्रवक्ता - नागरिक शास्त्र
मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय इण्टर कॉलेज
नजीबाबाद, जिला - बिजनौर (उ. प्र.)

-: प्रकाशक :-
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

प्रकाशक :
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

ग्रन्थमाला सम्पादक एवं नियामक:
(1) डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
(2) डॉ. अरूणकुमार शास्त्री, ब्यावर

प्रूफरिडिंग : श्री पदमचन्दजी पाटनी, नसीराबाद

प्रथम संस्करण - 1995

मूल्य : 75/-

प्राप्ति स्थान :
1. आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र,
   सेठजी की नसियाँ, ब्यावर (राज.)
2. श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र संघीजी मन्दिर
   सांगानेर (जयपुर) राज.

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं

क्षु. श्री गंभीरसागरजी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

सौजन्यता :

श्री सुमेरचन्द, दिनेशचन्द जैन (दनगसिया)

केसर गंज, अजमेर

प्रकाशक :

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ-विमर्श केन्द्र सरस्वती भवन,

सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राज.)

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 422291

समर्पण

卐

राजनीति को धर्मनीति से जोड़ने का
उपदेश देने वाले, निर्ग्रन्थ श्रमणचर्या में रत,
अध्यात्म प्रवक्ता, प्रवर योगी, विद्वान, मनीषी एवं
धर्मतत्त्ववेत्ता परम उपकारी गुरुवर
मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज
के कर कमलों में
जैन आचार्यों की राजनैतिक चिन्तन धारा
के वे मौलिक सूत्र, जिन्हें खोजने में
मैं निमित्त बनी, सम्यक् प्रणति
पूर्वक सादर समर्पित हैं ।

- विजयलक्ष्मी जैन

सम्पादकीय

भारतीय राजनीति का चिन्तन सदैव नैतिक मूल्य परक और दूसरों को प्रेरणा प्रदान करने के साथ-साथ स्वयं अनुशासन में बद्ध होने का रहा है। यहाँ राजा का कार्य सदैव लोकरञ्जन करता रहा है। उत्तरराम चरितम् में महाकवि भवभूति ने राम के मुख से कहलाया है-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

अर्थात् लोक की अराधना के लिए मुझे स्नेह, दया, सुख और जानकी को भी छोड़ना पड़े तो मुझे व्यथा नहीं होगी।

जैन आगमों में कहा गया है - 'विणओ मोक्ख मग्गो' अर्थात् विनय मोक्ष का मार्ग है। राजा को भी विनीत होने का उपदेश दिया गया है। वही मनुष्य महान् है, जो जितेन्द्रिय हो। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह दिन-रात इन्द्रियों पर विजय पाने की चेष्टा करता रहे; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है। संसार की समस्त मर्यादायें राजा द्वारा ही सुरक्षित मानी गयी हैं। राजा धर्मों की उत्पत्ति का कारण है। राजा के बाहुबल की छाया का आश्रय लेकर प्रजा सुख से आत्मध्यान करती है तथा आश्रमवासी विद्वान निराकुल रहते हैं। हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने कहा है कि राजा जन्म को छोड़कर सब बातों में प्रजा का माता-पिता है, उसके सुख-दु:ख प्रजा के आधीन है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त कहता है-

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापाद् ऋते तसां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ ६/२३

"प्रजाजन अपने जिस किसी स्नेही बन्धु बान्धव से वियोग को प्राप्त हो जाँय। केवल पापकार्य को छोड़ कर दुष्यन्त उनका वही बन्धु बान्धव है, ऐसी घोषणा करा दी जाय।

राजा अध:पतन से होने वाले विनाश से रक्षा करता है, अत: संसार की स्थिति रहती है, ऐसा न होने पर संसार की स्थिति नहीं रह सकती। उत्तम राजा से युक्त भूमि सुख देती है। आज के मनुष्य के पास सब कुछ साधन होते हुए भी वह सुखी नहीं है; क्योंकि जिन्हें हमने सत्ता सौंप रखी है, जनता के उन प्रतिनिधियों का चरित्र उज्जवल नहीं है। आज राजनीति का अपराधीकरण हो गया है, अत: मनुष्य दु:खी है। प्राचीन राजाओं का स्वरूप ऐसा नहीं था। वादीभसिंह का कहना है कि राजा गर्भ का भार धारण करने के क्लेश से अनभिज्ञ माता, जन्म की करणमात्रता से रहित पिता, सिद्धमातृका के उपदेश के क्लेश से रहित गुरु, उभयलोकों का हित करने में तत्पर बन्धु, निद्रा के उपद्रव से रहित नेत्र, दूसरे शरीर में संचार करने वाले प्राण, समुद्र में न उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष, चिन्ता की अपेक्षा से रहित चिन्तामणि, कुलपरम्परा की आगति के जानकार, सेवकों के प्रेमपात्र व्रज की प्रजा की रक्षा करने वाले, शिक्षा के उद्देश्य से दण्ड देने वाले और शत्रुसमूह को दण्डित करने वाले होते हैं।

आचार्य सोमदेव ने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार दी है - 'पशु धान्य हिरण्य सम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम' अर्थात् जहाँ पशु, धान्य और हिरण्य सम्पदा सुशोभित होती है, उसे राष्ट्र कहते हैं। आज धान्य और हिरण्य सम्पदा की ओर तो विशेष ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु पशु सम्पदा की घोर उपेक्षा हो रही है। पशुओं को अमानुषिक यन्त्रणा देकर आधुनिक शस्त्रोपकरणों से लैस वधशालाओं में मारा जा रहा है। ऐसी स्थिति में पशुधन की सुरक्षा के बिना राष्ट्र की कल्पना कैसे की जा सकती है? हमें प्राचीन आदर्शों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। पर्याप्त गुप्तचर व्यवस्था के अभाव में बड़े से बड़े व्यक्ति का भी जीवन आज खतरे से खाली नहीं है। सीमावर्ती राज्यों में विदेशी एजेन्ट सक्रिय हैं, जो आतङ्कवादी गतिविधियाँ फैला रहे हैं, इस प्रकार देश के सामने अनेक समस्यायें हैं, जिनका निराकरण प्राचीन भारतीय राजमार्गोपदेष्टाओं के नीतिपरक उपदेशों से ही हो सकता है, जिसके लिए सम्यक् अध्ययन अपेक्षित है।

डॉ. विजयलक्ष्मी जैन ने जैन राजनैतिक चिन्तन धारा को सर्वसामान्य के सम्मुख उद्घाटित कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राजनैतिक चिंतनधारा को धर्मनीति से जोड़ने वाले दार्शनिक संत परम पूज्य श्री सुधासागरजी महाराज की पावन प्रेरणा एवं मंगलकारी आशीर्वाद से यह कृति संपादित एवं प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में पहुँच रही है, इनके पावन चरणों में कोटि - कोटि नमोस्तु करता हूँ, तथा इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन समिति, अजमेर के सहयोग से आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर से किया जा रहा है, अत: केन्द्र के प्रति भी साधुवाद ज्ञापित करता हूँ। आशा है, इस प्रकार के अध्ययन को और भी अधिक गति प्राप्त होगी।

-डॉ. रमेशचन्द जैन

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्राणवान बहूमूल्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलतः इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी है तो शोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याऐं जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अतः समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र. भूरामल शास्त्री (आ ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार संस्कृत महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणी आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री के सानिध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन - प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये।

इसके अनन्तर मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठी में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्याबर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य तिलक महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बलस किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरुप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन द्वारा लिखित पुस्तक (पी. एच. डी. हेतु स्वीकृत) प्रकाशित की जा रही हैं। जो लोग यह कहते हैं कि जैन दर्शन मात्र आध्यात्मिक चेतना तक ही सीमित हैं। राष्ट्र चेतना के सम्बन्ध में निष्क्रीय हैं ऐसे लोगों की मिथ्या धारणा को यह पुस्तक दूर करेगी तथा दिशा निर्देश भी देगी की जैन दर्शन आध्यात्मक प्रेमी होने के साथ-साथ राष्ट्र प्रेमी भी है।

अस्तु।

अरुण कुमार शास्त्री,
ब्यावर

दो शब्द . .

भारतीय राजनीति के विभिन्न पहलुओं पर प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने काफी शोध और खोज की है तथा इसके विषय में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है । अन्य भारतीय आचार्यों की तरह जैन आचार्यों ने भी राजनैतिक विषयों पर गहन मन्थन किया है, किन्तु इस ओर विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है यही कारण है कि जैन राजनीति पर अभी तक अत्यल्प सामग्री प्रकाश में आई है एवं राजनीतिप्रधान ग्रन्थों में जैन सन्दर्भों का नितान्त अभाव है । इसी अभाव की पूर्ति हेतु हमारा ध्यान इस ओर गया । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध जैन राजनैतिक चिन्तनधारा (सातवीं से दशवीं शताब्दी) इसी दिशा में किया गया आंशिक प्रयत्न है । इस प्रयत्न की सफलता का पूरा श्रेय उन प्राचीन महनीय महर्षियों को है, जिनके विचारों को ग्रहण कर इस प्रबन्ध को सजाया और सँवारा गया है । तथा दार्शनिक संत परम पूज्य श्रेद्धेय गुरुवर श्री सुधासागरजी महाराज की पावन प्रेरणा एवं मंगलकारी आर्शीवाद से यह कृति चर्मोत्कर्षता प्राप्त करकें पाठकों के हाथ में पहुँच रही है । इनके पावन करणों में कोटि-कोटि नमोस्तु करती हूँ । आगरा कॉलेज आगरा के राजनीति विभाग के अध्यक्ष डॉ. वी. एम. टोंक की मैं हृदय से बहुत आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका । डॉ. राजकुमार जैन (तत्कालीन अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा), ड़ॉ कुन्दनलाल जैन (तत्कालीन अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बरेली कॉलेज-बरेली) तथा अन्य अनेक महानुभावों से समय-समय पर मुझे उपयोगी परामर्श मिले । सहायक पुस्तकों के रूप में अनेक प्राचीन आचार्यों एवं आधुनिक विद्वानों की कृतियों का उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है । इन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ । आगरा विश्वविद्यालय से यह शोध प्रबन्ध 'सातवी से दशवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य में राजनीति' शीर्षक से पी-एच. डी. हेतु स्वीकार किया गया था, अब इसका शीर्षक परिवर्तित कर 'जैन राजनैतिक चिन्तन धारा (सातवीं से दशवीं शताब्दी)' के रूप में प्रकाशित कराया जा रहा है । आशा है इससे राजनीति शास्त्र के अध्येताओं को लाभ होगा । इस ग्रन्थ का प्रकाशन दिगम्बर जैन समिति, अजमेर के सहयोग से आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर से किया जा रहा है, अत: इस केन्द्र के प्रति कृतज्ञयता ज्ञापित करती हूँ । तथा ग्रन्थ प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले .... को अनेकश

धन्यवाद !

विजयलक्ष्मी जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम् अध्याय

दीप एवं दुर्ग -

अष्टम् अध्याय

बल अथवा सेना -

नवम् अध्याय

न्याय एवं प्रशासन व्यवस्था -

दशम अध्याय

अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध –

एकादश अध्याय

उपसंहार –

❀ ❀ ❀

प्रथम अध्याय

सातवीं शताब्दी से पूर्व की भारतीय राजनीति

प्राचीन भारत में सातवीं शताब्दी से पूर्व राजशास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं, जिनकी राजनीति के क्षेत्र में महती देन है।

सातवीं शताब्दी से पूर्व की राजनीति पर एक विहंगम दृष्टि डालने के लिए इसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है -

(1) सिन्धु युगीन राजनीति।

(2) वैदिक कालीन राजनीति।

(3) महाकाव्यों में वर्णित राजनीति।

(4) स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित राजनीति।

(5) राजनीति प्रधान ग्रन्थों में वर्णित राजनीति।

इन सब का समग्र अध्ययन तो इन ग्रन्थों अथवा इनके आधार पर लिखे गए विस्तृत ग्रन्थों से ही सम्भव हो सकता है। यहाँ हमारे शोध प्रबन्ध की पृष्ठ भूमि के रूप में उनके कतिपय मौलिक तत्वों पर ही क्रमश: प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है -

(1) सिन्धु युगीन राजनीति - सिन्धु प्रदेश की राजनीति और शासन व्यवस्था के विषय में हमारा ज्ञान अनुमान पर ही निर्भर है। किसी निश्चित साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि देश की सत्ता किसी राजा अथवा उसके या जनता के प्रतिनिधि के हाथ में थी अथवा पुरोहित वर्ग के हाथ में थी। परन्तु यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया था। कदाचित् केन्द्रीय शासन की ओर से अनेक पदाधिकारी भिन्न-भिन्न नगरों में शासन करते थे। कदाचित् इन्हें नगर वासियों का भी सहयोग प्राप्त था। सिन्धु प्रदेश में प्रतिष्ठित समष्टिगत जीवन को देखते हुए यह कहना असंगत न होगा कि विभिन्न नगरों में नगरपालिकाओं की भी व्यवस्था थी। नालियों को संरक्षित और साफ रखने, स्थान-स्थान पर कूड़ा एकत्र करने के लिए मिट्टी के बने हुए घड़ों और पीपों को रखने तथा उस संग्रहीत कूड़े को नगर के बाहर फिकवाने, सड़कों, पुलों, नगरों और सार्वजनिक भवनों के निर्माण और जीर्णोद्धार करने, व्यक्तिगत भवनों के आकार प्रकार और खिड़कियों तथा नालियों आदि की दिशा पर नियन्त्रण रखने, श्रम, मूल्य, लाभ, माप, तोल आदि सार्वजनिक विषयों को नियमानुकूल रखने इत्यादि के लिए प्रत्येक नगर में नगरपालिका के समान कोई संस्था अवश्य रही होगी। मैके का कथन है कि मोहनजोदड़ों का नगर रक्षा के निमित्त दीवारों के द्वारा कई भागों में विभाजित कर दिया गया था। इन विभागों में रात्रि के समय पुलिस के गश्तों की योजना रही होगी। अनेक सड़कों के कोनों पर भी एक-एक भवन के ध्वंसावशेष मिले हैं। कदाचित् ये पुलिस के नाके थे। ''शान्ति प्रिय जीवन होने के कारण सिन्धु निवासियों को कभी बहुसंख्यक पुलिस अथवा मिलिटरी की आवश्यकता न रही होगी। पुलिस का योग एकमात्र सार्वजनिक कार्यों के निमित्त ही किया जाता होगा। उत्खनन में भवनों और सड़कों के जो ध्वंसावशेष निकले हैं, उनमें से अधिकांश आश्चर्यजनक रूप से संरक्षित और व्यवस्थित हैं। इनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु प्रदेश दीर्घकाल तक विप्लव और अशान्ति से मुक्त रहा होगा[1]।''

(2) वैदिक कालीन राजनीति - वैदिक युग 2500 ई. पूर्व से लेकर ईसा पूर्व 200 वर्ष तक का माना जाता है । इस युग को दो भागों में विभाजित किया जाता है - पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल । पूर्व वैदिक काल को ऋग्वेदीय काल कहते हैं, क्योंकि इस काल में ऋग्वेद लिखा गया । ऋग्वेद की रचना में एक हजार या उससे अधिक वर्ष लगे । ऋग्वेद का बाद का 200 ई. पूर्व तक का काल उत्तरवैदिक काल माना जाता है । ऋग्वेदीय काल में सामाजिक इकाई का कुल या कुटुम्ब होता था । इसमें एक ही कुलपति के आश्रम में अनेक कुटुम्बी रहते थे । यह कुलपति या कुलप कुटुम्ब का पिता या बड़ा भाई होता था[2] । कुटुम्बों या गृहों के समूह को ग्राम कहते थे[3] । गाँव से बड़ी बस्ती को विश[4] (वर्ग या संघ) कहते थे और इसका मुखिया विश्पत्ति कहलाता था5। विशों के समूह को जन कहते थे[6] । राष्ट्र[7] शब्द देश या राज्य के लिए प्रयुक्त किया जाता था । उस समय आर्यों और अनार्यों (अथवा विभिन्न आर्यदलों) के बीच होने वाले अनवरत युद्धों के कारण राजा का रहना आवश्यक था[8] । राजा अनुचित कार्य करने वालों को दण्ड देता था[9] । राजकीय कार्यों में पुरोहित, सेनानी और ग्रामीण योग देते थे[10] ।

राज्य की एकच्छत्र शक्ति, की रोकथाम करने वाली दो सार्वजनिक संस्थायें थी, सभा और समिति, जिनके द्वारा जनता के हित से सम्बन्ध रखने वाली महत्वपूर्ण बातों में, यहाँ तक कि स्वयं राजा के चुनाव में भी जनता की इच्छा प्रकट की जाती थी[11] । ऋग्वेद काल में न्याय विषयक सामग्री अपेक्षाकृत कम है । उस समय यह प्रथा थी कि मारे गए व्यक्तियों के सम्बन्धियों को धन देकर उसकी जान के बदले में उऋण हो सकते थे । एक व्यक्ति या मनुष्य को शतदाय कहा गया है, क्योंकि उसके प्राणों का मूल्य सौ गायें था। इस प्रकार प्राणघात के लिए द्रव्य देने की प्रथा से आँख के बदले आँख निकालने और दाँत के बदले दाँत तोड़ने की आदिम क्रूर प्रथा का सुधार हुआ और बदला लेने के निजी अधिकार पर पाबन्दी हुई । उग्र और जीवभृग शब्द का शब्दार्थ है - जीवित पकड़ लेना। ये शब्द राजा के दण्डधर या रक्षा पुरुषों के वाचक माने गए है[12] ।

उत्तरवैदिक काल में राजा का पद नितान्त प्रतिष्ठित हुआ तथा उसके अधिकारों में भी विशेष रूप से वृद्धि हुई । अभिषेक के निमित्त उपादेय यागों में राजरूप महत्त्वशाली है । उसके स्वरूप की मीमांसा करने से राजा की प्रभुशक्ति के गौरव का परिचय मिलता है । राजा होने के निमित्त राजसूय यज्ञ का विधान नियत किया गया था । कालान्तर में अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राट तथा चक्रवर्ती पद के लिए आवश्यक बतलाया गया है । अधिकारी रत्नों के नाम से प्रख्यात थे, जिनके पास अभिषेक से पहिले राजा को जाना आवश्यक था । इनके नाम ये हैं - (1) सेनानी (सेना का अध्यक्ष) (2) पुरोहित (3) अभिषेचनीय राजा (4) महिषी (राजा की पटरानी) (5) सूत (6) ग्रामणी (7) क्षत्तृ (8) संग्रहीतृ (9) भागदुह (प्रजा से कर वसूल करने वाले अधिकारी) (10) अक्षावाय (रुपए पैसों का हिसाब रखने वाले अफसर (11) गौविकर्तृ (जंगल का अधिकारी)[13] ।

अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है[14] । सभा ग्राम सभा थी, यह ग्राम के समस्त स्थानीय विषयों की देख रेख करती थी । अथर्ववेद में एक स्थान पर सभा को नरिष्ठा कहा गया है[15] । नरिष्ठा का अर्थ सामूहिक वादविवाद होता है । इससे प्रकट होता है कि ग्राम निवासी अपनी सभा में वाद विवाद के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचते थे । ग्राम के

सभी विषय सभा के आधीन थे। समिति राज्य की केन्द्रीय संस्था प्रतीत होती है। अथर्वद में एक स्थान पर उल्लेख है कि ब्राह्मण सम्पत्ति का अपहरण करने वाले राज्य को समिति का सहयोग नहीं मिलना चाहिए[16]। दूसरे स्थान पर राजा के लिए समिति के चिर सहयोग की शुभाकांक्षा प्रकट की गई है[17]।

राज्याभिषेक के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को आमन्त्रित किया जाता था ताकि वे महार्घनिधि की भाँति मनोनीत राजा की रक्षा करें। राजा की घोषणा इन शब्दों में की जाती थी- हे जनता ! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा है, किन्तु हम ब्राह्मणों का राजा सोम है (शतपथ ब्राह्मण 5/3/3/12, 5/4/2/3) इससे इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि धर्म जिसका प्रतिनिधि ब्राह्मण है, उस राजा या छत्र से ऊपर है, जिसका शासन जीवन के उन व्यवहारों और क्षेत्रों पर है जो धर्म के अन्तर्गत नहीं आते[18]।

(3) **महाकाव्यों में वर्णित राजनीति** - रामायण और महाभारत ये दो प्राचीन बड़े महाकाव्य है। इन दोनों के काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार महाभारत पातंजलि के महाभाव्य (ई. पू. दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था[19]। जैकोबी मूल रामायण की रचना 600 ई. पूर्व तथा मैक्डानल्ड 500 ई. पूर्व मानते हैं। मूल रामायण में प्रक्षेप जोड़े जाते रहे, फिर भी विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि रामायण का वर्तमान रूप 200 ई. तक बन गया था[20]। रामायण और महाभारत दोनों के आधार पर यहाँ राजनीति का विवेचन किया जायेगा, क्योंकि दोनों का विवेचन लगभग समान है।

प्रजा में मात्स्यन्याय का विनाश करने के लिए राजा की आवश्यकता हुई[21]। राजा का कार्य लोकरंजन करना है[22]। रक्षण, पालन और रंजन कार्य की समानता के कारण राजा और क्षत्रिय एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं[23]। प्रजा के योग, क्षेम, व्याधि, मरण और भय का मूल राजा ही है[24]। राजा के बिना लोक की स्थिति और सुख दोनों असम्भव है[25]। महाकाव्यों में वर्णित राजा निरंकुश नहीं है, उसे धर्म और नीति के अनुसार शासन चलाना होता है। अत्याचारी राजा अधिकारच्युत कर दिया जाता है। प्रजाओं का उत्पीड़न करने वाला राजा पागल कुत्ते की भाँति वध का पात्र है[26]। राजा ही योग्य व्यक्तियों की योग्य पदों पर नियुक्ति करता है। 'नारद के कृतास्ते वीर मन्त्रिण:' (सभा पर्व 5/16) से स्पष्ट है कि राजा ही मन्त्रियों का नियोजक था, मन्त्रीगण राजकृत् या राजकर्तार: नहीं थे[27]।

सामान्यतया राज्याधिकार वंशानुगत होता था। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र स्वत: राज्याधिकारी बन जाता था। परन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र के गम्भीर शारीरिक दोष हों तो उस अवस्था में वह राज्याधिकार से वंचित कर दिया जाता था। अन्धे धृतराष्ट्र का उदाहरण इस विषय में उल्लेखनीय है। कोढ़ी होने के कारण देवापि का सिंहासनाधिकार जाता रहा था और उसके स्थान पर शान्तनु राजा बनाया गया था[28]।

राजा को जनपद, कुल, जाति, श्रेणी और पूग इन संघीय संस्थाओं के धर्मों का आचार और नियमों का पालन आवश्यक था। महाभारत में गणसंसद संघीय शासन का उल्लेख आता है, जो उस समय प्रचलित है। कई ग्रामों का संयुक्त शासन भी होता था[29]। इसके अतिरिक्त राजतन्त्र प्रणाली भी प्रचलित थी।

रामायण, महाभारत से ज्ञात होता है कि वैदिक काल की सभा और समिति संस्थाओं का इस समय ह्रास हो गया था । डॉ. जायसवाल के अनुसार इनका स्थान पौर और जनपद संस्थाओं ने ले लिया था । डॉ. जायसवाल के मत का खण्डन डॉ. अल्टेकर ने किया है । उनके अनुसार रामायण में जो पौर जनपदा: श्रेष्ठा:[30] का उल्लेख हुआ है, उसका आशय पुर और जनपद के प्रमुख निवासियों से है, दो सभाओं के प्रतिनिधियों से नहीं है । राम को राज्याधिकारी बनाने का निर्णय दशरथ ने अपने सचिवों के साथ परामर्श करके किया था, किसी सभा के परामर्श से नहीं यदि पौर तथा जनपद दो सभायें होती तो वे राम का वनगमन भी रोक सकती थी[31] ।

(4) स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित राजनीति - स्मृति साहित्य बहुत विशाल है । यहाँ उसका समग्र अध्ययन सम्भव नहीं अत: मनुस्मृति और याज्ञवलय स्मृति इन दो प्रधान स्मृतियों के माध्यम से यहाँ राजनीति का प्रतिपादन किया जाता है ।

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्म का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ मानव के आदि पूर्वज मनु से भिन्न किसी व्यक्ति की रचना है । डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने अनेक प्रमाणों के आधार पर मनुस्मृति का रचनाकाल ई. पू. दूसरी शताब्दी से ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच माना है[32] । मनुस्मृति के अनुसार अराजक संसार में जब सभी लोगों में भय से खलबली मच गई तो भगवान् ने राजा बनाया[33] । इन्द्र, वायु, यम, अग्नि, वरुण, कुबेर, सूर्य और चन्द्रमा का थोड़ा अंश लेकर विधाता ने राजा की रचना की । इन्द्रादि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण राजा सब प्राणियों में श्रेष्ठ होता है । सूर्य के समान तेजस्वी राजा अपने राजतेज से सब प्राणियों के नेत्र और मन को अभिभूत कर लेता है, इस कारण कोई उसकी और ताक नहीं पाता। वह अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, यमराज, वरुण, कुबेर और इन्द्र का मूर्तरूप रहता है । राजा यदि बालक हो तो भी साधारण मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह मनुष्य के रूप में बहुत बड़ा देवता है । यदि कोई दु:साहसी मनुष्य आग में कूद पड़े तो जल जायेगा, किन्तु राजा रूप अग्नि कुपित हो जाय तो वह समस्त पशु और द्रव्य के साथ उसे जलाकर भस्म कर देता है । उसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु का निवास रहता है, क्योंकि राजा सर्वतेजमय है[34]। इस प्रकार मनुस्मृति में राजा को देवीय अंश के रूप में उपस्थित किया गया है ।

राजा को विनयवान् होना चाहिए, क्योंकि विनीत राजा का कभी विनाश नहीं होता है । राजा को चाहिए कि वह दिन रात इन्द्रियों पर विजय पाने की चेष्टा करता रहे[35], क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है । राजा दस कामजनित और आठ क्रोधजनित व्यसनों का प्रयत्नपूर्वक त्याग करें, क्योंकि कामजनित दोषों में आसक्त राजा धर्म और अर्थ से वंचित हो जाता है और क्रोधजनित व्यसनों में आसक्त होने से सदा प्राणसंकट बना रहता है । मृगया (शिकार), पाश क्रीड़ा, दिन में सोना, दूसरे के दोष कहना, स्त्रियों की आसक्ति, मदजनित मत्तता, वाद्य, नृत्य, गीत और वृथा पर्यटन ये दस कामजनित दोष कहे जाते हैं । चुगली, दु:साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, परधनहरण, वाक्पारुष्य (आक्रोश), और दण्डपारुष्य अर्थात् अत्यन्त ताड़नायें आठ प्रकार के क्रोधजनित दोष कहे जाते हैं[36] ।

मनुस्मृति में दण्ड की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा निर्मित मानी गई है[37] । दण्ड ही राजा, दण्ड ही पुरूष, दण्ड ही राजा का नेता और दण्ड ही शासनकर्ता रहता है, ऋषियों ने दण्ड को ही चारों

आश्रमों के धर्म का प्रतिभू कहा है । दण्ड ही प्रजा का शासन, रक्षण और अवेक्षण करता है, जब सब लोग सो जाते हैं, उस समय भी दण्ड जागता रहता है अतएव पंडित लोग दण्ड को ही धर्म का मूल कहते हैं राजा यदि दण्ड का भली भाँति विचारकर उपयोग करता है तो प्रजा सुखी होती है, अविचारपूर्वक उपयोग से सबका विनाश हो जाता है[38] । दण्डभय से ही लोग न्याय पथ में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि सर्वथा निर्दोष पुरुष संसार में दुर्लभ हैं । सब चराचर जगत् अपने योग्य भाग का उपभोग दण्ड के भय से ही कर पाता है[39] ।

राजा की पीढ़ी दर पीढ़ी से राजकर्मचारी, शास्त्रवित्, शूरवीर, युद्धकला में निपुण, सत्कुलीन और परीक्षित सात या आठ मंत्री (सचिव) रखना चाहिए[40] । प्रत्येक मंत्री का अभिप्राय अलग-अलग समझने के बाद मन्त्रियों के साथ राजा सम्मिलित रूप से सलाह करे । पश्चात् विवेचना करके अपना हितकारी सिद्धान्त निर्धारित करे[41] । बुद्धिमान, कार्यकुशल, न्याय से धन अर्जन करने वाले, एवं सुपरीक्षित अन्य मंत्रियों की भी राजा नियुक्ति करें। जितने मनुष्यों से अच्छी तरह काम चल सके उतने आलस्य शून्य, कार्य के उत्साही, अपने-अपने काम में निपुण और विद्वान मनुष्यों को (मंत्री) नियुक्त करे[42] ।

राजा सर्वशास्त्रविशारद, इंगित, आकार एवं चेष्टा को पहचान लेने वाले, शुद्धस्वभाव और अच्छे कुल में उत्पन्न मनुष्यों को दूत बनावे । सर्वजनप्रिय, कार्यदक्ष, देशकाल का ज्ञाता, विशुद्धस्वभाव, सुन्दर शरीर युक्त, भयरहित तथा वाग्मी दूत प्रशंसनीय माना जाता है । कोष और नगर विभाग राजा अपने हाथ में रखे । चतुर्विध सैन्य संचालन कार्य सेनापति के आधीन और सन्धि-विग्रह का कार्य दूत के आधीन रखना चाहिए । दूत को शत्रु राजा के कर्त्तव्य को उसके आधार और भावभंगी द्वारा समझना चाहिए तथा उसे क्षुब्ध, लुब्ध तथा अपमानित भृत्यवर्ग का अभिप्राय भी जानना चाहिए[43] । जैसे अपने दुर्ग में रहने वाले मृगादि को व्याघ्रादि का भय नहीं रहता, उसी प्रकार अपने किले में बैठे हुए राजा का शत्रु कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता । प्रत्येक राजा के पास किले का रहना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि दुर्ग के परकोटे पर बैठा हुआ एक यौद्धा बाहर के सौ सैनिकों से और सौ योद्धा एक हजार शत्रुपक्षीद सैनिकों से लड़ सकता है[44] । विजय के लिए प्रवृत्त राजा अपने सभी विरोधियों को साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों से वश में करे । यदि सामादि तीन उपायों से वे वश में न आयें तो दण्ड नीति द्वारा धीरे-धीरे उन्हें वश में लाए । साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार उपायों में राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए विद्वान लोग साम और दान की ही प्रशंसा करते है[45] । मंत्री के अतिरिक्त और कोई मनुष्य जिस राजा की मंत्रणा का रहस्य नहीं जान पाता वह ससागरा पृथ्वी का अधिपति होता है[46] । हीनबल होते हुए भी परिणामस्वरूप वृद्धियुक्त स्थिरमित्र मिलने से राजा की राजशक्ति जिस प्रकार बढ़ती है उतनी बहुमूल्य रत्न और भूमि सम्पत्ति प्राप्त होने पर नहीं बढ़ती[47] इस प्रकार मनुस्मृति में राजधर्म का विपुल विवेचन है ।

याज्ञवलय स्मृति के राजधर्म प्रकरण में राजनीति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है । याज्ञवलय स्मृति के समय की प्राचीनतम सीमा बेवर के अनुसार दूसरी शताब्दी ईस्वी और निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी के बाद का समय माना है । प्रौ. काछो के अनुसार याज्ञवलय स्मृति के समय को ईसा पूर्व पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच कहीं रखा जा सकता है[48] ।

याज्ञवल्य स्मृति के अनुसार राजा को महान, उत्साही, अत्यन्त धन देने वाला, कृतज्ञ, वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत, सत्त्वसम्पन्न, कुलीन सत्यवादी, पवित्र, आलस्य रहित, स्मृतिवान्, सद्गुणी दूसरे का दोष न कहने वाला, धार्मिक, व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य को

छिपाने में चतुर, अपने राज्य के प्रवेशद्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी, दण्ड नीति एवं वार्ता विद्या में प्रवीण होना चाहिए। वह ज्ञानी, वंश परम्परा से चले आने वाले, धैर्यवान् एवं पवित्र पुरुषों को मंत्री बनाये, उनके साथ राज्य के कार्यों का विचार करे, फिर ब्राह्मण से परामर्श करे और स्वयं कर्त्तव्य का निश्चय करे[49]। राजा रमणीक, पशुओं की वृद्धि के योग्य जीवन निर्वाह में सहायता देने वाले एवं वनप्राय देश में निवास करे। उस स्थान पर परिजनों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिए दुर्ग बनवाये। वह तत्तत् (धर्म, अर्थ, काम आदि) कर्मों में, आय-कर्म और व्यय कर्म में योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यक्षों को नियुक्त करे[50]। राजा को मैं तुम्हारा ही हूँ, ऐसा कहने वाले, नपुंसक, शस्त्रहीन, दूसरे के साथ युद्ध में संलग्न (युद्ध से) निवृत्त और युद्ध देखने के लिए आए हुए व्यक्तियों को नहीं मारना चाहिए। वह (पुर और अपनी) रक्षा करके स्वयं आय और व्यय का लेखा देखे, इसके बाद व्यवहार (मुकदमें) देखे तब स्नान करके समय से भोजन करें, तद्नन्तर (स्वर्ण आदि लाने के लिए) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाये गये स्वर्ण को (देखकर) भण्डार में रखे, पश्चात् गुप्तचरों से बात करे और फिर मंत्री के साथ बैठकर दूतों को निर्दिष्ट कार्य करने के लिए भेजे। (अपराह्न में) इच्छानुसार (अन्तःपुर में) विहार करे अथवा मन्त्रियों के साथ बैठे। पुनः अपनी सेनाओं का निरीक्षण करके सेनापतियों के साथ विचारविमर्श करें। सांयकाल के समय राजा सन्ध्योपासना करे गुप्तचरों के रहस्यमय वचनों को सुने। अनन्तरगीत और नृत्य का आनन्द ले, भोजन और स्वाध्याय करके। स्वाध्याय के पश्चात् सोए। सवेरे जागकर अपनी बुद्धि से शास्त्रों का और किए जाने वाले सभी कार्यों का चिन्तन करे, पश्चात् गुप्तचरों को आदर के साथ अपने मन्त्रियों आदि के निकट अथवा दूसरे राजाओं के समीप भेजे। राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील, अनुराग रखने वालों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं प्रजा के प्रति पिता के समान (दयालु एवं हितकारी) होना चाहिए। न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठवाँ भाग प्राप्त करता है, क्योंकि भूमि आदि सभी प्रकार के दान से प्रजापालन का फल अधिक होता है। राजा लुटेरों, चोरों, बुरा आचरण करने वाले एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीड़ित प्रजा की रक्षा करे और कायस्थों से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करे। राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ चोरी आदि पाप करती है, उसमें से आधा पाप राजा का हो जाता है, क्योंकि वह रक्षा करने के लिए ही प्रजाओं से कर लेता है। राजकार्य में अधिकार युक्त पदों पर नियुक्त व्यक्तियों का आचरण भली भाँति गुप्तचरों द्वारा जानकर राजा उत्तम चरित्र वालों का सम्मान करे और विपरीत आचरण करने वालों को दण्ड दे। जो घूस लेकर जीविका चलाते हैं, उनका धन छीनकर देश से निकाल देना चाहिए[51]। राजकार्य का मुख्य आधार मन्त्र (गुप्त परामर्श) है, अतएव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखना चाहिए कि राजा के कर्मों के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके। सीमा से सटे हुए राज्य, उसके बाद के राज्य और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करने वाले राजा क्रमशः शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं, इन राजमण्डलों पर क्रमशः ध्यान रखना चाहिए और इनके साथ साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए। साम, दाम, भेद और दण्ड इनका उचित रूप से प्रयोग करने पर सफलता मिलती है और कोई उपाय न चलने पर दण्ड का आश्रय लिया जाता है। सन्धि विग्रह, यान, उपेक्षामान, आश्रय तथा द्वैधाभाव गुणों का राजा यथोचित अवलम्बन करें। जब शत्रु का राज्य अन्न आदि से भरा हो, शत्रु सेना दुर्बल हो और अपनी सेना के वाहन तथा सैनिक प्रसन्न हों, तब आक्रमण करना चाहिए[52]। राजा को अपराध, देश, समय, शक्ति, आदि कार्य और धन का पता लगाकर ही दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए[53]।

(5) राजनीति प्रधान ग्रन्थों में वर्णित राजनीति – राजनीति प्रधान ग्रन्थों से तात्पर्य ऐसे ग्रन्थों से है, जिनमें प्रधान रूप से राजनीति का खुलकर विवेचन किया गया है। ऐसे ग्रन्थों की परम्परा

में कौटिलीय अर्थशास्त्रम, शुक्रनीतिसार तथा कामन्दकीय नीतिसार का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र

भारतीय राजनीति का प्राचीन स्वरूप स्पष्ट तथा सर्वप्रथम कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यक्त किया गया है। कौटिल्य ने स्वयं अपने अर्थशास्त्र में लगभग अठारह उन्नीस अर्थशास्त्रविद् आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनसे विचार ग्रहण कर उन्होंने अपने अद्भुत ग्रन्थ का निर्माण किया[54] । इससे सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र का निर्माण बहुत पहले से होने लगा था। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार ने कौटिल्य अर्थशास्त्र की प्रस्तावना में कहा है कि वृहद् हिन्दू जाति के राजनीति विधयक साहित्य का निर्माण लगभग 650 ई. पूर्व में हो चुका था[55] । इतना होने पर भी वर्तमान उपलब्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थों में कौटिल्य का अर्थशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। अर्थशास्त्र के अन्त: साक्ष्य[56] एवं बहि: साक्ष्य[57] दोनों से ही सिद्ध होता है कि इसके रचियता मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु एवं प्रधान मन्त्री कौटिल्य थे और यह ग्रन्थ मौर्यकाल में रचा गया। चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल 321 अथवा 323 ई. पूर्व आरम्भ होता है, अत: अर्थशास्त्र का रचनाकाल भी इसी तिथि के समीप मानना न्यायसंगत है[58] ।

कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्यायें मानी है[59] । उन्होंने आन्वीक्षिकी (सांख्य, योग और लोकायत) त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) और वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) विद्याओं का मूल दण्डनीति को बतलाया है। शास्त्रविहित उचित रीति से प्रयुक्त दण्ड प्रजा के योग और क्षेम का साधक होता है[60]। विद्या के द्वारा विनीत जो राजा प्रजा के शासन तथा चिन्ता में तत्पर रहता है, वह पृथ्वी का चिरकाल तक निर्बाध शासन करता है[61] । विद्या और विनय का हेतु इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है । अत: काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए अथवा शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं । सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है । शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाला इन्द्रियलोलुप राजा सारी पृथ्वी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र नष्ट हो जाता है[62] । इसलिए (राजा) काम, क्रोधादि छह शत्रुओं का सर्वथा परित्याग कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे, विद्वान पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे , गुप्तचरों एवं स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र के वृत्तान्त अवगत करे, राजकीय नियमों द्वारा अपने अपने धर्म पर दृढ़ बने रहने के लिए प्रजा पर नियन्त्रण रखे, शिक्षा के प्रचार, प्रसार से प्रजा को विनम्र और शिक्षित बनाए, प्रजाजनों को धन-सम्मान प्रदानकर अपनी लोकप्रियता को बनाए रखे तथा दूसरों का हित करने में उत्सुक रहे । इन्द्रियों को वश में रखता हुआ राजा पराई स्त्री, पराया धन और हिंसावृत्ति का परित्याग कर दे । वह कुसमय शयन करना, चंचलता, झूठ बोलना, अविनित वृत्ति बनाए रखना, इस प्रकार के आचरणों और इस प्रकार का आचरण करने वाले लोगों की संगति को छोड़ दे तथा अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग कर दे । धर्म और अर्थ का जिससे विरोध न हो ऐसे काम का सेवन करे, सर्वथा सुखरहित न हो । धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करे, क्योंकि इनमें से एक का भी अत्यधिक रूप से सेवन किया गया तो उससे अपने आपको और दूसरे को पीड़ा होगी[63] ।

राजा विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्ति करे[64] । स्वदेशोत्पन्न, सत्कुलीन अवगुण शून्य, शिल्पकलाओं का ज्ञाता, विद्वान, बुद्धिमान्, स्मरण शक्ति सम्पन्न, चतुर, वा-पटु, प्रगल्भ (दबंग), प्रतिवाद तथा प्रतीकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, मित्रता के योग्य, दृढ़, स्वामिभक्त, सुशील, समर्थ,

स्वस्थ, धैर्यवान, निरभिमानी, स्थिरप्रवृति, प्रियदर्शी और द्वेषवृत्तिरहित पुरुष प्रधान मंत्री पद के योग्य है । जिनमें इसके एक चौथाई या आधी योग्यतायें हों उन्हें मध्यम या निकृष्ट मंत्री समझना चाहिए । मंत्री नियुक्त करने से पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आर्य पुरुषों के द्वारा उनके निवास स्थान तथा आर्थिक स्थिति का, सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रप्रवेश का, नये-नये कार्य में नियुक्त कर उनकी बुद्धि, स्मृति तथा चतुराई का, व्याख्यानों एवं सभाओं के माध्यम से उनकी वाक्पटुता, प्रगल्यता एवं प्रतिभा का, आपतियों से उनके उत्साह, प्रभाव तथा सहिष्णुता का, व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति का, सहवासियों एवं पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति का पता लगाए और उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित प्रकृति की परीक्षा स्वयं राजा करें[65] ।

राजा के मित्र ऐसे होने चाहिए जो वंश परम्परागत हों, स्थायी हों, अपने वंश में रह सकें, जिससे विरोध की सम्भावना न हो तथा जो समय आने पर सहायता कर सके[66]।

सारे कार्य कोष पर निर्भर है । इसलिए राजा को चाहिए कि सबसे पहिले वह कोष पर ध्यान दे । राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाना, राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान रखना, चोरों पर निगरानी रखना, राजकीय अधिकारियों को रिश्वत लेने से रोकना, सभी प्रकार के अन्नोत्पादन को प्रोत्साहित करना, जल-स्थल में होने वाली प्रत्येक व्यापार योग्य वस्तुओं को बढ़ाना, अग्नि आदि के भय से राज्य की रक्षा करना, ठीक समय पर यथोचित कर वसूल करना और हिरण्य आदि की भेंट लेना ये सब कोषवृद्धि के उपाय है[67] ।

जनपद की स्थापना ऐसी होनी चाहिए कि जिसके बीच में तथा सीमान्तों में किले बने हों, जिसमें यथेष्ट अन्न पैदा होता हो, जिसमें विपत्ति के समय वन पर्वतों के द्वारा आत्मरक्षा की जा सके, जिसमें थोड़े क्रम से ही अधिक धान्य पैदा हो सके, जिसमें शत्रुराजा के विरोधियों की संख्या अधिक हो, जिसके पास पड़ौस के राजा दुर्बल हों, जो कीचड़, कंकड़, पत्थर, ऊसर भूमि, चोर जुआरी, छोटे-छोटे शत्रु, हिंसक जानवर एवं घने जंगलों से रहित हो, जो नदी तालाबों से सज्जित हो, जिसमें खेती, धान, लकड़ियों तथा हाथियों के जंगल हों, जो गायों के लिए हितकर हो, जिसका जलवायु अच्छा हो, जो लुब्धकों (शिकारियों) से रहित हो, जिसमें गाय, भैंस, नदी, नहर, जल, थल आदि सभी उपयोगी वस्तुयें हों, जिसमें बहुमूल्य वस्तुओं का विक्रय हों, जो दण्ड तथा कर को सहन कर सके, जहाँ के किसान बड़े मेहनती हों, जहाँ के मालिक समझदार हों, जहाँ नीचवर्ण की आबादी अधिक हो और जहाँ प्रेमी तथा शुद्ध स्वभाव के लोग बसते हों[68] ।

जन पद सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाए। दुर्ग चार प्रकार के हैं - (1) ओदक (2) पार्वत (3) धान्वन (4) वनदुर्ग चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थल प्रदेश ओदक दुर्ग कहलाता है । बड़ी-बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग पार्वत दुर्ग कहलाता है । जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वन दुर्ग है । चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काँटेदार समान झाड़ियों से परिवृत दुर्ग वनदुर्ग कहलाता है । इनमें औदक तथा पार्वत दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाए जाते हैं । धान्न वन और वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है[69] ।

सेना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें वंशानुगत, स्थायी एवं वश में रहने वाले सैनिक भर्ती हों, जिनके स्त्री पुत्र राजवृत्ति को पाकर पूरी तरह सन्तुष्ट हों, युद्ध के समय जिसको आवश्यक सामग्री

से युक्त किया जा सके, जो कभी भी हार न खाता हो, दु:ख को सहने वाला हो, युद्ध कौशलों से परिचित हों, हर तरह के युद्ध में प्रवीण हों, राजा के लाभ तथा हानि में भागीदार हो और जिसमें क्षत्रियों की अधिकता हो। इन गुणों से युक्त सेना दण्ड सम्पन्न कही गई है[70]।

उपर्युक्त राज्यांगों के अतिरिक्त कौटिल्य ने दूतों एवं गुप्तचरों का वर्णन किया है तथा न्याय व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। शासन और धर्म के क्षेत्र में कार्यरत प्रमुखत विभागाध्यक्षों की सूचि डॉ. जायसवाल ने अपने ग्रन्थ हिन्दु राजतंत्र (भाग 2 पृ. 261-262) में इस प्रकार दी है -

(1) मंत्री (2) पुरोहित
(3) सेनापति (4) युवराज
(5) दोवारिक (6) अंतर्वंशिक - राजा के गृहकार्यों का प्रधान अधिकारी
(7) प्रशास्ता - कारागाराध्यक्ष (8) समाहर्ता - माल विभाग का अधिकारी
(9) सन्निधाता - कोषाध्यक्ष
(10) प्रदेष्टा - राजकीय आज्ञा का प्रचार करने वाला अधिकारी
(11) नायक - सैनिकों का प्रधान अधिकारी
(12) पौन - नगरशासक (13) व्यावहारिक - न्यायाधीश
(14) कार्मान्तिक - खानों का अध्यक्ष (15) सम्य - मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष
(16) दण्डपाल - सैनाधिकारी (17) अंतपाल - सीमान्ताधिकारी
(18) दुर्गपाल -

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त कौटिल्य ने षाड्गुण्य का भी सुन्दर विवेचन किया है।

शुक्रनीतिसार

प्राचीन राजशास्त्र के प्रणेता शुक्राचार्य के नाम पर प्रचलित शुक्रनीति सार में राजनीति सम्बन्धी विविध विषयों का विशद्विवेचन मिलता है। शुक्र राज्यविधि का आधार धर्मशास्त्र मानते हैं और अर्थशास्त्र का प्रयोग धर्मशास्त्र से अविरुद्ध रूप में ही स्वीकार करते हैं[71]। उनके अनुसार न्यायपालिका वह है जहाँ अर्थशास्त्र का प्रयोग धर्मशास्त्र के अनुसार होता है[72]। राजशासन, आचार, परम्परा आदि को भी वे राज्यविधि का आधार मानते है[73]। उनके अनुसार राजा न्याय में शास्त्रदृष्ट, जाति, क्षेत्र, श्रेणी, कुटुम्ब एवं जनपद धर्म के साथ समन्वय करके निर्णय करे[74]। देश विभिन्न व्यवहारों में विभक्त है, सबका समन्वय समान रूप से नहीं किया जा सकता। शुक्र एक ओर धर्मशास्त्र और दूसरी ओर जनमत आचार एवं परम्परा को राज्यविधि का स्रोत मानते हैं, किन्तु वे किसी भी स्थिति में क्षेत्रीय एवं/जातीय आचार की अवहेलना नहीं करना चाहते। इस प्रकार इस काल तक राजशक्ति के विकास होने पर भी राज्यविधि का आधार राजाज्ञा नहीं हो पायी, उसका नियन्त्रण सामाजिक शक्तियाँ करती रहीं[75]।

शुक्र ने राज्य प्रशासन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सन्तरी सड़क पर पहरा देते हुए चोरों से जनता की रक्षा करें। जनता को चाहिए कि वह दास, भृत्य, स्त्री, शिष्य पुत्र को न पीटे और न गाली, धातु घी, मधु, दूध चर्बी और आटे में मिलावट न करे, तोल, सिक्का आदि का गलत प्रयोग न हो, राजकार्य में राजा तथा राजकर्मचारियों को घूस न दे, चोरों दुश्चरित्रों, राजद्रोही आदि को आश्रय न दे, इत्यादि[76]।

शुक्र के अनुसार दण्ड वह है, जिससे असद् आचरण की समाप्ति हो[77], फलतः अतिदण्ड

के स्थान पर अल्पदण्ड आवश्यक है[78] । अपराध के वातावरण का दायित्व काल एवं प्रजा पर नहीं, राजा पर है[79] । अपराध की मनोवृत्तिजब तक समाप्त नहीं हो जाती तब तक अपराध समाप्त नहीं हो सकता, अतएव दण्डविधान मनोवृत्ति और आदत पर विशेष ध्यान देता है । दमन दण्ड का साधन है, सुधार साध्य है । दण्ड वही है, जिससे अपराध समाप्त किया जा सके । दमन के माध्यम से पशु भी सुधारे और निमन्त्रित किए जाते हैं[80] । सज्जन व्यक्ति भी दुष्टों के संसर्ग से दुष्ट हो जाते हैं, उन्हें दण्ड की शिक्षा के माध्यम से सन्मार्ग पर लाया जाना चाहिए[81] । दण्ड का उद्देश्य चरित्र, नैतिकता तथा मानवीय गुणों का विकास करना है । जो कुछ सोचा जाता है, वह परिस्थिति विशेष में मूर्तरूप धारण कर लेता है। राजदण्ड के माध्यम से व्यक्ति उचित मार्ग पर लाया जाता है[82] ।

कामन्दकीय नीतिसार

आचार्य कामन्दक ने 400 ई. के लगभग एक पद्यमय ग्रंथ नीतिसार लिखा, जो कि आचार्य शुक्रकृत नीतिसार का संस्करण होने के साथ-साथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र को भी आधार मानता है । कामन्दक ने कौटिल्य का निम्नलिखित रूप से स्मरण किया है-

"जिसने अर्थशास्त्र रूप महासमुद्र से नीतिशास्त्र रूप अमृत निकाला उस असीमगुण सम्पन्न विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को नमस्कार है[83] ।

कामन्दक कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परम्परा के पालन के साथ स्मृतियों का भी समन्वय करते हैं। उनके अनुसार समाज (वर्ण) अपनी विधियों (धर्म) के पालन मे ही नाश से बच सकता है । राज्य की यही आवश्यकता है कि वह सामाजिक विधियों के पालन की व्यवस्था करे । इस प्रकार कामन्दक ने सामाजिक विधि को ऊपर मानते हुए उसके लिए राज्य की आवश्यकता स्वीकार की । विधि को धर्मशास्त्रों पर आधारित मानते हुए उनका कहना है कि आर्यों का व्यवहार विधि (धर्म) और उनका निषेध अधर्म है। इस प्रकार कामन्दक ने आपस्तम्ब, मनु एवं अर्थशास्त्र के समन्वय पर सामाजिक विधि की सर्वोच्चता प्रस्तुत की । कामन्दक के समय में देश में बाह्य आक्रमण होने लगे थे, उसका प्रभाव सामाजिक नैतिकता पर भी पड़ा । ऐसे समय पूर्व परम्परा प्राप्त नैतिकता की सुरक्षा की आवश्यकता थी । कामन्दक ने इसके लिए राज्य को माध्यम बनाया। सामाजिक नैतिकता और राज्य के सम्बन्ध निर्धारण में कामन्दक कौटिल्य का मार्गग्रहण करते हैं । उसके अनुसार असामाजिक नैतिकता के उन्मूलन में राज्य सभी प्रकार की नीतियों का प्रयोग कर सकता है । इस प्रकार राज्य एवं समाज के हित के प्रतिकूल जाने वाली शक्ति का उन्मूलन राज्य अनैतिक माध्यमों से भी कर सकता है और वह राजधर्म है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इस प्रकार के विविध कूट प्रयोगों को स्थान दिया गया । इस प्रकार कामन्दक राज्य के व्यवहार में अर्थशास्त्र की परम्परा स्वीकार करते हैं और सामाजिक विधि, नैतिकता एवं राज्य के आधार में स्मृतियों की । लेकिन सामाजिक विधि एवं राज्य के सम्बन्ध में उस काल की स्थिति का प्रभाव पड़ता है, जिसमें सामाजिक विधि की रक्षा का एकमात्र माध्यम राज्य रह जाता है[84] ।

कामन्दक के अनुसार स्वामी, मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष, सेना, मित्रवर्ग इन सबका नाम राज्य है[85] । बलपूर्वक सत्वगुण का अवलम्बन कर बुद्धि से निर्गम के उपाय को देखता हुआ राजा निरन्तर जागता हुआ सा इन सातों अंगों के लाभ का यत्न करे[86] । कुलीनता, वृद्ध जनों की सेवा, उत्साह, स्थूललक्षिता, चित्त का ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रगल्भता, सत्यवादिता इत्यादि राजा के गुण अनेक गुण

हैं[67] । इन सब गुणों से हीन होने पर भी जो प्रतापी है वही राजा है । प्रतापवान् राजा ही शत्रुओं को नष्ट कर सकता है, जैसे सिंह मृगों को[68]। जो राजा व्यसनग्रस्त न हो, वही राज्य के व्यसन दूर कर सकता है अन्यथा वह वृहत् राज्य के व्यसन दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता[69] । जिस राजा के शास्त्ररूपी नेत्र नहीं हैं, वह राजा अन्धा कहा जाता है जिसने मद से सन्मार्ग को बिगाड़ दिया है ऐसा नेत्रों वाला अन्धा, अन्धा नहीं है[70] ।

साम, दाम, दण्ड, भेद, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल ये सात जय के उपाय है[71]। नीति के जानने वाले को ये सम्पूर्ण उपाय शत्रु की सेना व अपने द्रोहियों में प्रयोग करना चाहिए। यदि इन उपायों का प्रयोग किए बिना प्रयाण किया जाय तो वह चेष्टा अन्धे के समान होती है[72] । जैसी इच्छा हो वैसा रूप धारण करना, अस्त्र, शस्त्र, काला जल वर्षाना, अंधकार में लीन हो जाना यह सब मानुषी माया है[73] । अन्याय, व्यसन तथा युद्ध में प्रवृत्त हुए का निवारण न करना उपेक्षा है[74]। मैघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुतदर्शन तथा दूर स्थित ध्वजायुक्तसेना का दर्शन होना, छिन्न भिन्न और संस्कृत वस्तु का दिखाना यह इन्द्रजाल विद्या शत्रुओं को भय दिखाने के लिए कल्पित की जाती है[75]। इस प्रकार के राजनीतिपरक विविध कथनों से कामन्दकीय नीतिसार ओतप्रोत है ।

फुटनोट

1. डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ. 64
2. ऋग्वेद दशम् मण्डल सूक्त 179 ऋचा 2
3. ऋग्वेद प्रथम मण्डल सूक्त 44 ऋचा 10
4. ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल सूक्त 4 ऋचा 3
5. ऋग्वेद मण्डल 1 सूक्त 26 ऋचा 3
6. ऋग्वेद द्वितीय मण्डल सूक्त 26 ऋचा 3
7. ऋग्वेद दशम् मण्डल सूक्त 27 ऋचा 5
8 ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 17 ऋचा
9. ऋग्वेद मण्डल 9 सूक्त 7 ऋचा 5
10 पंडित विश्वेश्वलाथ रेड : ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक पृ 212, 213
11. डॉ. राजाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता पृ. 82
12. वही पृ. 83
13. बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. 740-741
14. अथर्ववेद 7/12/1
15. वही 7/12/2
16. वही 5/19/15
17. वही 6/88/3
18. डॉ. राधामुकुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता पृ. 102
19. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता पृ. 140
20 डॉ. विमलचन्द पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ. 206
21. महाभारत शान्तिपर्व 59/16-21, 68/8-16
22. वही 56/3-6, 57/11
23. वही आरण्यक 186/90
24. वही शान्तिपर्व 139/9
25. वही आदिपर्व 57/5-6 शान्ति 63/26
26. हिन्दू सभ्यता पृ. 141-142
27. डॉ. कामेश्वर प्रसाद मित्र : महाभारत में लोकल्याण की राजकीय योजनायें पृ. 67
28. वही पृ. 209
29. हिन्दू सभ्यता पृ. 142
30. रामायण 2/14/40
31. डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ. 209-210
32. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पृ. 46-47
33. मनुस्मृति 7/3
34. मनुस्मृति 7/4-11

35. वही 7/38
36. वही 7/43-47
37. वही 7/14
38. वही 7/17-19
39 वही 7/22
40. मनुस्मृति 7/53
41. वही 7/56
42. वही 7/60-61
43. वही 7/63-67
44. वही 7/73-74
45. वही 7/107-109
46. मनुस्मृति 7/148
47. वही 7/208
48. यज्ञवलक्य स्मृति (हिन्दी व्याख्या - उमेशचन्द्र पाण्डेय) प्रस्तावना (ले. श्रीनारायण मिश्र) पृ. 30-31
49. याज्ञवलक्यस्मृति 1/309-312
50. वही 1/321-322
51. याज्ञवलक्यस्मृति 1/326-339
52. याज्ञवलक्यस्मृति 1/345-348
53. वही 1/368
54. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् - अनु. वाचस्पति गैरौला (भूमिका) पृ. 66
55. वही पृ. 65
56. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 15/1
57. कामन्दकीय नीतिसार 1/6
58. एम. एल. शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ. 7
59. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 1/1/1
60. वही 1/2/4
61. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 1/2/4
62. वही 1/3/5
63. वही 1/3/6
64. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 1/3/7
65. वही 1/4/8
66. वही 6/96/1
67. वही 2/48/8
68. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 6/96/1
69. वही 2/19/3
70. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 6/96/1
71. शुक्रनीतिसार 4/52, 4/785
72. वही 4/565
73. वही 3/32
74. वही 4/568-70
75. हरिहरनाथ त्रिपाठी : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका पृ. 88-89
76. शुक्रनीतिसार 1/293-311
77. वही 4/40
78. वही 4/49
79. युगानांन प्रजानां दौष: किन्तु नृपस्य हि। वही 4/56
80. शुक्रनीतिसार पृ. 130, 131, 136 (विनयकुमार सरकार का अंग्रेजी अनुवाद)
81. शुक्र 4/1/110
82. शुक्रनीतिसार पृ. 130, 131, 136 (विनयकुमार सरकार का अंग्रेजी अनुवाद)
83. कामन्दकीयनीतिसार: 1/6
84. हरिहरनाथ त्रिपाठी : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायापलिका पृ. 81-82
85. कामन्दकीय नीतिसार 1/16
86. वही 1/17
87. वही 8/7-11
88. वही 8/12
89. वही 4/2
90. वही 14/3
91. वही 17/3
92. वही 17/63
93. वही 17/53
94. वही 17/55
95. वही 17/59

❑❑❑

द्वितीय अध्याय

सातवीं से दशवीं शताब्दी तक के प्रमुख जैन राजनैतिक विचारक और उनका योगदान

रविषेण

आचार्य रविषेण अठारह हजार अनुष्टुप श्लोक प्रमाण पद्मचरित नामक संस्कृत जैन कथा साहित्य के आद्य ग्रंथ के प्रणेता हैं। विक्रम संवत् 734 (667 ई.) में पद्म-चरित की रचना पूर्ण की, ऐसा ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने स्वयं लिखा है। पद्मचरित का प्रमुख प्रतिपाद्य रामकथा है, किन्तु प्रसङ्गानुसार राजनीतिक विचार भी प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए प्रजापालन के ही प्रसङ्ग को लें। प्रजापालन करते समय राजा सदाचार की ओर विशेष ध्यान देता था क्योंकि राजा जैसा कार्य करता है, प्रजा भी उसी का अनुसरण करती है[1]। जिस समय प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा राम को ज्ञात हुआ कि चारों ओर यह चर्चा है कि राजा दशरथ के पुत्र राम रावण द्वारा हरण की गई सीता को वापिस ले आए हैं[2]। उस समय उन्हें महान् दुख हुआ और कदाचित प्रजा बुरे मार्ग पर न चलने लगे यह सोचकर उन्होंने सीता का परित्याग कर दिया। कुल की प्रतिष्ठा पर राजा लोग अधिक ध्यान देते थे। सीता का परित्याग करते समय राम लक्ष्मण से कहते हैं कि हे भाई ! चन्द्रमा के समान निर्मल कुल मुझे पाकर अकीर्ति रूपी मेघ की रेखा से आवृत न हो जाय, इसीलिए मैं यत्न कर रहा हूँ[3]। मेरा यह महायोग्य, प्रकाशमान, अत्यन्त निर्मल एवं उज्जवल कुल जब तक कलङ्कित नहीं होता है, तब तक शीघ्र ही इसका उपाय करो। जनता के सुख के लिये जो अपने आपको अर्पित कर सकता है, ऐसा मैं निर्दोष एवं शील से सुशोभित सीता को छोड़ सकता हूँ, परन्तु कीर्ति को नष्ट नहीं होने दूंगा[4]। पिता के समान न्यायवत्सल हो-प्रजा की अच्छी तरह रक्षा करना[5], विचारपूर्वक कार्य करना[6], दुष्ट मनुष्य को कुछ देकर वश में करना, आत्मीय जनों को प्रेम दिखलाकर अनुकूल रखना, शत्रु को उत्तमशील अर्थात् निर्दोष आचरण से वश में करना, मित्र को सद्भावपूर्वक की गई सेवाओं से अनुकूल रखना[7], क्षमा से क्रोध को, मृदुता से मान को, आर्जव से माया को और धैर्य से लोभ को वश करना[8] राजा का धर्म माना जाता था।

पद्मचरित में अनेक युद्धों का वर्णन है। इन युद्धों के मूल कारण प्रमुखतः चार थे -

1. श्रेष्ठता का प्रदर्शन।
2. कन्या।
3. साम्राज्य विस्तार।
4. स्वाभिमान की रक्षा।

प्राचीन काल में 'वीरभोग्या वसुन्धरा' का सिद्धान्त प्रचलित था। जो शासन की अवहेलना करते थे या आज्ञा नहीं मानते थे ऐसे राजाओं के विरूद्ध दूसरे राजा जो अपने आप को श्रेष्ठ मानते थे, युद्ध छेड़ दिया करते थे। राजा, माली, वेश्या, वाहन, विमान, कन्या, वस्त्र और आभूषण आदि जो-जो श्रेष्ठ वस्तु (दूसरों के यहाँ) गुप्तचरों से मालूम करता था, उसे शीघ्र ही बलात् अपने यहाँ बुलवा लेता था। वह बल, विद्या विभूति आदि में अपने आपको ही श्रेष्ठ मानता था[9]। इन्द्र का आश्रय पाकर जब विद्याधर राजा माली की आज्ञा भङ्ग करने लगे तब वह भाई तथा किष्किन्ध के पुत्रों के साथ युद्ध करने के लिये विजयार्द्धगिरि की ओर चला[10]।

प्राचीन काल में अनेक युद्धों का कारण स्त्री रही है। पद्मचरित में वर्णित राम रावण का युद्ध इसका बड़ा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक उदाहरण यहाँ मिलते हैं। राजा शक्रधनु की कन्या जयचन्द्रा का विवाह जब हरिषेण के साथ हुआ तब इस कन्या ने हम लोगों को छोड़कर भूमिगोचरी पुरुष ग्रहण किया है, ऐसा विचारकर कन्या के मामा के लड़के गंगाधर और महीधर बहुत ही क्रुद्ध हुये[11]। बाद में युद्ध हुआ, जिसमें हरिषेण विजयी हुआ। इसी प्रकार केकेयी ने जब दशरथ के गले में वरमाला डाली तब अन्य राजाओं के साथ दशरथ का युद्ध हुआ[12]।

साम्राज्य विस्तार की अभिलाषा के कारण राजा लोग अनेक युद्ध लड़ा करते थे। लक्ष्मण ने समस्त पृथ्वी को वश में कर नारायण पद प्राप्त किया था[13]। सगर चक्रवर्ती छह खंड का अधिपति था तथा समस्त राजा उसकी आज्ञा मानते थे[14]। इस प्रकार साम्राज्य विस्तार की प्रवृत्ति अधिकांश बलशाली राजाओं में दिखाई देती है। इसके कारण अनिवार्य रूप से युद्ध हुआ करते थे।

कभी-कभी स्वाभिमान की रक्षा के लिये भी युद्ध होते थे। चक्ररत्न के अहंकार से चूर जब भरत ने बाहुबलि पर आक्रमण किया तब मैं और भरत एक ही पिता के पुत्र हैं, इस स्वाभिमान के कारण उसने भरत के साथ युद्ध किया और दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध तथा जलयुद्ध में परास्त कर अन्त में विरक्ति के कारण दीक्षा ले ली[15]।

जटासिंह नन्दि

जटासिंह नन्दि ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति वरांगचरित में अपना कोई परिचयादि नहीं दिया है, केवल उत्तरवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों ने उनके काल को जानने की चेष्टा की है। जटासिंह नन्दि के समय की पूर्वसीमा बतलाना विद्वानों के लिये सहज नहीं है। उत्तरवर्ती सीमा सातवीं शताब्दी तक निर्धारित होती है, क्योंकि आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन ने सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र और शिवकोटि के बाद जटाचार्य का उल्लेख किया है[16]। जटासिंहनन्दि अन्य विषयों के साथ राजनीति के भी अच्छे विद्वान थे, उनके काव्य में भी राजनीति सम्बन्धी जानकारी यत्र तत्र मिलती है। उदाहरणार्थ राज शासन के विषय में वे कहते हैं - राजा का शासन इतना प्रचण्ड हो कि लोग उसके जनपद या राजधानी में चारों वर्णों या आश्रमो की मर्यादाओं को लाँघने का साहस न करें। सब धर्मों के अनुयायी अपने-अपने शास्त्रों के अनुसार आचरण करें। बालक, वृद्ध, अज्ञ तथा विद्वान सभी अपने कर्त्तव्यों का पालन करें[17]। यदि कोई पुरुष मन से भी बुरा करने का विचार लाये या विरुद्ध कार्य करे तो वह उसके राज्य में एक क्षण भी ठहरने का साहस न करे। वह इतना भयभीत हो जाये कि अपने को इधर-उधर छिपाता फिरे ताकि भूख, प्यास की वेदना से उसका पेट, गाल और आँखें धस जाँय तथा दुर्बलता और थकान से उसका पृष्ठदण्ड झुक जाय[18]। राजा का शासन इतना अधिक प्रभावमय हो कि शत्रु उसकी आज्ञा का उल्लंघन न करें। उसके सब कार्य अपने पराक्रम के बल पर सफल हो जाये। समस्त वसुन्धरा की रक्षा करता हुआ वह इन्द्र के समान मालूम दे[19]। जब कोई शत्रु उसके सामने सिर उठाये तो वह अपनी उत्साह शक्ति, पराक्रम, धैर्य तथा पौरुष से युक्त हो जाये, किन्तु यही राजा जब सच्चे गुरुओं, मातृत्व के कारण आदरणीय स्त्रियों तथा सज्जनपुरुषों के सामने पहुँचे तो उसका आचरण सत्य, सरलता, शान्ति, दया तथा आत्मनिग्रहादि भावों से युक्त हो जाय[20]। राजा विधिपूर्वक

प्रजा का पालन करे। जो लोग किसी प्रकार के कुकर्म करें, उनको वह दण्ड दे। निरूपाय व्यक्तियों, ज्ञान अथवा किसी भी प्रकार की शिक्षा न प्राप्त करने के कारण आजीविकोपार्जन में असमर्थ, दरिद्र तथा अशरण व्यक्तियों का वह राज्य की ओर से पालन करे, जो शील की मर्यादा को तोड़ें वे राजा के हाथ बड़ा भारी दण्ड पायें[21]।

जिनसेन प्रथम

जैन परम्परा में जिनसेन नाम के अनेक आचार्य हुये हैं। जिनसेन प्रथम से तात्पर्य हरिवंशपुराण के रचयिता पुन्नाट संघ के जैनाचार्य से है। ये महापुराणादि के कर्ता जिनसेन से भिन्न थे। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण और दादागुरु का नाम जिनसेन था। महापुराणादि के कर्ता जिनसेन के गुरु वीरसेन और दादागुरु आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। इसलिए इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेन के जन्म स्थान, माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवन का कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है[22]। जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण का बहुभाग वर्धमानपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर में बैठकर रचा था और शेष भाग उस शान्तिनाथ मन्दिर के शांतिपूर्ण मन्दिर में रचा जहां दोस्तटिका के लोगों ने एक वृहत्पूजा का आयोजन किया था। उस समय उत्तर दिशा में इन्द्रायुध, दक्षिण में वृषण के पुत्र श्रीबल्लभ तथा पूर्व और पश्चिम में अवन्तिनरेश वत्सराज तथा सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में वीर जयवराह राज्य करते थे। ये उल्लेख बड़े महत्वपूर्ण हैं और सभी इतिहास लेखकों ने इनका उपयोग किया है। किन्तु कुछ बातों में उलझन हुई है। एक मत यह है कि यहां पूर्व में अवन्तिराज वत्सराज का और पश्चिम में सौराष्ट्र के नरेश वीर जयवराह का उल्लेख किया गया है। किन्तु दूसरे मतानुसार यहाँ पूर्व में अवन्तिराज और पश्चिम में वत्सराज तथा वीर जयवराह का उल्लेख समझना चाहिये। इस बात में मतभेद है कि इन राज्यसीमाओं का मध्यबिन्दु कहा जाने वाला वर्धमानपुर कौन सा है। डॉ. उपाध्ये के मत से यह वर्धमानपुर काठियावाड़ का वर्तमान बढ़वान है और वहीं इसी पुन्नाट संघ के हरिषेण ने वृहत्कथाकोष की रचना की थी। किन्तु डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार वर्धमानपुर मध्यभारत के धार जिले का बदनावर होना चाहिए, क्योंकि उसका प्राचीन नाम वर्धमानपुर पाया जाता है, वहाँ प्राचीन जैन मन्दिरों के भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं, वहाँ से दुतरिया (प्राचीन दोस्तटिका) ग्राम समीप है तथा वहां से उक्त राज्य विभाजन की सीमायें ठीक-ठीक इतिहाससंगत सिद्ध होती है[23]।

हरिवंश पुराण से राजनीतिविषयक अनेक सूचनायें प्राप्त होती हैं। यहाँ पुरोहित[24] सामन्त[25], महासामन्त[26], प्रतीहारी[27], द्वारपाल (द्वास्थः)[28], युवराज[29] तथा महामन्त्री[30] के नाम आए हैं। पुरोहित के विषय में ज्ञात होता है कि वह राजा को सलाह देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। जब सुदर्शनचक्र ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया तो भरत ने सन्देहयुक्त हो बुद्धिसागर पुरोहित से पूछा कि समस्त भरतक्षेत्र को वश में कर लेने पर भी यह दिव्यचक्र रत्न अयोध्या में प्रवेश क्यों नहीं कर रहा है? अब तो हमारे युद्ध के योग्य कोई नहीं है। इस पर पुरोहित ने कहा आपके जो महाबलवान् भाई है वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं[31]। राजा अपने राज्यकाल में ही अपने किसी पुत्र को युवराज बनाकर उसका पट्टबन्ध करता था[32] अथवा राज्यकार्य सेवारत होने पर एक पुत्र को राजा और दूसरे को युवराज बनाता था[33]। महत्वपूर्ण युक्तियाँ भी हरिवंश पुराण में प्राप्त होती है, जिनमें से अनेकों का राजनीति की दृष्टि से विशेष महत्व है। यथा -

1. भेजे हुये व्यक्ति के कृतार्थ हो चुकने पर उसका कालक्षेप करना निष्फल है[34]।
2. सन्तप्त वस्तु का मेल सन्तप्त से कराया जाता है[35] ।
3. सूर्य के पतन का जब काल आता है तो अन्धकार की प्रबलता हो जाती है[36]।
4. पाप में अनुराग रखने वाले किस पुरुष पर सज्जनों का विद्वेष नहीं होता[37] ।
5. दीर्घसूत्री मनुष्य नष्ट होता है[38] ।
6. संसार में कौन किसे सुख देता है अथवा कौन किसे दु:ख देता है ? कौन किसका मित्र है और कौन किसका शत्रु है ? अपना किया हुआ कार्य ही सुख अथवा दुख देता है[39] ।

धनंजय

धनंजय तथा उसके काव्य की विद्वानों ने पर्याप्त प्रशंसा की है । इन्होंने अपने को अकलंक तथा पूज्यपाद के समकक्ष बतलाने के अतिरिक्त अपने विषय में कोई परिचयात्मक जानकारी नहीं दी है । द्विसन्धान महाकाव्य की टीका में नेमिचन्द्र ने द्विसन्धान सर्ग 18, श्लो. 146 जिसमें अत्यधिक श्लेष है, के आधार पर परिचयात्मक विवरण निकाला है। तदनुसार वासुदेव तथा श्री देवी के पुत्र थे । उनके गुरु का नाम दशरथ था । धनञ्जय के लेखक से भिन्न हैं[40] । धनंजय अकलंक (7-8वीं शती ईसवी) तथा वीरसेन, जिन्होंने 816 ईस्वी में अपनी धवला टीका पूर्ण की थी, के मध्य हुए । इस प्रकार धनंजय का समय 800 ईस्वी अनुमानित किया जा सकता है । वह किसी भी प्रकार भोज (11वीं शती का मध्य) जिन्होंने स्पष्ट रूप से उनका तथा उनके द्विसन्धान महाकाव्य का उल्लेख किया है, से बाद के नहीं हो सकते । द्विसन्धान महाकाव्य या राघव पाण्डवीय के अतिरिक्त धनंजय की अन्य दो कृतियां प्राप्त होती हैं - (1) विषापहार स्तोत्र (2) नाममाला ।

धनंजय राजनीति के गहन अध्येता थे, उनके विचार इस बात की पूर्ण साक्षी देते हैं । उदाहरणत: धनंजय का कहना है कि प्रजा का भली भांति पालन करने हेतु राजा को समस्त प्राणियों की सुरक्षा की व्यवस्था करके आदर्श मर्यादाओं का पालन करना चाहिए तथा विशिष्ट आत्मगौरव की भावना के साथ अभय का एक मात्र नारा देते हुए खड्ग धारण व्रत का पालन करना चाहिए[41]। लोगों में इस प्रकार अपवाद नहीं होना चाहिए कि भाग्य से सब कुछ मिलता है, राजा कुछ नहीं देता है । जनता राजा के विषय में यही कहे कि यह राजा सज्जनों का विधाता है और दुर्जनों का काल है[42] । साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि विरूद्ध कार्य दण्डादि द्वारा वैर बढ़ता है, अतएव उसे प्रिय कर्मों के द्वारा शान्त कर देना चाहिए । धान्य सूर्य के आतप में खूब बढ़ता है, किन्तु वृक्ष की छाया के द्वारा दब जाने पर उसमें अंकुर नहीं फूटते हैं[43] । राजाओं को समस्त पृथ्वी प्रेम के द्वारा वश में करना चाहिये । यहां न तो कोई अपना है और न पराया है । गुणों के द्वारा ही राजाओं के अपने और पराए बनते हैं[44] । राज्य का भली भांति पालन करने के लिए यत्न करना पड़ता है। यदि राजा के कार्यादि के बिना ही राजा का प्रभाव, महात्म्य आदि राज्य करने वालों के समान हो जाँय और कीर्ति को प्राप्त कर ले तो अनेक चिन्ताओं से बाधा युक्त इस राज लक्ष्मी से क्या प्रयोजन है[45] ? राजा के प्रधान लोकप्रिय अधिकारी जिस राज्य की जनता की भली भांति रक्षा करते हैं, उस राज्य के सामन्त राजा भी अपने-अपने नगरों और ग्रामों से होने वाली आय को जनता का धन मानते हैं और उनके विकास में ही व्यय करते हैं[46] । राजा को चाहिए कि वह उचित और

निश्चित समय पर राजकार्य को देखे, याचकों की बात सुने, अधिकारियों से प्रतिवेदन ले, नागरिकों से मिले तथा नर्तकी का नृत्य आदि भी देखें[47] । उसके राज्य में प्रजा को क्षय, लोभ तथा अप्रीति के कारणों का सामना न करना पड़े तथा कोई परस्त्री पर दृष्टि न डाले । यदि दमन की आवश्यकता हो तो केवल शत्रुओं का दमन करे[48] ।

शत्रुओं पर विजय प्राप्ति के लिए सबसे पहिले अपने को संयमित करना चाहिए तत्पश्चात् अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित कर मन्त्रि आदि जनता का विश्वास प्राप्त करना चाहिए[49] । उचित स्थान पर किए गए प्रयत्न सफलता के कारण होते हैं, इसके विपरीत अस्थान पर किए गए प्रयत्न विनाश का ही कारण होते हैं[50] । केवल पुरुषार्थ के आधार पर ही विजय की कामना नहीं करना चाहिए, किन्तु पुरूषार्थ होने पर भी देश, समय, शत्रुबल तथा आत्मबल का विवेक और आक्रमण के पहिले समस्त बातों की परीक्षा भी विचारणीय है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर बल का कुछ भी महत्त्व न हो[51]। देश, काल तथा चातुरी में पूर्ण श्रृगाल क्या कर सकता है ? यदि उसके शरीर में शक्ति ही न हो । इसके अतिरिक्त विवेक की भी आवश्यकता है । देश, काल और बल की अनुकूलता से पुष्ट सिंह विवेक विमुख होकर अपने शरीर को क्षतविक्षत कर डालता है[52]। जो अपने अथवा शत्रु के हिताहित विवेक, आत्मबल, सेना, प्रजा, अधिकारी तथा साधन सामग्री का सब दृष्टियों से विचार नहीं करता है । वह आक्रम्य के ऊपर आक्रमण करते ही विनष्ट हो जाता है[53] । उनका जन्म प्रशंसनीय है जो कार्यकृत अथवा जन्मजात स्वयं आए हुए मित्रों को स्वीकार करता है तथा व्यवहार के कारण बने अथवा कुल क्रमागत शत्रु का दूर से ही प्रतीकार करता है[54] । विजिगीषु की सहायता करने में समर्थ तथा असमर्थ पक्षों का विचारकर और उन्हें आश्वासन तथा सहायता देकर अथवा लेकर, अनुगामी बनाकर सब प्रकार से सन्नद्ध हो सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये । इसके पूर्व शत्रु की स्वामी आदि प्रवृतियाँ, पुण्य-पाप, नीति निपुणता अथवा अनीतिमत्ता और कार्य शक्ति का भी विचार कर लेना चाहिए[55] । अस्थिर नीतिवाला, पापनिष्ठ, अवसर का लाभ उठाने में असमर्थ, शिथिल शत्रुमार्ग के समान प्रमाणिक पुरूषों के चले जाने पर तथा वापिस न आने के कारण जिस किसी के द्वारा तिरस्करणीय हो जाता है । नीचे की ओर देखने वाले शत्रु पर कब यकायक आक्रमण नहीं किया जा सकता है ? अर्थात् सदैव किया जा सकता है । जिस प्रकार विविध वीथियों युक्त धूलिमय (सूखा) और दूर-दूर तक चला गया तथा विश्वस्त लोगों से आया गया मार्ग जिस किसी के जाने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार उपर्युक्त लक्षणों से युक्त शत्रु पर भी आसानी से आक्रमण किया जा सकता है[56]। शत्रु द्वारा वश में करणीय मन्त्री आदि यदि फूटते हैं तो शत्रु भेदनीति द्वारा नहीं जीता जा सकता है और यदि अरातिग्राह्य मन्त्री आदि में फूट पड़ गयी तो शत्रु को पराजित ही समझिये, फिर भेद के लिए प्रयत्न से क्या लाभ ? क्योंकि गाय फटे खुरों से ही चलती है पर क्या अभिन्न खुरों से घोड़ा नहीं दौड़ता है[57] ?

कितनी अपनी शक्ति है और कितनी दूसरों से मिलेगी, इसका विचार करना चाहिए तथा अनुकूल देश और समय की उपेक्षा करके नहीं रहना चाहिए, क्योंकि शय्या से उठकर ही दौड़ते हुओं को सफलता मिलती है[58] । स्वयं बलशाली तथा शत्रु का (आन्वीक्षिकी आदि) विद्याओं की दृष्टि से तथा सम्पत्ति आदि साधनों की अपेक्षा तथा पराक्रम के आधार से विचार किया जाना चाहिए क्योंकि घिसने और घिसे जाने वाली लकड़ियों के बीच से उत्पन्न स्वाभाविक आग के समान संग्राम

भी दोनो पक्षों को महान् कष्ट देता है[59]। अपनी अथवा शत्रु की (18) प्रकृतियों की अन्योन्य साधना, उत्कृष्ट स्थिति की उपेक्षा करके यदि किसी प्रकृति से प्रेरित होकर राजा शत्रु के प्रति अभियान करता है तो नीति शास्त्र के आचार्य उस पर ईर्ष्या ही करते हैं[60]। राजा को अपनी आक्रमण योजना तथा तैयारी गुप्त रखना चाहिए61। कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा है कि जो राजा अपने गुप्त विचारों या गुप्त मन्त्रणायों को छिपाकर नहीं रख सकता है, वह उन्नतावस्था में पहुँचकर भी नीचे गिर जाता है। समुद्र में नींव के फट जाने पर जो दशा सवार की होती है, ठीक वही दशा मन्त्र के फूट जाने पर राजा की होती है[62]। सर्वथा सन्नद्ध विजय का इच्छुक अपने तथा शत्रु के मित्रों को, मित्रों के मित्रों को, सेना के पीछे व्यूहभृत पार्ष्णिग्रह और आक्रन्दकों (आक्रन्दक = कोई राजा जो अपने मित्र राजा को अन्य राजा की सहायता करने से रोके) को एवं दोनों पार्श्वों के बीच चलती सेना (आसारों) को लड़ाते हुए (समादि) उपायों के द्वारा, (प्रभु, मन्त्र और उत्साह) शक्ति के द्वारा और विद्या आदि की सिद्धि के द्वारा निश्चित ही शत्रु का नाश करते हैं[63]।

यद्यपि दूत अवध्य होता है, तथापि उसके कथन को मन में रखकर उसके स्वामी के विनाश का पूर्णचित्त से विचार करना ही चाहिए क्योंकि जहाँ काक और उल्लू खेलते हो तथा सब जगह शव और पीव व्याप्त हो, उस वन में कौन व्यक्ति निडर होकर जायगा[64]। अर्थात् भय के स्थान श्मसान मार्ग में जिस प्रकार सावधानी से जाते हैं, उसी प्रकार शत्रु के विषय में भी सावधान रहना चाहिए। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखना चाहिए क्योंकि विजय अपने पुरुषार्थ के ही अधीन है[65]। शत्रु दमन कीर्ति का कारण होता है। शत्रु से होने वाली मुठभेड़ को आत्मीय जनों से होने वाली स्नेह भेंट से भी बढ़कर मानना चाहिए, क्योंकि यद्यपि महापुरुषों की मित्रमण्डली विशाल होती है, किन्तु उनकी अनुपम कीर्ति का प्रसार तो शत्रु के दमन के कारण ही होता है[66]। राजा को अपने राज्य को ईति भीति आदि विपत्तियों से बचाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की विपत्तियों के आने पर कोई राज्य समाप्त हो जाता है[67]। राज्यों के साथ दुष्टों के समान व्यवहार न करें, अपने साम्राज्य में दूसरों के साम्राज्य को मिला दे किन्तु दूसरा दण्ड न दे, ऐसा करने पर रथादि के स्वामी शत्रु विजयी राजा को उपहार आदि प्रदान करते हैं[68]।

वादीभसिंह

वादीभसिंह बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य थे। आपके वाग्मित्व, कवित्व और गमकत्व की प्रशंसा जिन सैनाचार्य जैसे महाकवि ने की है। वादीभसिंह नाम जो उपाधि जान पड़ता है, से उनकी तार्किकता सूचित होती है। छत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि और स्याद्वादसिद्धि ये तीन रचनायें सम्प्रति वादीभसिंह की उपलब्ध है। इनमें से प्रथम दो काव्य ग्रन्थ तथा अन्तिम स्यद्वादसिद्धि न्याय ग्रन्थ है। प्रमाणनौका और नवपदार्थविनिश्चय ये दो न्याय ग्रन्थ भी वादीभसिंह द्वारा रचित माने जाते हैं, सम्प्रति ये अनुपलब्ध है। स्याद्वादसिद्धि में जीवसिद्धि, फलभोकृत्वसिद्धि, युगपदनेकान्तसिद्धि, [illegible], भोक्तृत्वाभावसिद्धि, सर्वज्ञाभावसिद्धि, जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि, अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि, अर्थापत्ति, प्रामाण्यसिद्धि, वेद पौरुषेयत्वसिद्धि, परतः प्रामाण्यसिद्धि, अभाव प्रमाणदूषणसिद्धि, तर्कप्रामाण्यसिद्धि और गुणगुणी अभेदसिद्धि इन 14 अधिकारों द्वारा प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण किया गया है।

छत्रचूड़ामणि में भगवान् महावीर के समकालीन राजा सत्यन्धर की विजयारानी के पुत्र जीवन्धरकुमार का वृत्तवर्णन है। इनका जीवनवृत अनेक घटनाओं से भरा हुआ है और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का फल प्रदर्शित करने में अद्वितीय है। ग्रन्थ की रचना ग्यारह लम्भों में अनुष्टुप् छन्द में की गई है। गद्यचिन्तामणि का कथानक छत्रचूड़ामणि के समान है। इसकी रचना संस्कृत गद्य में की गई है। श्री कुप्पुस्वामी ने गद्यचिन्तामणि के विशिष्ट गुणों की चर्चा करते हुए कहा है -

वादीभसिंह के काव्यपथ में पदों की सुन्दरता, श्रवणीय शब्दों की रचना, अप्रतिहत वाणी, सरल कथासार, चित्त को आश्चर्य में डालने वाली कल्पनायें, हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला धर्मोपदेश, धर्म से अविरूद्ध नीतियाँ और दुष्कर्म के फल की प्राप्ति आदि विशिष्ट गुण सुशोभित हैं।

वादीभसिंह का समय विद्वानों ने आठवीं शती का अन्त और नौवीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध सिद्ध किया है[70]। तत्कालीन राजनैतिक जीवन की झाँकी वादीभसिंह के काव्यों में पर्याप्त मिलती है। उदाहरणत: गद्यचिन्तामणि के द्वितीय लम्भ में पदाति, अश्व, हाथी और रथ चार प्रकार की सेना का निर्देश किया गया है[71]। आक्रमण का मुकाबला करने के लिए अथवा आक्रमण करने के लिए सेना का उपयोग किया जाता था। सबसे पहले राजा सेनापतियों को आज्ञा देता था, पश्चात् सेनापतियों की आज्ञानुसार सेना कार्य करती थी[72]। वादीभसिंह ने सेना के प्रयाण का सुन्दर चित्र खींचा है। गोविन्द महाराज काष्ठांगार के यहाँ ससैन्य जा रहे हैं, उस समय अत्यन्त सफेद वारवाणों से सुशोभित श्रेष्ठ केचुकी वेत्रलताओं से राजा के उपकरण धारण करने वाले लोगों को प्रेरित कर रहे थे। राजा के अत्यन्त दूरवर्ती स्थान तक यह समान भेजना है, यह समाचार सुनने के लिए भण्डारियों का समूह एकत्रित होकर शीघ्रता कर रहा था। गुरुजन विनयपूर्वक नमस्कार करते हुए लोगों को आशीर्वाद दे रहे थे। लौटने की आशा से रहित भीरू योद्धा गाड़े हुए धन से युक्त कोने दिखला रहे थे। आगे जाने वाले लोग बड़े पेट वाले दासी पुत्रों को बार-बार बुलाने से खिन्न और पसीने से तर हो रहे थे। भूले हुए आश्चर्यकारक आभूषणों को लाने के लिए भेजे हुए सेवक अस्पष्ट तथा विरोधी वचन कर रहे थे। तेजी से जाने वाले सम्बन्धी पीछे देखने के बाद लौटकर पुन: पीछे-पीछे चलने लगते थे। गोण गिरा देने वाले बैल के द्वारा डरे हुए यात्रियों की भीड़ इकट्ठी हो रही थी। क्रोधी चाण्डाल मजबूत कुल्हाड़ी से वृक्ष चीरकर रास्ता चौड़ा करते जाते थे। खोदने वाले (खनित्रगण) कुयें बनाते जाते थे। तात्कालिक कार्य में निपुण बढ़ई नदियाँ तैरने के लिए नावें तैयार कर देते थे। सेना के कोलाहल से सिंह भयभीत होकर भाग जाते थे। बड़े-बड़े हाथी वृक्षों के लट्ठे उखाडकर मार्ग में रुकावट पैदा करते थे। वनचर हाथियों की रगड से छिटकी हुई वृक्षों की छाल देखकर हाथियों के शरीर का अनुमान करते थे। हाथी की गन्ध सूंघकर बिगड़ने वाले जगली हाथियों को पकड़ने वाले योद्धाओं का शब्द चारों दिशाओं में हो रहा था। अन्न और वस्त्र से युक्त सब शस्त्र हाथी, घोड़े, गधे, भैंसे, मेढ़े, बैल, रथ तथा गाड़ी आदि प्रमुख वाहनों पर लाद दिए गए थे। इस प्रकार की सेना जब समीप वर्त्ती हेमांगद देश में पहुँचने को उद्यत हुई तब शिल्पिसमाज के प्रमुखों ने पटकुटी बनाई। काष्ठागार के द्वारा सम्मानित गोविन्द महाराज ने उसमें प्रवेश किया[73]।

शत्रु विजय के विषय में वादीभसिंह का कहना है कि शत्रु मनोरथ की सिद्धि पर्यन्त प्रसन्न करने योग्य होते हैं[74]। अपने शत्रु के कार्यों की प्रबलता और उसके विचार को जानकर प्रतीकार करना चाहिए[75]। इस प्रकार उत्तम उपायों से प्रसिद्ध मनुष्य कार्य को पूर्ण करने में रूकावट रहित होते हैं।

वादीभसिंह के ऊपर अपने पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव स्पष्ट द्योतित होता है। गद्यचिन्तामणि की प्रस्तावना में पं. पन्नालाल जी ने कतिपय ऐसे प्रसंगों को दर्शाया है। इन प्रसंगों में राजनैतिक प्रसंग भी सम्मिलित है[76]।

जिनसेन द्वितीय

आचार्य जिनसेन द्वितीय मूलसंघ के उस पंचस्तूप नामक अन्वय में हुए हैं जो आगे चलकर सेनान्वय या सेनसंघ नाम से प्रसिद्ध हुआ। पार्श्वाभ्युदय[77] के अन्त में आए हुए पद्य से इतना स्पष्ट है कि वीरसेनाचार्य के ये शिष्य थे। विनयसेन इनके गुरुभाई थे। उन्हीं के कहने पर इस काव्य की रचना की गई है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूट वंश का राजा था और कर्नाटक तथा महाराष्ट्र पर शासन करता था। यह शक सं. 736 (वि. सं. 871) में राज्यासीन हुआ था। इसकी राजधानी मान्यखेट अथवा मलखेड थी। जिनसेन के उपदेश से यह जैनधर्म में दीक्षित हो गया था। प्रश्नोत्तररत्नमाला से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष अपने पुत्र को राज्य सौंप स्वयं मुनि बन गया था जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख हरिवंशपुराण (शक सं 705 सन् 783 ई.) में आया है। अत: पार्श्वाभ्युदय की रचना ई. सन् आठवीं शती में हो चुकी थी। जिनसेन द्वितीय ने वीरसेन द्वारा आरम्भ की गई जयधवला की परिसमाप्ति शक संवत् 759 (ई. 837) फाल्गुन शुक्ला दशमी के पूर्वाहण में की थी। अत: जिनसेन की रचनाओं का क्रम घटित करने पर पार्श्वाभ्युदय के अनन्तर जयधवला टीका और उनके पश्चात् आदिपुराण का क्रम आता है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है - वीरसेन स्वामी के यह शिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन के राजगुरु और धर्मगुरु थे। ये विभिन्न भाषावित् एवं विविधविषयपटु दिग्गज विद्वान थे। लड़कपन से ही उनके साथ अमोघवर्ष का सम्पर्क रहा था और वह उनकी बड़ी विनय करता था। अतएव जिनसेनाचार्य का स्थितिकाल शक संवत् 680-765 (सन् 758-837 ई.) होना चाहिये[78]।

पार्श्वाभ्युदय मेघदूत के पदों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये काव्यों में सबसे पहला काव्य है। इस काव्य में चार सर्ग है। प्रथम सर्ग में 118 पद्य, द्वितीय में 118, तृतीय में 57, चतुर्थ में 71, इस प्रकार कुल 364 पद्यों में काव्य लिखा गया है। काव्य की भाषा प्रौढ़ है और मेघदूत के समान ही मन्दाक्रान्ता छन्द का व्यवहार किया है[79]। जिनसेन द्वितीय की दूसरी रचना वर्धमानपुराण है, जिसका उल्लेख जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में किया है, सम्प्रति यह अनुपलब्ध है।

कषायप्राभृत के पहले स्कन्ध की चारों विभक्तियों पर जयधवला नाम की टीका लिखकर जब गुरु वीर सेनाचार्य स्वर्ग को सिधार चुके तब उनके शिष्य श्री जिनसेन स्वामी ने उसके अवशिष्ट भाग पर 40 हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसे पूरा किया। यह टीका जयधवला के नाम से प्रसिद्ध है।

आदिपुराण कवि की प्रौढ़ावस्था की कृति है। यह महापुराण का एक भाग है। इसमें 47 पर्व हैं, जिनमें प्रारम्भ के 42 और तैंतालीस पर्व के 3 श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं। शेष पर्वों के 1620 श्लोक उनके शिष्यभदन्त गुणभद्राचार्य द्वारा रचित है[80]।

आदिपुराण में राजनीति के लिए राजाख्यान[61] और राजविद्या[62] शब्दों का प्रयोग हुआ है। उस देश का यह भाग अमुक राजा के आधीन है अथवा यह नगर अमुक राजा का है इत्यादि वर्णन करना जैनशास्त्रों में राजाख्यान कहा गया है[63]। राजविद्या का परिज्ञान होने से इस लोक सम्बन्धी पदार्थों में बुद्धि दृढ़ हो जाती है[64]। राजर्षि राजविद्याओं के द्वारा अपने शत्रुओं के समस्त गमनागमन को जान लेता है[65]। राजविद्यायें आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के भेद से चार प्रकार की होती है[66]। मन्त्रविद्या के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की सिद्धि होती है। यह लक्ष्मी का आकर्षण करने में समर्थ है और इसमें बड़े बड़े फल प्राप्त होते हैं[67]।

गुणभद्र

जिनसेन द्वितीय और दशरथगुरु के शिष्य गुणभद्राचार्य अपने समय के बहुत बड़े विद्वान हुए हैं। ये उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी और भावलिङ्गी मुनिराज थे। इन्होंने आदिपुराण के अन्त में 1620 श्लोक रचकर उसे पूरा किया और उसके बाद उत्तरपुराण की रचना की, जिसका परिमाण आठहजार श्लोक प्रमाण है। ये अत्यन्त गुरुभक्त शिष्य थे।

उत्तरपुराण महापुराण का उत्तर भाग है। इसमें अजितनाथ को आदि लेकर 23 तीर्थंकर 11 चक्रवर्ती, 9 नारायाण, 9 बलभद्र और 9 प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के कथानक दिए हुए हैं। इसकी रचना कवि परमेष्वर के गद्यात्मक पुराण के आधार पर हुई होगी।

आत्मानुशासन आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित भर्तृहरि के वैराग्यशतक की शैली में लिखा हुआ 272 श्लोकों का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। यह सरस और सरल रचना हृदय पर तत्काल असर करती हैं।

जिनदत्तचरित गुणभद्ररचित नवसर्गात्मक छोटा सा काव्य है। अनुष्टुप् श्लोकों में इसकी रचना हुई है। इसकी कथा बड़ी कौतुकावह है। शब्दविन्यास अल्प होने पर भी कहीं कहीं भाव बहुत गम्भीर है[68]।

आचार्य गुणभद्र के अनुसार राज्यों में राज्य वही है, जो प्रजा को सुख देने वाला हो[69]। उत्तरपुराण से देश के जो विशेषण प्राप्त होते हैं उनमें दुर्ग, वन, खानें, अकृष्टपव्यसस्य[70] (बिना बोए होने वाली धान्य), त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में विभक्त प्रजायें[71], तपस्वियों का अतिक्रमण करने वाले कृषक[72], स्वच्छ जलाशय[73], अनाज से परिपूर्ण, सबको तृप्त करने वाले राजा के भण्डार के समान खेत[74] तथा धन धान्यादि से परिपूर्ण पास-पास में बसे हुए ग्राम[75] प्रमुख हैं,। राजा का कर्त्तव्य है कि वह अनेक उपायों से कोष का वर्धन करते रहें। अर्जन, रक्षण, वर्धन और व्यय ये चार धनसंचय के उपाय है। इन उपायों का प्रयोग करते समय राजा अर्थ और धर्मपुरुषार्थ को काम की अपेक्षा अधिक माने[76]। उत्तरपुराण में तीन शक्तियों का भी विवरण प्राप्त होता है। पंचाङ्ग मन्त्र (सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और बाधक कारणों का प्रतीकार) के द्वारा मन्त्र का निर्णय करना मन्त्रशक्ति है। राजा को नित्य आलोचित मन्त्रशक्ति से युक्त होना चाहिए[77]। शूरवीरता से उत्पन्न हुए उत्साह को उत्साहशक्ति कहते हैं। राजा के पास कोश और दण्ड की जो अधिकता है, उसे प्रभुशक्ति कहते हैं[78]। उपर्युक्त तीन शक्तिरूप सम्पत्ति के द्वारा राजा समस्त शत्रुओं को जीत लेता है, युद्ध शान्त कर देता है तथा अर्थ के द्वारा भोगों का उपभोग करता है[79]।

ये तीनों सिद्धियाँ धर्मानुबन्धिनी सिद्धि को फलीभूत करती है। यथार्थ में शक्तियाँ वही हैं जो दोनों लोकों में हित करने वाली हों[100]। राजा को उत्साह, मन्त्र और फल इन तीन सिद्धियों सहित होना चाहिए[101]। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजा के छह गुण हैं। ये छहों गुण लक्ष्मी के स्नेही है[102]। इस प्रकार गुणभद्र की रचनाओं में राजनीति की विपुल सामग्री प्राप्त होती है।

वीरनन्दि

वीरनन्दि नन्दि संघ देशीय गण के आचार्य थे। चन्द्रप्रभकाव्य के अन्त में जो प्रशस्ति आयी है, उससे ज्ञात होता है कि ये आचार्य अभयनन्दि के शिष्य थे। अभयनन्दि के गुरु का नाम गुणनन्दि[103] था। क्षवणबेलगोल के 47 वें अभिलेख में बतलाया है कि गुणनन्दि आचार्य के 300 शिष्य थे, उनमें 72 सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ थे। इनमें देवेन्द्र सैद्धान्तिक सबसे प्रसिद्ध थे। इन देवेन्द्र सैद्धान्तिक के शिष्य कलधौतनन्दि या कनकनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। कनकनन्दि ने इन्द्रनन्दि गुरू के पास सिद्धान्तशास्त्र का अध्ययन किया था। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने गोमट्सार कर्मकाण्ड में अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि इन तीनों आचार्यों को नमस्कार किया है[104]। उनके गोमट्सार कर्मकाण्ड की एक गाथा से यह भी अवगत होता है कि इन्द्रनन्दि इनके गुरु थे। कनकनन्दि भी गुरु के समकक्ष ही रहे होंगे, अत: इन्होंने उन्हें भी गुरु कहा है[105]। एक अन्य गाथा में बताया है कि जिनके चरणप्रसाद से वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य अनन्त संसार से पार हुए है, उन अभयनन्दि गुरु को नमस्कार है[106]। उक्त संदर्भ से सिद्ध है कि वीरनन्दि के गुरु अभयनन्दि, दादागुरु गुणनन्दि और सहाध्यायी इन्द्रनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती भी इनके लघु गुरु भाई प्रतीत होते हैं[107]। डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि का समय उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ई. सन् 950-999 निर्धारित किया है[108]।

आचार्य वीरनन्दि के अनुसार राजा पालन पोषण करने शिक्षा देने और कष्ट दूर करने के कारण सारी प्रजा का स्वामी गुरु और सुहृद है[109]। वह अपनी प्रजा को नववधू के समान सब प्रकार से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है जिस प्रकार पति अपनी नववधू को रति या सुरतक्रीड़ा से प्रसन्न करता है उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा को रति अर्थात् प्रीति से प्रसन्न करता है और जिस तरह पति तरह-तरह के उज्जवल वर्णों या रंगों की चित्ररचना से वधू के शरीर को अलङ्कृत करता है उसी तरह राजा प्रजा को ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों की उज्जवल व्यवस्था से शोभित करता है। इस प्रकार समस्त प्रजा उसके वश में हो जाती है[110]।

राजा और प्रजा एक दूसरे के हर्ष और विषाद में समान रूप से सम्मिलित होते थे। जब राजा मुनि वगैरह की वन्दना के लिए जाता था तो यात्रा की सूचना देने के लिए नगाड़े बजाए जाते थे[111]। नगाड़े की ध्वनि सुनकर हजारों पुरुषों का समूह राजद्वार (राजगोपुर) पर एकत्रित हो जाता था[112]। अनन्तर पुरवासी, सुहृद्वर्ग, बन्धु बांधव, सेना, सामन्त, पुत्र और रानियों सहित राजा अभीसित स्थान पर जाता था[113]। सुयोग्य राजा का प्रकृति भी साथ देती थी। उसके राज्यकाल में कोई अकालमृत्यु से नहीं मरता था और अतिवृष्टि या अनावृष्टि लोगों को व्याकुल नहीं करती थी, कानों के पर्दे फाड़ने वाले कठोर शब्द से युक्त दारुण हवा नहीं चलती थी, रोगों की वृद्धि नहीं होती थी और अधिक जाड़ा या गर्मी नहीं पड़ती थी। सारे जनपद में कभी ईति (टिड्डी) मूसे, अनावृष्टि आदि की बाधा नहीं होती थी, पुर के क्रूर हिंस्र पशु भी हिंसावृति को छोड़ देते

थे[114] । दीन और अनाथों को राजा की ओर से दान दिया जाता था[115] । अपने आश्रित सामन्तों और राजाओं को भी समय-समय पर राजा प्रसन्नतासूचक वस्त्रों के जोड़े आदि पुरस्कार यथायोग्य देकर सन्तुष्ट करता था[116] । इस प्रकार जनसाधारण से लेकर राज परिवार तक के समस्त लोगों को राजा खुश रखता था । अपनी इस कृपा का समय-समय पर उसे उचित प्रतिदान भी प्राप्त होता था तथा जब कभी वह दिग्विजय वगैरह के लिए जाता तो गोष्ठमहत्तर (गोपों के मुखिया) आदरपूर्वक दही, दूध आदि सामग्री मार्ग में भेंट करते थे और राजा की प्रसन्नता में वृद्धि होती थी[117] ।

राजकीय आय का एक बहुत बड़ा साधन कर था[118] । कर बहुत अधिक न लिया जाता था कोमल लिया जाता था[119] । सदैव से ही मौलिक कर भूमिकर था जो सामान्य रूप से भाग कहलाता था तथा यह उपज का एक निश्चित अनुपात होता था[120] । ताम्रपत्रों में दान की भूमि को सभी करों से मुक्त करने का वर्णन मिलता हैं । हर्षवर्द्धन के समय से विभिन्न करों (स्थायी या अस्थायी) के नाम मिलते हैं । भूमिकर नकद या सामान के रूप में दिया जाता था । कुछ अस्थायी कर थे और चुंगी या बेगार के रूप में ग्रहण किये जाते थे[121] । चन्द्रप्रभ चरित में कहा गया है कि राजा को प्रजा अपनी रक्षा के लिए छठा भाग वेतन की तरह देती है । उसे लेता हुआ वह प्रजा के सेवक के समान है । किन्तु मूढ़ मनुष्य अपने को राजा समझकर गर्व करता है[122] । एक स्थान पर कहा गया है कि पहले कर (हाथ, कर) से सब जगह स्पर्श करके फिर समान रति (अर्थभोग, अनुराग) प्रदानकर सारी पृथ्वी को राजा अपनी वशवर्तिनी बना लेता है[123] । राजा को अपने अधीन राजाओं से भेंट[124] (उपायन) के रुप में भी अच्छी आय होती थी । समस्त दिशाओं (के राजाओं) से कर लेने वाले राजा को दिक्करी कहा जाता था[125] ।

वीरनन्दि ने राजकुमार और उनके गुणों की अच्छी जानकारी दी है । जैसे फूल ही वृक्ष की परमशोभा है, जवानी ही शरीर का परम श्रृंगार है, शास्त्र ही शास्त्र के ज्ञाता पण्डित का आभरण हैं, वैसे ही सुपुत्र मनुष्य के वंश का अलंकार है[126] । विशेषकर राजाओं के लिए तो उसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है । इसी उपयोगिता को ध्यान में रखकर राजकुमार को श्रेष्ठ गुरुओं से विद्याओं (चार विद्याओं) और उपविद्याओं की शिक्षा दिलायी जाती थी[127] । शास्त्राभ्यास से शुद्धबुद्धि वाले कुमार जब पिता के पद को संभालते थे तो लोग स्वभावत: उन्हें आदर देते थे[128] । उनके कार्य विवेक से शून्य नहीं होते थे[129]। खान से निकले हुए रत्न के समान अवस्था के छोटे होने पर भी वे राजकुमार उज्जवल किरणों के समान अपनी कलाओं से बढ़ते हुए गुण के कारण सबसे बड़ेहोते थे[130] । खड्गविद्या, हाथी और घोड़े पर सवारी करने की विद्या के जानकार लोग सदा उनकी सेवा करते थे[131]। उनकी उपमा हाथी से दी जाती थी । उनसे मदगलित (नष्ट) हो जाता था, हाथी के भी मदगलित होता है- बहता है । राजकुमार उच्चवंश के होते थे । हाथी का वंश (पीठ की हड्डी) भी ऊंची होता है । (शिक्षित) हाथी जिस प्रकार विनीत, उन्नतिशील और शक्ति युक्त होता है उसी प्रकार वे भी विनीत, उन्नतिशाली और शक्तिवान होते थे। हाथी जिस प्रकार अंकुश से वश में किया जाता है, उसी प्रकार राजकुमारों के लिये उनके माता-पिता और गुरुजन ही अंकुश होते थे[132] । विकार को धारण करने वाले रूप और जवानी की सम्पदा के साथ विग्रह (शरीर, युद्ध) रखने पर भी आन्तरिक (क्रोधादि)शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले उनमनस्वी कुमारों के मन को

व्यसन नहीं हर पाते थे[133]। कुमार की उदारता का क्या कहना ? उनकी उदारता को देखकर अन्य उदार लोग अपनी उदारता का वृथा अभिमान त्याग देते थे[134] । सत्संगति का असर पड़ता ही है अत: उनके साथ कायर लोग भी शूर हो जाते थे । इस प्रकार नीति को जानने वाले लोगों के लिए जो अभीष्ट है, ऐसे उदारता, शूरता और सत्य ये तीन गुण आपस में स्पर्धाकर उनमें बढ़ने लगते थे[135] । उसकी नीति इन्द्र से भी बढ़कर होती थी । स्वाभाविक विनीत भाव और वैभव का अनुगामी, क्षमागुण विनय का अनुगामी और पराक्रम क्षमागुण को अलंकृत करता था[136]। उसके गुण से निर्मल, महान् और समस्त तेजस्वियों के उदय का स्थान वंश प्रकाशित होता था[137] । गुणों के आश्रय राजकुमार केवल अपने ही पक्ष के लोगों को हर्षित नहीं करते थे, अपितु दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं को भी खुश करते थे, क्योंकि पुण्यात्मा लोगों के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं, जो असाध्य हो[138]। काम, क्रोधादि छह अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले, कृतज्ञ और अधिक गुण वालों में श्रेष्ठ कुमार में सब गुणों का वास देखकर ईर्ष्या के कारण दोष उन्हें छूते भी नहीं थे[139] । इस प्रकार के सुयोग्य राजकुमार को ही युवराज बनाया जाता था[140] । और अन्त में राजा लोग पुर, वाहन सहित उन्हें राज्य भी दे देते थे[141] । इस प्रकार लोगों को धनधान्य से पूर्ण और महान् गुणों से युक्त बनाते हुए नीतिदर्शी राजकुमार ही आश्रित लोगों के यथार्थ स्वामी और गुरु होते थे[142] ।

असग

महाकवि असग द्वारा रचित वर्धमानचरित और शान्तिनाथ चरित की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम पटुमति और माता का नाम वैरेति था । माता-पिता अत्यन्त मुनिभक्त थे इसलिए उन्होंने बालक असग का विद्याअध्ययन मुनियों के पास ही कराया था । असग की सिक्षा नागनन्दी आचार्य और भावकीर्ति मुनिराज के चरणमूल में हुई थी । असग ने वर्धमानचरित की प्रशस्ति में अपने पर ममताभाव प्रकट करने वाली सम्पत् श्राविका और शान्तिनाथपुराण की प्रशस्ति में अपने ब्राह्मण मित्र जिनाप का उल्लेख किया है, अत: प्रतीत होता है कि यह दोनों ग्रन्थों के रचनाकाल में गृहस्थ ही थे, मुनि नहीं । बाद में मुनि हुए या नहीं इसका निर्देश नहीं मिलता है । यह चोलदेश के रहने वाले थे और श्रीनाथ राजा के राज्य में स्थित विरला नगरी में उन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की थी । चूंकि इनकी मातृभाषा कर्नाटक थी; अत: जान पड़ता है कि इनके शेष 6 ग्रन्थ कर्णाटक भाषा के थे और वे दक्षिणभारत के किन्ही भण्ड़ारों में पड़े हो या नष्ट हो गए हों । भाषा की विभिन्नता से उनका उत्तर भारत में प्रचार नहीं हो सका हो ।

वर्धमानचरित की प्रशस्ति के अनुसार इस काव्य का रचनाकाल संवत् 910 हैं । दक्षिणभारत में शक संवत् का प्रचलन अधिक होने से इसे विद्वान शक संवत मानते आए हैं, किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने इसे विक्रम संवत माना है, क्योंकि 95 ई. के पंप, पौन्न आदि कन्नड कवियों ने असग की प्रशंसा की है[143] ।

महाकवि असग के काव्यों में राजनीति के तत्व ओत-प्रोत हैं । उदाहरणत: वर्धमानचरित में राजा के दोषों के विषय में असग कहते हैं - मेरी लक्ष्मी दूसरों से अत्यधिक है, मैं दूसरों से दुर्जेय हूँ, इस तरह का गर्व करके जो राजा निष्करण दूसरों का तिरस्कार करता है वह संसार में अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता है[144] । जगत के भय का नाश किए बिना जो जगत का

अधिपति बनाता है, उसको नमस्कार करने वाली भी जनता चित्रगत राजा के समान देखती है[145]।

आन्तरिकशत्रु और उनके प्रभाव के विषय में असग ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ,मात्सर्य ये छह अन्तरंग शत्रु कहे गये हैं। जो राजा इन पर विजय प्राप्त करने का प्रश्न करता है उसके समीप जाकर राजलक्ष्मी उसी तरहवृद्धि को प्राप्त होती है जिस प्रकार कल्पवृक्ष के समीप जाकर कल्पलता वृद्धि को प्राप्त होती है[146]। चाहे कोई कितना ही उन्नत क्यों न हो, यदि स्त्री रूपी पाश से बँधा हुआ है तो दूसरे लोग उसे पदाक्रान्त कर देते हैं। जिसके चारों ओर बेल लिपटी हुई है, ऐसे महान तरु (वृक्ष) के उपर बालक भी चढ़ जाता है[147]। क्रोध तृष्णा को बढ़ाता है, धैर्य को दूर करता है, विवेकबुद्धि को नष्ट करता है मुख से नहीं करने योग्य कामों को भी कराता है एवं शरीर और इन्द्रियों को सन्तप्त करता है[148]। आँखों में लालिमा, शरीर में अनेक प्रकार का कंप, चिन्त में विवेकशून्य चिन्तायें अमार्ग में गमन और श्रम इन बातों को तथा इनसे होने वाले और भी अनेक दु:खों को या तो मनुष्य का कोप उत्पन्न करता है या मदिरा का मद। संसार में जो आदमी बिना कारण के प्रतिपद क्रोध करता है , उसके साथ उसके आप्तजन भी मित्रता नहीं रखना चाहते हैं। विष का वृक्ष मंद मंद वायु से नृत्य करने वाले फूलों के भार से युक्त रहता है, तो भी भ्रमर उसकी सेवा नहीं करते हैं[149]। यदि कोई अतिबलवान् और पराक्रम का धारक भी अत्यन्त उन्नत हुए दूसरों पर कोप करे तो ऐसा करने से उसकी भलाई नहीं होती। मृगराज मेघों की तरफ स्वयं उछल उछलकर व्यर्थ प्रयास करता है[150]। उत्पन्न हुआ क्रोध कठोर वचन बोलने से और बढ़ता है, किन्तु कोमल शब्दों से वह शान्त हो जाता है[151]। जो किसी कारण कोप करता है वह तो सदैव अनुनय से शान्त हो जाता है, किन्तु जो बिना कारण क्रोध करता है, उसका प्रतीकार कैसे हो सकता है[152]। अत: अभिवाञ्छित कार्यसिद्धी की रक्षा करने वाली, अन्धी आँखों के लिए सिद्धांजन की अद्वितीय गोली और लक्ष्मी रूपी लतावलय को बढ़ाने वाली जलधारा क्षमा ही है[153]।

वे व्यक्ति अच्छे माने जाते हैं और उन्हीं की प्रशंसा होती है जो शत्रु के सामने निर्भय रहते हैं तथा सम्पत्ति आने पर भी जो मद नहीं करते हैं[154]। जिसकी बुद्धि मद से मुर्च्छित हो रही है ऐसा उद्धत पुरुष हाथी की तरह तभी तक गर्जता है जब तक वह सामने भीषण आकार के धारक सिंह समान शत्रु को नहीं देखता हैं[155]। अपने मन में विभूति का गर्व नहीं करना चाहिए। जो लोग इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सके हैं, उन मूढात्माओं की सम्पत्ति सुख के लिए नहीं हो सकती है[156]।

सोमदेव

सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू के अन्त में अपने विषय में पर्याप्त सूचना दी है[157]। वह देवसंघ के आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य और नेमिदेव के शिष्य थे। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सोमदेव महेन्द्र देव के लघुभ्राता थे और स्याद्वादचलसिंह, तार्किक, चक्रवर्ती, वादीभपंचानन, वाषकल्लोलपयोनिधि तथा कविकुलराज उनकी उपाधियाँ थी। उसमें यह भी लिखा है कि सोमदेव यशोधर महाराज चरित, षण्णवतिप्रकरण, महेन्द्रमातलिसंजल्प और युक्तिचिंतामणिस्तव के रचियता थे। यशोधरमहाराजचरित का ही दूसरा नाम यशस्तिलक चम्पू है। शक संवत् 881 (959 ई.)में सिद्धार्थ संवत्सर में चैत्र मास की मदनत्रयोदशी के दिन जब कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेरम आदि राजाओं को जीतकर मेलपाटी में शासन करते थे, यशक्तिलक समाप्त हुआ ऐसा सोमदेव ने स्वयं लिखा है। सोमदेव का यह उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है क्योंकि सोमदेव के यशस्तिलक की सामाप्ति से कुछ ही सप्ताह पूर्व मेलपाटी में 9 मार्च सन् 959 ई. के दिन अंकित किये गये महान् राष्ट्रकूट चक्रवर्ती कृष्ण तृतीय के करहाट ताम्रपत्र से उसका समर्थन होता है। इस ताम्रपत्र में चोलों के साथ चेरम, पाण्ड्य, सिंहल, आदि देशों के राजाओं के ऊपर कृष्णराज तृतीय की विजय का निर्देश है। उसमें यह भी लिखा है कि कृष्णराज ने अपना

विजयकटक मेलपाटी में स्थापित किया था[158]। सम्प्रति सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं- यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत और अध्यात्मतरंगिणी। पहले में आठ अश्वासों में गद्य और पद्य में राजा यशोधर की कथा वर्णित हैं, इसी से उसे यशोधर महाराज चरित भी कहते हैं। दूसरे ग्रंथ में सूत्र शैली में राजनीति का कथन है, इसमें 32 अध्याय हैं। तीसरा ग्रन्थ 40 पद्यों का एक प्रकरण है[159]। प्राचीन भारत के राजनैतिक आदर्शों वगैरह की जानकारी की दृष्टि से नीतिवाक्यामृत का अत्यधिक महत्व है। इसका विषय क्रम इस प्रकार है -

(1) धर्म समुद्देश - धर्म का स्वरूप, अधर्म का दुष्परिणाम, धर्मप्राप्ति के उपाय, आगम महात्म, उसकी सत्यता, चंचलचित्त तथा कर्तव्यविमुख की हानि, दान, तप, संयम, धर्म, विद्या व धन संचय से लाभ तथा धार्मिक अनुत्साह से हानि आदि।

(2) अर्थ समुद्देश - धन का लक्षण, धनिक होने का उपाय, धन विनाश के कारण।

(3) कामसमुद्देश- काम का लक्षण, सुखप्राप्ति का उपाय, केवल एक पुरुषार्थ से हानि आदि।

(4) अरिषड्वर्ग समुद्देश- अन्तरंग शत्रुओं के नाम लक्षण इत्यादि।

(5) विद्यावृद्ध समुद्देश-राजा का लक्षण, कर्त्तव्य, राज्य का स्वरूप, वर्ण आश्रम के भेद, ब्रह्मचारियों का स्वरूप, राज्य का मूल, राज्य की श्रीवद्धि के उपाय आदि,

(6) आन्वीक्षिकी समुद्देश- अध्यात्मयोग, आत्मा के क्रीड़ा स्थान, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म, दुखों के भेद, इच्छा, का स्वरूप आदि।

(7) त्रयी समुद्देश- त्रयीविद्या का स्वरूप आदि।

(8) वार्ता समुद्देश- वार्ता विद्या इससे राजकीय लाभ, सांसारिक सुख के कारण, राजा की धनलिप्सा से हानि आदि।

(9) दंडनीति समुद्देश - दण्ड महात्म्य व स्वरूप, दण्डनीति का उद्देश्य, दण्डविधान का दुष्परिणाम।

(10) मंत्री समुद्देश - (11) पुरोहित समुद्देश (12) सेनापति समुद्देश (13) दूत समुद्देश (14) चार समुद्देश। (15) विचार समुद्देश। (16) व्सन समुद्देश।(17) स्वामी समुद्देश- राजा का लक्षण, आमात्याआदि प्रकृति का स्वरूप, लोकप्रिय पुरुष, छुद्र अधिकारियों वाले राजा की हानि आदि। (18) अमात्म समुद्देश - सचिव महात्मय सचिव कर्त्तव्य, आय-व्यय, स्वामी, तन्त्र लक्षण, अयोग्य अधिकारी आदि। (19) जनपद समुद्देश। (20) दुर्गसमुद्देश (21) कोश समुद्देश (22) बल समुद्देश - बल (सेना) का अर्थ, प्रधान सैन्य, सैन्य महात्म आदि। (23) मित्र समुद्देश (24) राजरक्षा समुद्देश - राजा की रक्षा कैसे करना चाहिए। (25)दिवसानुष्ठान समुद्देश (26) सदाचार समुद्देश (27)व्यवहार समुद्देश (28) विवाद समुद्देश (29) षाड्गुण्य समुद्देश (30) युद्ध समुद्देश (31) विवाह समुद्देश (32) प्रकीर्णक समुद्देश -ग्रन्थकार प्रशस्ति, अन्त्यमंगल तथा आत्मपरिचय आदि।

फुटनोट

1. पद्म. 96/50
2. वही 96/48
3 पद्म. 97/21
4. पद्म. 97/23-24
5. पद्. 97/118
6 वही 97/126
7 वही 97/128
8. वही 97/129
9. पद्मचरित 7/35,36
10 वही 7/37
11. वही 8/374
12. वही अध्याय 24
13. वही 94/10
14 वही 5/84

15. पद्मचरित 4/67-74
16. वरांगचरित (अनु. प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला) भूमिका पृ. 25
17. वरांगचरित 1/51
18. वही 1/52
19. वही 21/75
20. वही 22/3
21. वरांगचरित 19/69
22. हरिवंशपुराण (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ. 3
23. वही प्रधान सम्पादकीय पृ.3
24. हरि. 11/59
25. वही 2/149
26. वही 17/17
27 वही 23/1
28. वही 29/17
29 वही 27/54
30 हरि 2/149
31 वही 11/57-59
32 वही 43/57
33. वही 27/54
34 हरि 52/84
35. हरि. 14/91
36. हरि. 14/110
37. हरि. 45/58
38 हरि 05/84
39. हरि 062/51
40 दिवसन्धान महाकाव्य (ज्ञान पीठ प्रकाशन) प्रधान सम्पादकीय पृ 22
41 वही 4/14
42. द्वि. 4/17
43. द्वि. म. 4/19
44. द्वि. म. 4/20
45 द्व म. 4/53
46. वही 18/136
47. वही 18/142
48 वही 18/144
49. द्वि. म. 4/13
50. नश्यन्ति वास्थान कृत प्रयासा: द्वि. म. 5/5
51. द्विसन्धान महाकाव्य 10/28
52. द्वि. म. 10/30
53. द्वि. म. 10/31
54. द्वि. म. 11/9
55. वही 11/16
56. द्वि.म. 11/20
57. द्वि. म. 11/26
58. द्वि. म. 11/21
59. द्वि. म. 11/34
60. द्वि. म. 11/39
61. वही 9/4
62. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 7/13
63. द्वि. म. 11/11
64. द्वि. म. 13/24
65. स्वायांसतन्त्रं हि जयं निराहु: ॥ द्वि. म. 16/47
67. द्वि. म. 17/32
86. द्वि. म. 18/118
69.
70. गद्यचिन्तामणि (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ. 14-15
71. गद्यचिन्तामणि द्वितीय लम्भ पृ. 124-129, प्रथम लम्भ पृ. 65
72. गद्यचिन्तामणि द्वितीय लम्भ पृ. 124
73. गद्यचिन्तामणि दशम लम्भ पृ. 353- 356
74. क्ष. चू. 10/22
75. क्ष.चू. 10/18 क्ष. चू. 10/12
76. रघुवंश सर्ग, । श्लोक 24
क्षत्र छूड़ामणि 11/4 रघु. सर्ग 17, श्लोक 49 क्षत्र. 11/7 रघु, 01/30 छत्र. 11/9 रघुवंश, 17/45-50 गद्यचिन्तामणि, लम्भ्ये ॥ पैरा. 3
77. पार्श्वैभ्युदय
78. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य केविकास में जैनकवियों का योगदान पृ. 472-273
79. वही पृ. 472
80. आदिपुराण (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ. 25
81. वही 4/7
82. वही 42/34, 41/ 139
83. वही 4/7
84. राजविद्यपरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढ़ा मति: । आदि. 42/34
85. वही 11/81
86. आदि. 41/139, 4/136
87. आदि. 11/33
88. आदिपुराण (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ. 27-28

89. सदेव राज्यं राज्येषु प्रजानां यत्सुखावहम् ॥
उ. पु. 52/40
90. वही 54/10
91. वही 54/14
92. वही 54/12
93. वही 54/13
94. नही 54/14
95. वही 54/15-16
96. उत्तपुराण 51/7
97. वही 68/7, 62/512
98 वही 68/61
99. वही 66/70
100 वही 50/37
101. वही 48/6
102. वही 68/66,67
103. च. च. श्लोक ।,
104. गोमट्टसार कर्मकाण्ड दि, सं. बम्बई, वि. सं. 1885 गा. 785
105. वही गाथा 396,
106 वही गाथा 436,
107. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ. 75-76
108. वही पृ. 76-77
109 चन्द्रप्रभचरित 3/4
110. च. च. 1/52
111. च च. 2/28
112. च. च. 2/29
113. च. च. 2/30
114. च. च. 17/54-56
115. वही 15/15
116. वही 15/15, 16/54
117. च. च. 13/41
118. वही 1/47, 16/53, 4/67
119. वही 6/43
120. ए. एल. बाशम: अद्भुतभारत पृ. 106
121. वासुदेव उपाध्याय: प्राचीन भारत के अभिलेखों का अध्ययन पृ. 86
122. *रक्षाये प्रजया दतं षष्ठांशं वेतना*
123. च. च. 4/67
124. वही 17/57, 5/52
125. च. च. 3/24
126. चन्द्रप्रभाचरित 5/48
127. वही 4/3, 5/41
128. वही 5/50
129. वही 1/59
130. वही 4/4
131 वही 4/5
132. च च. 1/61
133. च. च. 1/62
134. वही 4/7
135. वही 4/9
136. वही 5/44
137. वही 5/47
138 वही 4/11
139. वही 4/14
140. वही 4/16, 5/49
141. वही 15/145
142 वही 4/10
143. वर्धमानचिरित (शोलापुर संस्करण) प्रस्तावना पृ. 17-18
144. वही 8/34
145. वही 5/75
146. वही 4/24
147. वर्धमानचरित 8/20
148. वही 6/46
149. वही 6/47-48
150. वही 6/51
151. वही 7/22
152 वही 7/33
153. वही 6/50
154 वही 8/35
155. वही 7/44
156. वही 4/70, 6/23, 14/40
157. सोमदेव इति यस्तस्यैध काव्यक्रम ।
158. उपासकाध्यन (प्रस्तावना- पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री) पृ. 13,
159. *वही पृ. 13*

❑❑❑

तृतीय अध्याय

: राज्य :

राज्य की परिभाषा और उसका क्षेत्र - राज्य की परिभाषा देते हुए आचार्य सोमदेव ने कहा है - राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म राज्य है[1]। यहाँ पृथ्वीपालनोचित कर्म से तात्पर्य षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संक्षय और द्वैधीभाव) से है। वर्ग नामक विद्वान ने लिखा है कि काम विलास आदि को छोड़कर षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रहादि) के चिन्तन करने का कार्य राज्य कहलाता है। जो राजा एकमात्र विलासीमन होकर षाड्गुण्य का चिन्तन नहीं करता है, उसका राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[2]।

अगले सूत्र में सोमदेव कहते हैं - वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र)[3] तथा आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति)[4] से युक्त और धान्य, हिरण्य (सोना) पशु एवं कुप्य (लोहा आदि धातुयें) तथा वृष्टि रूप फल को देने वाली पृथ्वी को राज्य कहते हैं[5]। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार राज्य के लिए निम्नलिखित तत्व आवश्यक है -

1 जनसंख्या
2. प्राकृतिक साधन
3. उचित जलवायु
4. राजा का पृथ्वी की रक्षा करने योग्य कर्म।

उपर्युक्त चार तत्वों के अतिरिक्त सोमदेव ने दो अन्य तत्वों का उल्लेख किया है। जिनमें राज्य की मूलशक्ति निहित रहती है। वे तत्व हैं - क्रम (आचारसम्पत्ति)[6] और विक्रम (पराक्रम - सैन्य और कोश की शक्ति)। इस प्रकार राज्य के प्रमुख 6 तत्व हुए-

1. जनसंख्या
2. प्राकृतिक साधन
3. उचित जलवायु
4. सदाचार
5. राजा का पृथ्वी की रक्षा करने योग्य कर्म
6 पराक्रम (सैन्य और कोश की शक्ति)।

वादीभसिंह ने राज्य को योग और क्षेम की अपेक्षा विस्तार से तप के समान कहा है; क्योंकि तप तथा राज्य से सम्बन्ध रखने वाले योग और क्षेम के विषय में प्रमाद होने पर अध: पतन होता है और प्रमाद न होने पर भारी उत्कर्ष होता है[7]। गुणभद्र के अनुसार राज्यों में राज्य वही है जो प्रजा को सुख देने वाला हो[8]।

वरांगचरित में राज्य के लिए देश[9], जनपद[10], विषय[11], तथा राज्य[12], शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक राज्य के अन्तर्गत अनेक राष्ट्र आते थे। राष्ट्र शब्द से अभिप्राय प्रान्त से था13। राज्य की परिधि बड़ी विशाल थी और उसके अन्तर्गत राजा के अतिरिक्त सेवक, मित्र, कोश, दण्ड, अमात्य, जनता, दुर्ग[14], ग्राम, नगर[15], पत्तन[16] (सामुद्रिक नगर), आकर (खनिकों की बस्तियाँ), मडम्ब, खेट[17], व्रज[18] (ग्वालों की बस्तियाँ), पथ, कानन (जंगल) नदी, गिरि (पर्वत, झरने[19], समस्त वाहन तथा रत्न[20] आ जाते थे। राज्य का सद्भाव कर्मभूमि में ही बतलाया गया है। भोगभूमि में राज्य वगैरह का सद्भाव नहीं था[21]।

• *हरिवंश पुराण के अनुसार देश के जो लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उर्वरा और शालि-व्रीहि* सब प्रकार के धान्यों के समूह से सफलता को धारण करने वाली भूमि[22], सफल वाणिज्य, उत्तम

गायें तथा भैसों का होना[23] (अर्थात् पशु सम्पत्ति की प्रचुरता) प्रमुख हैं। वही देश उत्तम माना जा सकता है, जहाँ प्रजा सुखपूर्वक निवास करे[24] । देश की सीमा के अन्दर खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटमेदन, द्रोणमुख, खानें, खेत, ग्राम, घोष[25], पुर, पर्वत, नदी, वन, जिनगृह[26], व्रज[27], तथा सरोवर[28] सभी आते थे ।

दि्वसंधान महाकाव्य में राज्य की कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं होती है । द्वितीय सर्ग के एक वर्णन से राज्य की सीमा की एक झाँकी प्राप्त होती है । राजा दशरथ तथा पाण्डु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह राजा निर्मल तथा पर्याप्त यशरूपी धन को संचित करने के लिए व्यवसायों से भरे बाजारों खनिक क्षेत्रों, अरण्यों, समुद्री तीरों पर स्थित पत्तनों (नगरी), पशुपालकों की बस्तियों, दुर्गो तथा राष्ट्रों में गुणों की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति को बढ़ा रहा था[29] । इससे स्पष्ट है कि राज्य की सीमायें बहुत विशाल थीं और उसके अन्तर्गत बाजार, खनिक क्षेत्र, अरण्य, समुद्री तीरों पर स्थित नगर, पशुपालकों की बस्ती, दुर्ग तथा राष्ट्र सभी आ जाते थे । जो राजा जितना अधिक सामर्थ्यशाली और राजनीति में पटु होता था वह उतना अधिक राज्य का विस्तार कर लेता था । कृष्ण के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है कि उन्होंने अपनी नीति और विशाल रथ के द्वारा दशों दिशाओं के स्वामित्व को प्राप्त किया था[30] ।

आदिपुराण में राज्य के लिए जनपद[31], विषय[32], देश[33] तथा राज्य[34] शब्दों का प्रयोग किया गया है । जो राज्य आकार प्रकार में अन्य राज्यों से बड़े होते थे, उन्हें महादेश[35] कहा जाता था। सिंचाई की अपेक्षा राज्य के तीन भेद[36] किए जाते थे - (1) अदेवमातृक, (2) देवमातृक, (3) साधारण । नदी, नहरों आदि से सींचे जाने वाले राज्य अदेवमातृक, वर्षा के जल से सींचे जाने वाले देवमातृक और दोनों प्रकार से सींचे जाने वाले राज्य साधारण कहलाते थे । राज्यों की सीमाओं पर अन्तपालों (सीमारक्षकों) के किले बना दिए जाते थे[37] । राज्यों के बीच कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अट्टालय से सुशोभित राजधानी होती थी[38] । राजधानी रूप किले को घेरकर गाँव आदि (स्थानीय) की रचना होती थी[39] । आदिपुराण में जो ग्रामादि की परिभाषायें उपलब्ध होती है, तदनुसार जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबों से सहित हो उसे ग्राम कहते हैं[40] । जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अथवा छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धन सम्पन्न हों, उसे बड़ा गाँव कहते हैं[41] । सामान्यत: गाँव पास-पास बसे होते थे । इनकी निकटता इससे सहज प्रकट होती है कि गाँव का मुर्गा दूसरे गाँव आसानी से जा सकता था, इसी कारण गाँवों का विशेषण 'कुक्कुटसम्पात्यान्' मिलता है[42] । नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, कटीले वृक्ष, वन और पुल से गाँव की सीमा का विभाग किया जाता था[44] । जो परिखा, गोपुर, अट्टाल, कोट, तथा प्राकार से सुशोभित होता हो, जिसमें अनेक भवन बने हों, जो बाग और तालाबों से युक्त हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हो तथा जिसमें पानी का प्रवाह पूर्वोत्तर दिशा के बीच वाली ईशान दिशा में हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने योग्य हो उसे नगर कहते थे[45] । जो नगर नदी और पर्वत से घिरा होता था उसे खेट और जो पर्वत से घिरा होता था, उसे खर्बट कहते थे[46] । जो पाँच सौ गाँव से घिरा होता था, उसे मडम्ब कहते थे तथा जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ लोग नावों से किनारे पर उतरते हों उसे पत्तन कहते थे[47] । जो नदी के किनारे होता था उसे द्रोणमुख और जहाँ मस्तकपर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढ़ेर लगे रहते थे वह संवाह कहलाता था[48]। एक राजधानी में आठ सौ, द्रौणमुख में चार सौ तथा खर्वट में दो सौ गाँव होते थे । दश गाँव के बीच जो एक

बड़ा गाँव होता था उसे संग्रह (मण्डी) कहते थे[49]।

जिस राज्य के स्वामी एक से अधिक होते थे वहद्वैराज्य[50] कहलाता था। ऐसे राज्य में स्थिरता नहीं रहती थी इसीलिए कहा गया है कि राज्य और कुलवती स्त्री इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुष इन दोनों को अन्य पुरुषों के साथ उपभोग करता है, वह नर नहीं पशु है[51]।

चन्द्रप्रभचरित के अनुसार उत्तम देशों के जो लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उपजाऊ और रमणीय जमीन[52], स्वच्छ सरोवर[53], दीर्धिकायें, नदियों[54], खनिक क्षेत्र[55], उत्कृष्ट धान्य सम्पदा[56], वृक्षादि वनस्पति[57], ईतियों की बाधा न होना, प्रमुदित[58], सुचरित्र[59], निर्व्यसनी[60] प्रजा, प्रजापालक राजा[61], उत्तम जलवायु[62], उत्तम पथ[63] तथा अभिलाषित वस्तुओं की प्राप्ति[64] होना प्रमुख है।

राज्य की उत्पत्ति - पद्मचरित के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त को सर्वाधिक बल मिलता है, वह है सामाजिक समझौता सिद्धान्त। आधुनिक युग में इस सिद्धान्त को सबसे अधिक बल देने वाले हाब्स, रूसो और लॉक हैं। इनमें भी पदमचरित का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी संकेत आधुनिक युग के रुसो और लॉक के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है, जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीन काल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते है, जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य या राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। सिद्धान्त के विभिन्न प्रतिपादकों में इस प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ इसे पूर्व सामाजिक और कुछ इसे पूर्व राजनैतिक अवस्था मानते है। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक नियमों को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते थे[65]। कुछ ने प्राकृतिक अवस्था को अत्यन्त कष्टप्रद और असहनीय माना है तो कुछ ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि प्राकृतिक अवस्था में मानवजीवन सामान्यतः आनन्दपूर्ण था। पद्मचरित में इसी दूसरी अवस्था को स्वीकार किया गया है[66]। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को त्यागने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनैतिक समाज की स्थापना की[67]। पद्मचरित के अनुसार इस अवस्था को त्यागने का कारण समयानुसार साधनों को कमी[68] तथा प्रकृति में परिवर्तन होने से उत्पन्न हुआ भय था[69]। इन संकटों को दूर करने के लिए समय-समय पर विशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों को कुलकर कहा गया[70]। राज्य की उत्पत्ति का मूल इन कुलकरों और इनके कार्यों को ही कहा जा सकता है।

आदिपुराण के अनुसार पहले भोगभूमि थी। दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना अर्थात् उन्हें दण्ड देना और सज्जनों का पालन करना, यह क्रम भोग भूमि में नहीं था; क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे[71]। भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। कर्मभूमि में दण्ड देने वाले राजा का अभाव होने पर प्रजा मात्स्यन्याय का आश्रय करने लगेगी अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जायेगा। ये लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेगे इसलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित है और ऐसा राजा ही पृथ्वी जीत सकता है। जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाये बिना दूध दुहा जाता है और ऐसा करने से वह गाय सुखी रहती है तथा दुहने वाले की भी आजीविका चलती रहती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। वह धन पीड़ा देने वाले करों से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करने से प्रजा भी दुःखी नहीं

होती और राज्य व्यवस्था के लिए योग्य धन भी सरलता से मिल जाता है, ऐसा सोचकर भगवान् वृषभदेव ने कुछ लोगों को दण्डधर राजा बनाया; क्योंकि प्रजाओं के योग और क्षेम का विचार करना राजाओं के ही आधीन होता है[72]। अच्छे राजा के होने पर अन्याय शब्द ही पृथ्वी पर नष्ट हो जाता है तथा प्रजा को भय और क्षोभ नहीं होते है[73]।

राज्य के अंग - धनंजय ने राज्य के प्रमुख अंगों को प्रकृति[74] अथवा मूल[75] कहा है तथा इनकी संख्या सात बतलाई है[76]। कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार इन सात प्रकृतियों के अन्तर्गत स्वामी (राजा) आमात्य, सुहृत्, का वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ प्रसंग वशात् राष्ट्र का वर्णन किया जाता है -

राष्ट्र - पशु, धान्य और हिरण्य (स्वर्ण) सम्पदा जहाँ सुशोभित होती है उसे राष्ट्र कहते है[78]। राष्ट्र से मिलते जुलते अन्य नामों की व्युत्पत्ति सोमदेव ने इस प्रकार दी है-

देश - स्वामी को दण्ड (सैनी) और कोश की जो वृद्धि है, उसे देश कहते है[79]। समस्त पक्षपातों में देश का पक्षपात महान् है[80]।

विषय - अनेक वस्तुऐं प्रदान कर जो स्वामी (राजा) के महल में हाथी और घोड़े बाँधे उसे विषय कहते हैं[81]।

मण्डल - समस्त प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा राजा के हृदय का जो मण्डल (भूषण) करे उसे मण्डल कहते हैं[82]।

जनपद - वर्ण और आश्रम लक्षण वाले मनुष्य तथा द्रव्य (धन-धान्य) की उत्पत्ति का जो स्थान हो उसे जनपद कहते हैं[83]।

दारक - अपने स्वामी के उत्कर्ष का जनक होने के कारण जो शत्रुओं के हृदयों को विदीर्ण करे उसे दारक कहते हैं[84]।

निर्गम - अपनी समृद्धि के द्वारा जो स्वामी को समस्त आपत्तियों से छुड़ाए, उसे निर्गम कहते है[85]।

जनपद के गुण - जनपद (राज्य) के निम्नलिखित[86] गुण है -

1. अन्योन्यारक्षक - जहाँ पर राजा देश की और देश राजा की रक्षा करे।
2. जो खनिक वस्तुयें (सोना, रत्न, चाँदी, ताँबा व लोहा आदि) आकर द्रव्य (गन्धक, नमक आदि) तथा हाथी रूप धन से परिपूर्ण हो।
3. जिसके ग्रामों की जनसंख्या न बहुत बड़ी न बहुत कम हो।
4. जहाँ पर बहुत से उत्तम पदार्थ (सार) अनेक प्रकार के धान्य, हिरण्य (सोना) और पण्य (व्यापारिक माल) पाया जाये।
5. जो देवमातृक हो अर्थात् जहाँ खेती वर्षा के पानी पर निर्भर न होकर कुयें, तालाब, नहर आदि सिंचाई के साधनों पर निर्भर हो।
6. जो मनुष्य और पशुओं को हितकर हो।
7. जहाँ पर शिल्प शूद्र (बढ़ई, नाई, धोबी आदि) अधिकता से वर्तमान हों।

जनपद के दोष - जनपद अथवा देश के निम्नलिखित[87] दोष होते हैं।

1. घास पानी रोगजनक होने से विष के समान हानिकारक होना।
2. जमीन का ऊसर होना।
3. जमीन का पथरीली, कंटक युक्त तथा पहाड़, गड्ढे और गुफाओं से व्याप्त होना।
4. अधिक वर्षा होना।

5. सर्प, वहेलिए और मलेच्छ की अधिकता।

6. वृक्षों के फलों पर अधिक निर्वाह होना (खेती पर अधिक निर्वाह न होना)

7. कम अन्न उत्पन्न होना।

वह देश निंद्य है, जहाँ पर जीविका के साधन नहीं हैं[88]। इसके अतिरिक्त जिस देश में मेघों के जल द्वारा धान्य होता है और खेती कर्षण क्रिया (हल आदि के द्वारा भूमि को जोतना) बिना होती है, वहाँ सदा अकाल रहता है[89]।

राष्ट्र के कण्टक - चोर, चरट (देश के बाहर निकाले गए अपराधी), अन्नप (खेतों या मकानों की माप करने वाले), धमन (व्यापरियों की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने वाले), राजा के प्रेम पात्र, आटविक (वन में रहने वाले भील या अधिकारी), तलार (छोटे-छोटे स्थानों में नियुक्त, किए हुए अधिकारी), भील, जुआरी, मंत्री और आमात्य आदि अधिकारीगण) आक्षशालिक (जुआरी), नियोगि (अधिकारी वर्ग), ग्रामकूट (पटवारी) और वार्द्धुषिक (अन्न का संग्रह करने वाले व्यापारी) ये राष्ट्र के कण्टक हैं[90]। उक्त राष्ट्र कण्टकों में से अन्न का संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारी लोग देश में अन्याय की वृद्धि करते हैं तथा तंत्र (व्यवहार) एवं देश का नाश कर देते हैं[91]। वार्द्धुषिकों (लाभवश राष्ट्र का अन्न संग्रह कर दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारियों) की कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में लज्जा नहीं होती अथवा उनमें सरलता नहीं होती हैं- वे कुटिल स्वभाव वाले होते है[92]। जिस देश में राजा प्रतापी तथा कठोर शासन करने वाला (निष्ठुर) होता है, उसके राज्य में राष्ट्र कण्टक नहीं होते है[93]।

राज्य का फल - राज्य का फल धर्म (जिन कर्त्तव्यों के करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो[94]), अर्थ (जिससे मनुष्य के सभी प्रयोजनों की सिद्धि हो[95]) और काम जिससे समस्त इन्द्रियों-स्पर्शन, रसना, धाण, चक्षु, क्षोत्र में बाधारहित प्रीति हो[96]) की प्राप्ति है। उक्त फल प्रदाता होने के कारण आचार्य सोमदेव ने उसे नमस्कार किया है[97]।

राज्य के कार्य - राजतन्त्र में राजा प्रमुख होता है तथा वह सारे कार्यों का नियमन करता है। अत: राजा के कार्यों को राज्य के कार्य कहा जा सकता है। इस दृष्टि से राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य माने जा सकते हैं[98]

1. गाँव आदि के बसाने और उपभोग करने वालों के योग्य नियम बनाना।
2. नवीन वस्तु के बनाने और पुरानी वस्तुओं की रक्षा करने के उपाय करना।
3. प्रजा के लोगों से बेगार लेना।
4. अपराधियों को दण्ड देना।
5. जनता से कर वसूल करना।

फुटनोट

1. नीतिवाक्यामृत 5/4
2. नीतिवाक्यामृत टीका 5/4
3. सोमदेव: नीतिवाक्यामृत 5/6
4. वही 5/7
5. वही 5/5
6. वही 5/28
7. छत्र चूड़ामणि 11/8
8. उत्तरपुराण 52/40
9. जटासिंहनन्दि : वरांगचरित 12/44, 21/56
10. वही 20/27
11. वही 20/62

12. वही 29/23
13. वही 11/67
14. वही 29/40
15. वही 8/50
16. वही 11/67
17. वही 12/44
18. वही 21/47
19. वही 16/11
20. वही 11/67
21. वही 7/11
22. जिनसेन: हरिवंशपुराण 19/18
23. वही 19/20
24. वही 2/2
25. वही 2/3
26. वही 2/150
27. वही 35/68
28. वही 42/83
29. द्वि. म. 2/13
30. द्वि. म. 18/146
31. जिनसेन : आदि पुराण 16/162
32. वही 16/157
33. वही 16/152
34. वही 34/52
35. वही 16/151
36. वही 16/157
37. वही 16/160
38. आदिपुराण 16/162
39. वही 16/163
40. वही 16/164
41. वही 16/165
42. वही 26/124
43. वही 16/166
44. वही 16/167
45. वही 16/169-110
46. वही 16/171
47. वही 16/172
48. वही 16/173
49. वही 16/175-176
50. आदिपुराण 34/47
51. आदिपुराण 34/52
52. वीरनन्दी : चन्द्रप्रभचरित 1/13
53. वही 1/14
54. वही 5/6, 1/15
55. वही 1/18
56. वही 1/19, 2/117, 5/4, 2/118
57. वही 5/11
58. वही 2/117
59. वही 2/122, 1/140
60. वही 5/9
61. वही 17/53
62. वही 5/7
63. वही 2/12
64. वही 2/121
65. पुखराज जैन : राजनीति के विज्ञान के सिद्धान्त पृ. 100
66. पद्मचरित 3/49-63
67. पुखराज जैन : राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त पृ. 101
68. पद्मचरित 3/74
69. वही 3/85
70. वही 3/88
71. आदिपुराण 16/251
72. वही 16/252-255
73. आदिपुराम 4/169
74. द्विसंधान महाकाव्य 14/1
75. वही 2/22
76. द्वि. म. 2/11
77. कामन्दकीय नीतिासार 4/1
78. नी. वा. 19/1
79. नी वा. 19/2
80. वही 10/6
81. नी वा. 19/3
82. वही. 19/4
83. वही. 19/5
84. वही 19/6
85. वही 19/7
86. वही 19/8
87. नीतिवाक्यामृत 19/9
88. नी. वा. 27/8
89. वही 19/10
90. नी. वा. 8/21
91. वही 8/23
92. वही 8/24
93. वही 8/22
94. वही 1/1
95. वही 2/1
96. वही 3/1
97. वही 1/मंगलाचरण
98. आदि पुराण 16/168

चतुर्थ अध्याय

राजा

राजा का महत्व - पद्मचरित में समस्त संसार की मर्यादायें राजा द्वारा ही सुरक्षित मानी गई हैं। राजा धर्मों की उत्पत्ति का कारण है[1]। राजा के बाहुबल की छाया का आश्रय लेकर प्रजा सुख से आत्मध्यान करती है तथा आश्रमवासी विद्वान निराकुल रहते है[2]। जिस देश का आश्रय पाकर साधुजन तपश्चरण करते है, उसकी रक्षा के कारण राजा तप का छठा भाग प्राप्त करता है[3]। पृथ्वीतल पर मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अधिकार है वह राजाओं द्वारा सुरक्षित मनुष्यों को ही प्राप्त होता है[4]। राजा के होने पर जितने श्रावक आदि सत्पुरुष हैं वे भावपूजा करते हैं। वे अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति से रहित पुराने धान्यादि द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करते हैं[5]। निर्ग्रन्थ मुनि शान्ति आदि गुणों से युक्त होकर ध्यान में तत्पर रहते हैं तथा मोक्ष का साधनभूत उत्तम तप तपते हैं[6]। जिनमन्दिर आदि स्थलों में जिनेन्द्र भगवान् की बड़ी-बड़ी पूजायें तथा अभिषेक होते है[7]। पृथ्वीतल पर जो कुछ भी सुन्दर, श्रेष्ठ और सुखदायक वस्तु है। राजा ही उसके योग्य है[8]।

हरिवंश पुराण के अनुसार जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों और उत्तम रत्नों की खान है, उसी प्रकार राजा भी इस लोक में अनर्घ्य वस्तुओं की खान है[9]। वह प्रभु है और पृथ्वी को वश में करने वाला है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओं का जीतने वाला तथा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग का प्रवर्तक है[10]। धर्म, अर्थ और कामविषयक कोई भी वस्तु उसे दुर्लभ नहीं है[11]। उसे मनुष्यों की रक्षा करने के कारण नृप पृथ्वी की रक्षा करने के कारण भूप और प्रजा को अनुरञ्जित करने के कारण राजा कहते हैं[12]। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा का सब समय आनन्द से बीतता है[13]। घर के उपयोग के लिए साधारण रीति से तैयार किया हुआ थोड़ा सा अन्न भी दान के समय धर्मात्माओं को भोजन में आने से सायंकाल तक भी समाप्त नहीं होता है[14]। जिस प्रकार सूर्य प्रकृष्ट सन्ताप का कारण होता है, उसी प्रकार राजा भी उत्कृष्ट प्रभाव का कारण होता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से दिक्चक्र को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार राजा भी अपने कर (टैक्स) से दिक्चक्र को व्याप्त करता है[15]। उत्तम राजा के विद्यमान होने पर प्रजा शत्रुओं का भय छोड़ देती है[16]। नीतिवेत्ता राजा पृथ्वी को स्त्री के समान वश में कर लेता है[17]। न्यायमार्ग का वेत्ता होने के कारण किसी विषय में विसंवाद हो पर लोग उसके पास न्याय के लिए आते है[18]। राजा की अध्यक्षता में विद्वानों के सामने लोग जय अथवा पराजय को प्राप्त करते हैं। न्याय द्वारा वाद के समाप्त हो जाने पर वेदानुसारी लोगों की प्रवृत्ति सन्देहरहित एवं सब लोगों का उपकार करने वाली हो जाती है[19]। राजा धर्म, अर्थ और काम में परस्पर बाधा नहीं पहुँचाता है[20]।

वादीभसिंह के अनुसार राजा द्वारा समस्त पृथ्वी एक नगर के समान रक्षित होने पर राजन्वती (श्रेष्ठ राजा वाली) और रत्नस (रत्नों की खान) हो जाती है[21]।

राजा जन्म को छोड़कर सब बातों में प्रजा का माता-पिता है, उसके सुख-दु:ख प्रजा के आधीन है[22]। राजा अध:पतन से होने वाले विनाश से रक्षा करता है, अत: संसार की स्थिति रहती

है, ऐसा न होने पर संसार की स्थिति नहीं रह सकतीहै[23] । उत्तम राजा से युक्त भूमि सुख देती है[24] । राजा की आज्ञा से भूमण्डल पर कहीं से भी भय नहीं रहता है । राजा की आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करने पर सच्चरित्र व्यक्तियों का चरित्र भी स्थिर नहीं रहता है[25] । इस लोक में राजा देवों की और प्राणियों की भी रक्षा करते हैं, किन्तु देव अपनी भी रक्षा नहीं करते हैं, इसलिए राजा ही उत्तम देवता है[26] । इस संसार में देव देवों से द्रोह करने वाले प्राणी को ही दु:ख देते हैं, किन्तु राजा राजद्रोहियों के वंश और धन दौलत आदि को उसी समय नष्ट कर देता है[27] । राजा समस्त देवताओं की शक्ति का अतिक्रमण करने वाले होते है । जो देवताओं का अपकार करता है वह परभव में विपत्ति को प्राप्त होता है और नहीं भी होता है, किन्तु जो राजा के विषय में मन से भी विपरीत चेष्टा करना चाहते हैं, उन पर विचार करते ही विपत्ति टूट जाती है । समस्त सम्पत्ति के साथ राजद्रोही के कुल का संहार एक साथ हो जाता है । दूसरे लोक में भी उस पापी की अधोगति होती है[28]। अर्थीजनों के जीवन के उपाय को और तिरस्कार करने वालों के नाश को करने वाला राजा अग्नियों के समान सेवन करने योग्य है[29] । अर्थात् राजा अपने इच्छित कार्य के लिए प्रार्थना करने वालों की तो इच्छा पूर्ण कर देते हैं, किन्तु अपमान आदि करने वालों का नाश कर डालते हैं, अत: जिस प्रकार अग्नि का डरकर सेवन किया जाता है, उसी प्रकार राजा की सेवा भी डरकर करनी चाहिए। राजा लोग चूंकि प्राणियों के प्राण है अत: राजाओं के प्रति किया हुआ अच्छा और बुरा व्यवहार लोक के विषय में किया हुआ व्यवहार ही होता है[30] । अविवेकी मनुष्यों के यातायात से जो खुदा हुआ है, अपयश रूपी कीचड़ के समूह से जो गीला है, जो दोनों और फैलते हुए दु:ख रूपी करोड़ों काँटों से व्याप्त है, समस्त मनुष्यों के विद्वेषरूपी साँपों के संचार से जो भयंकर है और अनन्त निन्दारूपी दावाग्नि से जो व्याप्त है, ऐसे राज विरुद्ध मार्ग का सेवन वे ही लोग करते हैं जो स्वभाव से मूढ़ हैं ऐसे मनुष्य ही सौजन्य को छोड़ते हुए, समस्त दोषों का संग्रह करते हुए, कीर्ति को दूर हटाते हुए, अपकीर्ति को स्वीकार करते हुए, किए हुए कार्य को नष्ट करते हुए, कृतघ्नता को चिल्लाते हुए, प्रभुता को छोड़कर, मूर्खता को अपनाकर, गौरव को दूरकर, लघुता को चढ़ाकर, अनर्थ को भी अभ्युदय, अमंगल को भी मंगल और अकार्य को कार्य समझते हैं[31] । यथार्थ में राजा[32] गर्भ का भार धारण करने के क्लेश से अनभिज्ञ माता, जन्म की कारणमात्रता से रहित पिता, सिद्धमातृका (वर्णमाला) के उपदेश के क्लेश रहित गुरु दोनों लोकों का हित करने में तत्परबन्धु, निंद्रा के उपद्रव से रहित नेत्र, दूसरे शरीर में संचार करने वाले प्राण, समुद्र में न उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष, चिन्ता की अपेक्षा से रहित चिन्तामणि, कुलपरम्परा की आगति के जानकार, भक्तों के जानकार, सेवकों के प्रेमपात्र, व्रज की प्रजा की रक्षा करने वाले, शिक्षा करने वाले, शिक्षा के उद्देश्य से दण्ड देने वाले और शत्रुसमूह को दण्डित करने वाले होते हैं।

उत्तरपुराण के अनुसार स्वामिसम्पत् (राज सम्पत्ति) से युक्त राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का आश्रय है[33] । उसके सत्य से मेघ किसानों की इच्छानुसार बरसते हैं और वर्ष के आदि, मध्य तथा अन्त में बोए जाने वाले सभी धान्य फल प्रदान करते है[34] । राजा के पृथ्वी का पालन करते समय जब सुराज्य होता है तो प्रजा उसे ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त होती है[35]। जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गाय का अच्छी तरह भरण पोषण कर उसकी रक्षा करता है और गाय प्रसन्नता से उसे दूध देकर सन्तुष्ट करती है, उसी प्रकार राजा भी पृथ्वी का भरणपोषण कर

उसकी रक्षा करता है और पृथ्वी भी उसे अपने रत्नादि सारपदार्थ देती है[36]। गुणवान् राजा सदैव, बुद्धि और उद्यम के द्वारा स्वयं लक्ष्मी का उपार्जन कर उसे सर्वसाधारण के उपभोग करने योग्य बना देता है, साथ ही स्वयं उसका उपभोग करता है[37]। राजा जब न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है और स्नेहपूर्ण पृथ्वी को मर्यादा में स्थित रखता हैं, तभी उसका भूभृतपना सार्थक होता है[38]। जिस प्रकार मेढ़कों द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकार के इष्ट धान्यों की वृद्धि का कारण होता है, उसी प्रकार (श्रेष्ठ) राजा गुणों की वृद्धि का कारण होता है[39]। चूँकि वह दुर्जनों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह द्वेष अथवा इच्छा के वश नहीं करता है, किन्तु गुण और दोष की अपेक्षा करता है, अत: निग्रह करते हुए भी वह प्रजा का पूज्य हैं[40]। वह कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल को देता है[41]। जिस प्रकार मणियों का आकर (खान) समुद्र है, उसी प्रकार वह गुणी मनुष्यों का आकर है[42]।

चन्द्रप्रभचरित में राजा सर्वोपरि होने के कारण सर्वदेवमय है। वह शिक्षा प्रदाता होने के कारण गुरु (वृहस्पति), समर्थ होने के कारण ईश्वर, नरक नाशक होने के कारण नरकभित् (विष्णु), धन देने वाला होने के कारण धनद (कुबेर), लक्ष्मी के निवास के कारण कमलालय (ब्रह्मा), शीतलवचन बोलने के कारण शिशिरगु (चन्द्रमा), पंडित होने के कारण बुध (बुधग्रह) और पूर्णज्ञानी होने के कारण सुगत (बुद्ध) माना गया है[43]। वह न्याय से मनुष्यों की, वैभव से देवताओं को, विनय से पूर्णकाय योगियों को और तेज से अन्य राजाओं को विस्मित करता है[44]। उसके वक्ष:स्थल में लक्ष्मी का दोनों भुजाओं में श्रेष्ठवीरलक्ष्मी का, शरीर में कान्ति का, हृदय में क्षमा का और मुख में सरस्वती के ऐश्वर्य का निवास स्थान है[45]। वह समुद्र के समान उच्च, विष्णु के समान समर्थ, चन्द्रमा के समान सुन्दर, मुनीन्द्रों के समान जितेन्द्रिय, सिंह के समान शूर, बृहस्पति के समान बुद्धिमान् और समुद्र के समान गम्भीर होता है[46]।

आचार्य सोमदेव के अनुसार जो धर्मात्मा, कुलाचार व कुलीनता के कारण विशुद्ध प्रतापी, नैतिक दुष्टों से कुपित व शिष्टों से अनुरक्त होने में स्वतन्त्र और आत्मगौरव युक्त तथा सम्पत्तिशाली हो उसे स्वामी (राजा) कहते हैं[47]। एक स्थान पर कहा गया है-जो अनुकूल चलने वालों की इन्द्र के समान रक्षा करता है और प्रतिकूल चलने वालों को सजा देता है उसे राजा कहते हैं[48]। समस्त प्रकृति के लोग (मन्त्री आदि) राजा के कारण ही अपने अभिलषित अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, राजा के बिना नहीं[49]। जिन वृक्षों की जड़े उखड़ गयी हो, उन से पुष्प और फलादि प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न जिस प्रकार सफल नहीं हो सकता है उसी प्रकार राजा के नष्ट हो जाने पर प्रकृतिवर्ग के द्वारा अपने अधिकार प्राप्ति के लिए किया हुआ प्रयत्न भी निष्फल होता है[50]। जिस मनुष्य से राजा कुपित हो गया है, उस पर कौन कुपित नहीं होता है ? सभी कुपित होते हैं[51]। जो व्यक्ति राजा द्वारा तिरस्कृत किया जाता है, उसका सभी लोग अपमान करने लगते हैं और राजसम्मानित पुरुष की सभी लोग पूजा करते हैं[52]। राजा त्रिपुरुष (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) की मूर्ति है अत: इससे दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं है[53]। स्वामी (राजा) से रहित प्रकृतिवर्ग समृद्ध होने पर भी आपत्ति का पार नहीं पा सकते हैं[54]। परिपालक(रक्षा करने वाला) राजा धर्म के छठें भाग के फल को प्राप्त करता है[55]। वनवासी तपस्वी भी अपने द्वारा संचित धान्यकणों का छठा भाग देकर राजा की उन्नति की कामना करते हैं और यह संकल्प करते हैं कि जो राजा

तपस्वियों की रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त हो[56]। लोग यदि अपने अपने धर्म का उल्लघंन करने लगे तो राजा ही उनको रोकने में समर्थ होता है[57] । इस प्रकार राजा का अत्यधिक महत्व है ।

राज्याभिषेक- राजसिंहासन पर अधिष्ठित होने से पहले राजाओं का राज्याभिषेक होता था। इस अवसर पर अनेक राजा उपस्थित रहते थे[58] । अभिषेक के समयशंख दुंदुभि, ढक्का, झालर, तूर्य तथा बाँसुरी आदि बाजे बजाए जाते थे[59] । तत्पश्चात् होने वाले राजा को अभिषेक के आसन पर आरुढ़कर चाँदी, स्वर्ण तथा नाना प्रकार के कलशों से अभिषेक किया जाता था[60] । इसके बाद राजा को मुकुट, अंगद, कैयूर, हार, कुण्डल,आदि से विभूषित कर दिव्य मालाओं, वस्त्रों तथा उत्तमोत्तम विलेपनों से चर्चित किया जाता था[61] । राजा के जय जयकार की ध्वनि लगाई जाती थी[62]। राजा के अभिषेक के बाद उसकी पटरानी का अभिषेक होता था[63] ।

वरांगचरित के अनुसार किसी शुभ तिथि, करण और मुहुर्त में जबकि ग्रह सौम्य अवस्था को प्राप्त कर उच्च अवस्था में स्थित होते थे, उस समय राज्य प्राप्त करने वाले राजपुत्र को पूर्व दिशा की ओर मुखकर बैठा दिया जाता था । उस समय आनन्द के बाजे बजाए जाते थे । सबसे पहले अठारह श्रेणियों के प्रधानपुरुष सुगन्धित जल से चरणों का अभिषेक करते थे । उस जल में चन्दन घुला हुआ होता था तथा विविध प्रकार के मणि और रत्न भी छोड़ दिए जाते थे । इसके उपरान्त सामन्त राजा, श्रेष्ठभूपति, भोजप्रमुख(भुक्तियों, प्रान्तों के अधिपति), अमात्य, सांवत्सर (ज्योतिषी, पुरोहित आदि) तथा मन्त्री आनन्द के साथ रत्नों के कलश उठाकर कुमार का मस्तकाभिषेक करते थे । उनके रत्नकुम्भों में भी पवित्र तीर्थोदक भरा रहता था । अन्त में स्वयं राजा युवराज पद का दयोतक पट्ट (मुकुट तथा दुपट्टा) बाँधता था । महाराज का आज्ञा से आठ चामरधारिणी युवतियाँ चँवर ढोना प्रारम्भ करती थी । अन्त में राजा बच्चे से लेकर वृद्धपर्यन्त अपने कुटुम्बों और परिचारकों को, राज्य के सब नगरों, राष्ट्रों (राज्यों), पत्तनों (सामुद्रिक नगरी), समस्त वाहनों (रथादि) यानों तथा रत्नों को अपने पुत्र को सौंप देता था । उस समय वह उपस्थित नागरिकों, कर्मचारियों तथा सामन्तों आदि से यह भी कहता था कि आप लोग जिस प्रकार मेरे प्रति स्नेह से बँधे हुए चित्त वाले थे तथा मेरी आज्ञा का पालन करते थे उसी प्रकार मेरे पुत्र पर प्रेम करें और उसके शासन को मानें[64] ।

राज्याभिषेक करने वालों की श्रेणी में भोजप्रमुखों (भोजमुख्या:) का नाम आया हैं[65]। भोजों की शासन प्रणाली भौज्य कहलाती थी, जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। इस शासन प्रणाली में गणराज्य की स्थापना मान्य थी । ऐतरेय के अनुसार यह पद्धति सात्त्वत राजाओं (यादवों) में प्रचलित थी । महाभारत के अनुसार यादव लोगों का अन्धकवृष्णि नामक संघ था । अत: भौज्य शासन गणराज्य का एक विशिष्ट प्रकार का शासन था[66]।

वादीभसिंह के काव्य से ज्ञात होता है कि जब वैराग्य आदि के कारण राजा राज्य का परित्याग करता था तब वह बृहस्पति के समान कार्य करने वाले (बुद्धि में श्रेष्ठ) मन्त्रियों, नगरवासियों एवं पुरोहितों को बुलाता था । उनके साथ मन्त्रणा कर यदि भाई अनुकूल हुआ तो भाई से राज्य संभालने की याचना करता था । यदि वह भी विरक्ति आदि के कारण राज्य स्वीकृत नहीं करता था तो वंश

में ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, गुणों के पात्र पुत्र को राज्य देता था[67]। इस प्रकार राज्य का स्वामी कुल क्रमागत होता था। बलबान शत्रु यदि राज्य को जीत लेता था तो वह भी राज्य का स्वामी होता था। ऐसे शत्रु को भी कभी यदि मूल राजकीय वंश का राजकुमार मार देता था, अथवा युद्ध में परास्त कर देता था तो उस राजकुमार का ही राज्याभिषेक होता था। राज्याभिषेक के समय समस्त तीर्थों का जल लाकर स्वर्णमय कलशों से राजा का अभिषेक किया जाता था। अभिषेक का जल उत्तम औषधियों के संसर्ग से निर्मल होता था। इस समय देव, किन्नर तथा वन्दीगण तरह तरह के बाजे बजाते थे। दूसरे राजा लोग अभिषिक्त राजा को प्रणाम करते थे[68]। अभिषिक्त राजा अपने लाभ से प्रसन्नचित पुरवासियों को सोने का कड़ा, कम्बल तथा वस्त्र आदि देकर सन्तुष्ट करता था[69]। अनन्तर महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ[70] कर वह चण्डालाधिकारी के द्वारा निम्नलिखित घोषणा कराता था- समीचीन धर्म वृद्धि को प्राप्त हो। समस्त भूमि का अधिपतिराजा कल्याण से युक्त हो चिरकाल तक बिघ्नबाधाओं से पृथ्वी मंड़ल की रक्षा करे। पृथ्वी समस्त ईतियों (प्राकृतिक बाधाओं) से रहित और समस्त धान्यों सहित हो। भव्य जीव जिनागम के श्रद्धालु, विचारवान्, आचारवान्, प्रभाव्‌वान, ऐश्वर्यवान, दयालु, दानी, सदाविद्यमान, गुरुभक्ति, जिनभक्ति, दीर्घआयु और हर्ष से युक्त हों। धर्म पत्नियाँ धार्मिक कार्य, पातिवृत्य, पुत्र और विनय सहित हो[71]।

आदिपुराण से पता चलता है कि यद्यपि सामान्यत: बड़ा पुत्र राज्य का अधिकारी होता था किन्तु मनुष्यों के अनुराग और उत्साह को देखकर राजा छोटे पुत्र को भी राजपट्ट बाँध देता था[72]। यदि पुत्र बहुत छोटा हुआ तो राजा उसे राजसिंहासन पर बैठाकर राज्य की सब व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियों के हाथ सौंप देता था[73]। पिता के साथ साथ अन्य राजा[74], अन्त:पुर पुरोहित तथा नगरनिवासी[75] भी अभिषेक करते थे। क्रमश: तीर्थजल, कषायजल, तथा सुगन्धित जल से अभिषेक किया जाता था[76]। नगरनिवासी कमलपत्र के बने हुए दोने और मिट्टी के घड़े से भी अभिषेक करते थे[77]। अभिषेक के अनन्तर राजा आर्शीवाद देकर पुत्र को राज्यभार सौंप देता था[78] और अपने मस्तक का मुकुट उतारकर उत्तराधिकारी को पहना देता था[79]। इस प्रकार राज्याभिषेक सम्पन्न होता था। चक्रवर्ती के राज्याभिषेक में बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के आने का उल्लेख प्राप्त होता है[80]। पट्टबन्ध की क्रिया मन्त्री और मुकुटबद्ध राजा करते थे[81]। पट्टबन्ध के समय युवराज राजसिंहासन पर बैठता था, अनेक स्त्रियाँ उस पर चँवर ढोरती थी[82] और अनेक प्रकार के आभूषणों से वह देदीप्यमान होता था[83]। आदि पुराण के सोलहवें पर्व में राज्याभिषेक की विधि का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

चन्द्रप्रभचरित से ज्ञात होता है कि चक्रवर्ती राजा का पट्टाभिषेकोत्सव बड़े ठाठ्‌वाट से होता था। उत्तम गन्ध, धूप, पुष्प, और अनुलेपनों द्वारा वीतराग देव की उपासना कर वे निधियों और रत्नों की पूजा करते थे[84]। उनके पिता अनेक राजाओं के साथ उनका चक्रवर्ती के वैभव के अनुरूप पट्टाभिषेकोत्सव करते थे[85]। उस समय मित्र और पुरनारियाँ आनन्द मनाते[86], आकाश से देवगण पुष्पवृष्टि करते[87], सुहृदों के मन्दिरों में ध्वज फहराए जाते, शत्रुओं के घर भावी विनाश के सूचक केतु (बुरेग्रह) उदित होते[88], पृथ्वी पर वारवनितायें (वेश्यायें) और स्वर्ग में किन्नर बधुयें सुन्दर नृत्य करती और गीत गाती[89], राजा के मन्दिर में आकर नट और गायक मंगलगान करते तथा नभाङ्गण कोयल के समान मधुर ध्वनि वाले तुम्बरु आदि के गानों से व्याप्त हो जाता है[90],

केवल छिड़काव करने वाले (वारिक) लोग ही छिड़काव नहीं करते, अपितु बादल भी वर्षाकार राजमार्गों की धूलि को दबा देता था[91]।

वर्धमान चरित के अनुसार प्राय: राजा उत्ताराधिकार के रुप में समस्त गुणों के अद्वितीय पात्रस्वरुप पुत्र को सौपता था, क्योंकि उत्तम पुत्र पिता के अनुकूल चेष्टा से युक्त होता ही है[92]। पुत्र के गुणों में विशेषकर आश्रितों के प्रति प्रेम रचना, विभूति का आश्रय होना समस्त राजाओं की प्रकृति को अपनी तरफ अनुरक्त रखना[93], प्रजा के अनुराग को सतत बढ़ाना, सेना आदि मूलबल की समुन्नति करना, शत्रुओं का विश्वास न करना[94] आदि प्रमुख हैं। संसार से विरक्त पुरुष भी कुलक्रमागत राज्य नष्ट नहीं होने तथा लोकनिन्दा के भय से अनिच्छुक पुत्र पर राज्यभार रखने का प्रयास करते थे। वर्धमानचरित के द्वितीय सर्ग में नन्दिवर्धन अपने राज्य के अनिच्छुक पुत्र से कहता है- तेरे बिना कुलक्रम से चला आया यह राज्य बिना मालिक के यों ही नष्ट हो जायेगा। यदि गोत्र की सन्तान चलाना इष्ट न होता तो साधुपुरुष भी पुत्र के लिए स्पृहा क्यों करते[95] ? नन्दिवर्धन स्वंय भी चला गया और अपने पुत्र को भी ले गया, अपने कुल का उसने विनाश कर दिया, ऐसा कह कहकर लोग मेरी निन्दा करेंगे। अत: हे पुत्र अभी कुछ दिन तक तू घर में ही रह[96]। इस प्रकार कहकर पिता ने अपने पुत्र के मस्तक पर मुकुट रख दिया[97]।

राजा का उत्ताराधिकारी - राजा के उत्ताराधिकारी के विषय में राज्यभिषेक के प्रसंग में कहा जा चुका है कि सामान्यतया राज्य का उत्ताराधिकारी राजा के ज्येष्ठ पुत्र को बनाया जाता था[98], किन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र की अपेक्षा कनिष्ठ पुत्र अधिक योग्य हुआ तो उसे राजसिंहासनाभिषिक्त, किया जाता था। वरांगचरित के बारहवें सर्ग से ज्ञात होता है कि कुमार सुषेण यद्यपि वरंग से बड़े थे, किन्तु महाराज धर्मसेन ने मन्त्रियों की सलाह से वरांग को ही राजा बनाया, क्योंकि कुमार वरांग अधिक योग्य थे। ऐसे समय राजा को गृहकलह का सामना करना पड़ता था। राजा वरांग को विमाता की असूया का शिकार होना पड़ा। राजा धर्मसेन ने वरांग को इसलिए युवराज बनाया, क्योंकि राजकुमार वरांग ने सब विद्याओं और व्यायामों को केवल पढ़ा ही नहीं था, अपितु उनका आचरण करके प्रयोगिक अनुभव भी प्राप्त किया था। वह नीतिशास्त्र के समस्त अंगो को जानने वाला तथा समस्त ललित कलाओं और विधिविधानों में पारंगत था। वृदधजनों की सेवा का उसे बड़ा चाव था। उसके मन में संसार का हित करने की कामना थी। वह बुद्धिमान और पुरुषार्थी था[99]। प्रजा के प्रति उदार था[100]। प्रजा समझती थी कि कुमार वरांग, विनम्र, कार्यकुशल, कृतज्ञ और विद्वान है[101]। महाराज धर्मसेन जब लोगों से कुमार के उदार गुणों की प्रशंसा सुनते थे तो उनका हृदय प्रसन्नता से आप्लावित हो उठता था। ऐसे योग्य पुत्र के कारण वे अपने को कृतकृत्य मानते थे, क्योंकि प्रजाओं को सुखी बनाना उन्हें परम प्रिय था[102]।

सोमदेव ने उत्ताराधिकार के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है कि राजपुत्र, भाई, पटरानी को छोड़कर अन्य रानी का पुत्र, चाचा, वंश का पुत्र, दौहित्र, आगन्तुक (बाहर से आकर राजा कें पास रहने वाला दत्तक पुत्र) इन राज्याधिकारियों में से पहले राजपुत्र को और उनके न रहने पर भाई आदि को यथाक्रम से राजा बनाना चाहिए[103]। अपनी जाति के योग्य गर्भाधान आदि संस्कारों से हीन पुरुष राज्यप्राप्ति व दीक्षाधारण का अधिकारी नहीं है[104]। राजा के मर जाने पर उसका अंगहीन पुत्र उस समय तक अपने पिता का पद प्राप्त कर सकता है, जब तक कि उसकी कोई दूसरी योग्य सन्तान न हो जाय[105]।

राजाओं की दिनचर्या - आदिपुराण के 41 वे पर्व में सम्राट भरत की दिनचर्या का वर्णन किया गया है, इस आधार पर तत्कालीन राजाओं के दैनिक जीवन की क्रियाओं के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है । राजा सवेरे उठकर धर्मात्मा पुरुषों के साथ धर्म का अनुचिन्तन करते थे, पश्चात् मन्त्रियों के साथ अर्थ तथा कामरुप सम्पदाओं का विचार करते थे । वे शैय्या से उठते ही देव और गुरुओं की पूजा करते थे और मंगल वेष धारणकर धर्मासन पर आरुढ़ होते थे । वहाँ प्रजा के सदाचार और असदाचार का विचारकर वे अधिकारियों को अपने अपने काम पर लगाते थे । इसके बाद राजसभा के बीच राजसिंहासन पर विराजमान होकर सेवा का अवसर चाहने वाले राजाओं का सम्मान करते थे । वे कितने ही राजाओं को दर्शन से, कितनों को मुस्कान से, कितनों को वार्तालाप से, कितनों को सम्मान से और कितनों को दान आदि से सन्तुष्ट करते थे । वहां पर भेट लेकर आए हुए बड़े बड़े पुरुषों तथा दूतों को सम्मानित कर और उनका कार्य पूराकर वे उन्हें विदा करते थे । नृत्य आदि दिखाने के लिए आए हुए कलाओं के जानकार पुरुषों को बड़े बड़े पारितोषिक देकर वे सन्तुष्ट करते थे । अनन्तर सभा विर्सजन करते और राजसिंहासन से उठकर कोमल क्रीड़ाओं के साथ इच्छानुसार विहार करते थे । दोपहर का समय निकट आ जाने पर स्नान, भोजन आदि कर अंलकार धारण करते थे । उस समय परिवार की स्त्रियाँ उन पर चंवर ढोलना, पान देना और पैर दबाना आदि के द्वारा उनकी सेवा करती थी । भोजन के बाद बैठने योग्य भवन (भुक्तोत्तरास्थान) में कुछ राजाओं के साथ बैठकर चतुर (विदग्ध) लोगों की मण्डली के साथ विद्या की चर्चा करते थे। वहां जवानी के मद से जिन्हें उद्दण्डता प्राप्त हो रही थी ऐसी वारविलासिनी (वेश्यायें) और प्रियरानियाँ उन्हें चारों तरफ से घेर लेती थी उनके साथ आभाषण, परस्पर की बातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगों के साधनों से वे कुछ देर तक सुख से बैठते थे । इसके बाद जब दिन का चौथाई भाग शेष रहता तब मणिजटित जमीन पर टहलते हुए वे चारों और राजमहल की उत्तम शोभा देखते थे । वे कभी कभी क्रीडा सचिव(क्रीड़ा में सहायता देने वाले लोगों) के कन्धों पर हाथ रखकर इधर उधर घूमते थे । रात में योग्य कार्य करते हुए वे सुखपूर्वक रात्रि बिताते थे[106] । राजा केअन्य विशेष कार्यो में मन्त्रियों केसाथ सहाल करना, षाडगुण्य का अभ्यास करना, आवीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का व्याख्यान, निधियों और रत्नों का निरीक्षण, धर्मशास्त्र के विवाद का निराकरण, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र में चातुर्य, हस्तिन्त्र, अश्वतन्त्र, आयुर्वेद, व्याकरण, छन्दशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र, तन्त्र, मन्त्र, शकुन, ज्योतिष, कलाशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि में निपुणता प्राप्त करना आदि प्रमुख थे[107] ।

राजाओं के भेद - जैन साहित्य में राजाओं के निम्नलिखित भेद प्राप्त होते हैं -

1. कुलकर
2. चक्रवर्ती[108]
3. अर्द्धचक्री
4. विद्याधर[109] (खचर[110], खेचर[111], नभश्चर[112])
5. महामुकुटबद्ध[113]
6. मुकुटबद्ध[114] (मौलिबद्ध[115])
7. महामाण्डलिक[116] - यह चार हजार छोटे-छोटे राजाओं का अधिपति होता था[117]।
8. मण्डलधिप[118] - माण्डलिक[119]
9. अधिराज[120]
10. भूपाल [121] (नृप[122], पार्थिव[123], क्षोणीनाथ[124], भूप[125], महीभृत[126], उर्वीपति[127], क्षितीश[128], भृगोचर[129])

11. युवराज[130] 12. द्वीपपति[131]
13. अटवीपति[132] 14. सामन्त[133]

कुलकर - कर्मभूमि के आदि में समचतुस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त गम्भीर तथा उदारशीर के धारक चौदह कुलकर हुए। इनको अपने पूर्वजन्म का स्मरण था और इनकी मनु संज्ञा थी[134]। इन्होंने मर्यादा की रक्षा के लिए हा, मा, धिक् इन तीन प्रकार की दण्डनीतियों को अपनाया। ये प्रजा के पितातुल्य और अत्यधिक प्रतिभाशाली थे[135]। प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति था। वह महान् प्रभावशाली था[136]। उसने प्रजा के अनेक प्राकृतिक भय दूर किए[137]। उसने बतलाया कि काल के स्वभाव में भेद होने से पदार्थों का स्वभाव भिन्न हो जाता है, उसी से प्रजा के व्यवहार में विपरीतता आ जाती है। अत: स्वजन या परजन काल दोष से मर्यादा का उल्लंघन करने की चेष्टा करता है तो उसके साथ उसके दोषों के अनुरूप हा, मा, धिक् तीन धारओं का प्रयोग करना चाहिए[138]। तीन धाराओं से नियन्त्रण को प्राप्त मनुष्य भय से त्रस्त रहते हैं कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाय और इसी भय से वे दोषों से दूर हटते रहते हैं[139]। जिस प्रकार गुरु के वचन स्वीकृत किए जाते हैं उसी प्रकार प्रजा ने चूंकि उसके वचन स्वीकृत किए अत: पृथ्वी पर प्रतिश्रुति के नाम से प्रसिद्ध हुआ[140]। प्रतिश्रुति के अतिरिक्त सन्मति, क्षेमङ्कर, क्षेमन्धर, सीमङ्कर, सोमन्धर, विपुलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित तथा नाभिराज ये तेरह कुलकर और हुए[141]।

चक्रवर्ती - चक्रवर्ती छह खण्ड का अधिपति और संप्रभुता सम्पन्न होता है। बत्तीस हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते है[142]। हरिवंशपुराण में छह खण्ड से युक्त, भरतक्षेत्र को जीतने वाले चक्रवर्ती भरत[143] का वर्णन मिलता है। वे चौदह महारत्न और नौ निधियों से युक्त हो पृथ्वी का निष्कटंक उपभोग करते थे[144]। चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड, काकिणी, मणि, चर्म, सेनापति, गृहपति, हस्ती, अश्व, पुरोहित, धनपति और स्त्री ये उनके चौदह रत्न थे और इनमें से प्रत्येक को एक-एक हजार देव रक्षा करते थे[145]। काल, महाकाल, पाण्डुक, माणव, नौसर्प, सर्वरत्न, शंख पद्म और पिंगल ये चक्रवर्ती की नौ निधियाँ थीं। ये सभी निधियाँ अविनाशी थीं और निधिपाल नामक देवों के द्वारा सुरक्षित थीं तथा निरन्तर लोगों के उपकार में आती थी[146]। यह गाड़ी के आकार थी, चार-चार भौरों और आठ-आठ पहियों सहित थी। नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी, आठ योजन गहरी और वक्षारगिरी के समान विशाल कुक्षि से सहित थीं। प्रत्येक की एक एक हजार यक्ष निरन्तर देख रेख करते थे[147]।

पहली **कालनिधि** में ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र, न्यायशास्त्र, कलाशास्त्र, व्याकरण शास्त्र एवं पुराण का सद्भाव था। दूसरी **महाकाल** निधि में विद्वानों द्वारा निर्णय करने योग्य पन्चलोह आदि नाना प्रकार के लोहों का सद्भाव था। तीसरी **पाण्डुक** निधि में शालि, ब्रीहि, जौ आदि समस्त प्रकार की धान्य तथा कड़ुए चरपरे आदि पदार्थों का सद्भाव था। चौथी **माणवक** निधि कवच, ढाल, तलवार, बाण, शक्ति, धनुष, चक्र आदि नाना प्रकार के दिव्य शस्त्रों से परिपूर्ण थीं। पाँचवी **सर्पनिधि** शय्या, आसन आदि नाना प्रकार की वस्तुओं तथा घर के उपयोग में आने वाले नाना प्रकार के भाजनों की पात्र थी। छठवीं **सर्वरत्न** निधि इन्द्रनीलमणि, महानीलमणि, बज्रमणि, वैडूर्यमणि आदि बड़ी-बड़ी शिखा के धारक उतमोत्तम रत्नों से परिपूर्ण थी। सातवीं **शंख निधि** भेरी, शंख, नगाड़े, वीणा, झल्लरी, मृदंग आदि आघात से तथा फूँककर बजाने योग्य नाना प्रकार के बाजों

से पूर्ण थी । आठवीं पद्मनिधि पटाम्बर, बीन, महानेत्र, दुकूल, उत्तम कम्बल तथा अनेक प्रकार के रंग बिरंगे वस्त्रों से परिपूर्ण थीं । नौवीं पिंगलनिधि कड़े तथा कटिसूत्र आदि स्त्री पुरुषों के आभूषण और हाथी, घोड़ा आदि के अलंकारों से परिपूर्ण थी, ये नौ निधियाँ कामवृद्धि नामक गृहपति के आधीन थी और सदा चक्रवर्ती के मनोरथों को पूर्ण करती थीं । चक्रवर्ती के तीन सौ साठ रसोइया थे, जो प्रतिदिन कल्याणकारी सीथों से युक्त आहार बनाते थे । एक हजार चावलों का एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल प्रमाण चक्रवर्ती का आहार था, चक्रवर्ती को रानीसुभद्रा का आहार एक कवल था और एक कवल अन्य समस्त लोगों की तृप्ति के लिए पर्याप्त था[148] । चक्रवर्ती के निन्यानवे हजार चित्रकार थे, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा और उतने ही देश थे तथा छ्यानवे हजार रानियाँ थीं । एक करोड़ हल, तीन करोड़ कामधेनु गायें, वायु के समान वेगशाली अट्ठारह करोड़ घोड़े, मत्त एवं धीरे-धीरे गमन करने वाले चौरासी लाख हाथी और उतने ही उत्तम रथ थे[149] । भाजन, भोजन, शय्या, सेना, वाहन, आसन, निध्रि, रत्न, नगर और नाट्य ये दश प्रकार के भोग थे[150] ।

आदिपुराण में चक्रवर्ती के राजराज अधिराट् और सम्राट् विशेषण भी प्राप्त होते हैं। यह छह खण्ड का अधिपति[151] और राजर्षियों का नायक सार्वभौम राजा होता था[152]। चौरासी लाख हाथी[153], चौरासी लाख रथ[154], बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा[155], बत्तीस हजार देश[156], 96000 रानियाँ[157], बत्तीस हजार नगर[158], 96 करोड़ गाँव[159], 99 हजार द्रोणमुख[160], 48 हजार पत्तन[161], सोलह हजार खेट[162], 56 अर्न्तद्वीप[163], 14 हजार संवाह[164], एक लाख करोड़ हल[165], तीन करोड़ वृक्ष[166], सात सौ कुक्षिवास[167], (जहाँ रत्नों का व्यापार होता है), अट्ठाईस हजार सघन वन[168], अठारह हजार म्लेच्छराजा[169], नौ निधियाँ[170], चौदह रत्न और दश प्रकार के भोगों का वह स्वामी होता है । आदि पुराण सैतीसवें पर्व में उसकी नौ निधियाँ, चौदह रत्न, दश प्रकार के भोग तथा अन्य वैभव का विस्तृत वर्णन किया गया है । उसका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन का होता है तथा शरीर पर चौसठ लक्षण होते हैं । वर्धमान चरित के 14वें तथा चन्द्रप्रभचरित के सातवें सर्ग में चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन किया गया है जो उपर्युक्त वर्णन से मिलता जुलता है ।

शुक्रनीति में सामन्त, माण्डलिक, राजा, महाराज, स्वराट्, सम्राट, विराट् तथा सार्व भौम (चक्रवर्ती) राजाओं की तालिका दी गई है । तदनुसार सामन्त जो वार्षिक भूमिकर से आय । लाख, माण्डलिक की आय 4 लाख से 10 लाख तथा राजा की आय 11 लाख से 20 लाख, महाराज की आय 21 लाख से 50 लाख, स्वराट् की आय 51 लाख से 1 करोड़, सम्राट् की आय 2 करोड़ से 10 करोड़, विराट् की आय 11 करोड़ से अधिक चाँदी की कार्षापण होती थी और इससे ऊपर की आय वाले को सार्वभौम कहा जाता था[171] । कौटिल्य के अनुसार हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त पूर्व-पश्चिम दिशाओं में एक हजार योजन तक फैला हुआ और-पश्चिम की सीमाओं के बीच का भू भाग चक्रवर्ती का क्षेत्र कहलाता था अर्थात इतनी पृथ्वी पर राज्य करने वाला राजा चक्रवर्ती होता था[172]।

अर्द्धचक्री[173] - इस राजा का वैभव चक्रवर्ती के से आधा माना गया है । हरिवंशपुराण में अर्द्धचक्री कृष्ण की विभूति का वर्णन किया गया है, तदनुसार उनके पास शत्रुओं का मुख नहीं देखने वाला सुदर्शनचक्र, अपने शब्द से शत्रुपक्ष को कम्पित करने वाला शार्ङ्गधनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, शत्रुओं पर व्यर्थ नहीं जाने वाली अमोघमूला शक्ति, पाञ्चजन्यशंख और

विशाल प्रताप को प्रकट करने वाला कोस्तुभमणि ये सात रत्न थे[174]। सोलह हजार प्रमुख राजा और आठ हजार भक्तगण बद्ध देव उनकी निरन्तर सेवा करते थे और उनकी सोलह हजार स्त्रियाँ थीं[175]।

विद्याधर – विद्याबल से सम्पन्न राजा विद्याधर कहलाते थे। हरिवंश पुराण के छब्बीसवें सर्ग में गैरिक, गान्धार, मानव पुत्रक, मनु पुत्रक, मूलवीर्य, अन्तरभूमिचर, शंकुक, कौशिक, मातंग, श्मसाननिलय, पाण्डुक, कालश्वपाकी, श्वपाकी, पार्वतेय, वंशालय, तथा वार्क्षमूलिक नामक विद्याधरों का उल्लेख किया गया है। सिद्धकूट जिनालय में वन्दना के लिए गए हुए वसुदेव को मदनवेगा ने इन विद्याधरों का परिचय इस प्रकार कराया -

जो हाथ में कमल लिए तथा कमलों की माला धारण किये हमारे स्तम्भ के आश्रय बैठे हैं वे गौरिक नाम के विद्याधरी हैं। लाला मालायें धारण किये तथा लाल कम्बल के वस्त्रों को पहिने हुए गान्धार खम्भा का आश्रय ले गान्धार जाति के विद्याधर बैठे हैं। जो नानावर्णों से युक्त एवं स्वर्ण के समान पीले वस्त्रों को धारण कर मान स्तम्भ के सहारे बैठे हैं वे मानव पुत्रक विद्याधर हैं। जो कुछ कुछ लाल वस्त्रों से युक्त एवं मणियों के देदीव्यमान आभूषणों से सुसज्जित हो मान स्तम्भ के सहारे बैठे हैं वे मनुपुत्रक विद्याधर हैं। नाना प्रकार की औषधियाँ जिनेके हाथ में हैं तथा जो नाना प्रकार के आभूषण और मालायें पहिनकर औषधिस्तम्भ के सहारे बैठे हैं वे मूलवीर्य विद्याधर हैं। सब ऋतुओं के फूलों की सुगन्धि से युक्त, स्वर्णमय आभरण और मालाओं को धारणकर जो भूमिमण्डप स्तम्भ के समीप बैठे हैं वे अन्तभूमिचर विद्याधर हैं। जो चित्रविचित्र कुण्डल पहने तथा सर्पाकार बाजूबन्दों से सुशोभित हो शंकु स्तम्भ के समीप बैठे हैं वे शंकुक नाम विद्याधर हैं। जिनके मुकुटों पर सेहरा बँधा हुआ है तथा जिमके मणिमय कुण्डल देदीप्यमान हो रहे हैं। ऐसे कौशिक स्तम्भ के आश्रय कौशिक जाति के विद्याधर बैठे हैं। यह आर्य विद्याधरों का परिचय है। मातंग विद्याधरों के निकायों का परिचय यह है[176] -

जो नीले मेघों के समान श्यामवर्ण है तथा नीले वस्त्र और नीली मालायें पहिने हैं वे मातंग स्तम्भ के समीप बैठे मांतग विद्याधर हैं। जो श्मसान की हड्डियों से निर्मित आभूषणों को धारणकर भस्म से धूलि धूसर हैं वे श्मसान स्तम्भ के आश्रय बैठे हुए श्मसान निलयनामक विद्याधर हैं। ये जो नीलमणी और वैडूर्यमणि के समान वस्त्रों को धारण किए हुए हैं तथा पाण्डुर स्तम्भ के समीप आकर बैठे हैं वे पाण्डुक नामक विद्याधर हैं। जो ये कालीमृगचर्म को धारण किए तथा काले चमड़े से निर्मित वस्त्र और मालाओं को पहिने हुए काल स्तम्भ के पास आकर बैठे हैं वे काल श्वपाकी विद्याधर हैं। जो पीले पीले केशों से युक्त हैं, तपाए हुए स्वर्ण के आभूषण पहिने हैं और श्वपाकी विद्याओं के स्तम्भ के सहारे बैठे हैं वे श्वपाकी विद्याधर हैं। जो वृक्षों के पत्तों के समान हरे रंग के वस्त्रों से आच्छादित हैं तथा नाना प्रकार के मुकुट और मालाओं को धारण कर पार्वत स्तम्भ के सहारे बैठे हैं वे पार्वतेय नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनके आभूषण बाँस के पत्तों से बने हुए हैं तथा जो सब ऋतुओं के फूलों की मालाओं से युक्त हो वंशस्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं वे वंशालय विद्याधर माने गए हैं। जिनके उत्तमोत्तम आभूषण महासर्पों के शोभायमान चिन्हों से युक्त हैं तथा जो वृक्ष मूल नामक महास्तम्भों के आश्रय बैठे हैं वे वार्क्षमूलक नामक विद्याधर हैं[177]।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ विद्याधरों के आर्य और मातंग नामक दो भेद थे और इन दो भेदों के भी प्रभेद थे। ये अपने-अपने निश्चित वेष में ही भ्रमण करते थे और आभूषणों को अपने अपने चिन्हों से अंकित रखते थे[178]। प्रत्येक का अपना अपना स्तम्भ था जिसका आश्रयकर ये बैठते थे और तत्तत् स्तम्भों के आधार पर ही इनके निकायों के नाम प्रसिद्ध हो गये। ये स्तम्भ विद्या निर्मित होते थे विद्युदवेग का गौरी विद्याओं के स्तम्भ का सहारा लेकर बैठने से यह कथन सिद्ध होता है[179]। विद्याबल से आकाश में गमन करने की शक्ति के कारण इनके लिए खेचर[180] शब्द का उपयोग हुआ है।

महामाण्डलिक- मण्डल का प्रशासक महामण्डलेश्वर (महामाण्डलिक) कहा जाता था। परन्तु कभी कभी छोटे प्रभेद पर भी हमें महामण्डलेश्वर शासन करते मिलते हैं। सम्भवत: इसका कारण यही प्रतीत होता हैं कि ये छोटे प्रदेश या तो इनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थे अथवा राजा की ओर से उपहार दिए जाते थे। जयसिंह के शासनकाल में दधिप्रद मण्डल के महामण्डलेश्वर वपनदेव थे। महामण्डलेश्वर की नियुक्ति केन्द्रिय सरकार द्वारा होती थी। साधारणतया किसी राजवंश का अथवा अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्ति किया जाता था। दोहद्र-प्रस्तर लेख से पता चलता है कि महामण्डलेश्वर वपनदेव की कृपा से राणाशंकर सिंह महान् पद को प्राप्त कर सके। सम्भवत: महामण्डलेश्वरों का स्थानान्तरण एक मण्डल से दूसरे मण्डल में किया जाता था और प्रत्येक नए राजा के आगमन पर इसमें साधारणतया या तो परिवर्तन होता था, या उन्हें स्थायी कर दिया जाता था[181]।

मण्डलाधिय (माण्डलिक)- शुक्रनीति के अनुसार माण्डलिक राजा उन्हें कहते थे, जिनकी आय 4 लाख से 10 लाख चाँदी के कार्षापण होती थी[182]। ये मण्डल के स्वामी होते थे मण्डल शासन की सबसे बड़ी इकाई थी जिसकी समानता आधुनिक प्रान्त से की जा सकती है[183]।

सामन्त - दौत्यकार्य तथा विभिन्न युद्धों के प्रसंग में सामन्तों का उल्लेख पद्मचरित में आया है। एक बार जब रावण के मन्त्रियों ने रावण से राम के साथ सन्धि करने का आग्रह किया तब रावण ने वचन दिया कि आप लोग जैसा कहते हैं वैसा ही करुँगा। इसके बाद मन्त्र के जानने वाले मन्त्रियों ने सन्तुष्ट होकर अत्यन्त शोभायान एवं नीतिनिपुण सामन्त को सन्देश देकर शीघ्र ही दूत के रूप में भेजने का निश्चय किया[184]। उस सामन्त दूत का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह बुद्धि में शुक्राचार्य के समान था, महाओजस्वी और प्रतापी था। राजा लोग उसकी बात मानते थे तथा वह कर्णप्रिय भाषण करने में निपुण था। वह सामन्त सन्तुष्ट स्वामी को प्रणाम कर जाने के लिए उद्यत हुआ। अपनी बुद्धि के बल से वह समस्त लोक को गोष्पद के समान तुच्छ देखता था[185]। जब वह जाने लगा तब नाना शास्त्रों से युक्त एक भयंकर सेना जो उसकी बुद्धि से ही मानो निर्मित थी, निर्भय हो उसके साथ हो गई। दूत की तुरही का शब्द सुनकर वानर पक्ष के सैनिक क्षुभित हो गये और रावण के आने की शंका करते हुए भयभीत हो आकाश की और देखने लगे[186]। राजा अतिवीर्य ने जिस समय भरत पर आक्रमण करने के लिए पृथ्वीधर राजा के पास संदेश भेजा, अपनी तैयारी का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि इस पृथ्वी पर मेरे जो सामन्त हैं वे खजाना और सेना के साथ मेरे पास हैं[187]। इस सब उल्लेखों से सामन्त की महत्ता स्पष्ट होती है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में सामन्त शब्द पड़ौसी राज्य के राजा के लिए आया है[188]। शुक्रनीति के अनुसार जिसकी वार्षिक आय(भूमि से) एक लाख चाँदी के कार्षापण होती थी, वह सामन्त कहलाता था[189]। वासुदेवशरण अग्रवाल ने सामन्त संख्या का विकास ऐसे मध्यस्थ अधिकारियों से बतलाने का प्रयास किया है, जिन्हें छोटे मोटे रजवाड़ों के समस्त अधिकार सौंपकर शाहानुशाहिया महाराजधिराज या बड़े सम्राट् शासन का प्रबन्ध चलाते थे[190]। युद्ध के प्रसंग में रथ, हाथी, सिंह, सूकर, कृष्णमृग, सामान्यमृग, सामर, नाना प्रकार के पक्षी, बैल, ऊँट, घोड़े, भैंस आदि वाहनों पर[191] सवार, सिंह[192], व्याघ्र[193], हाथियों[194], आदि से जुते रथों पर सवार तथा घोड़ों के वेग की तरह तीव्र गति वाले[195] सामन्तों का उल्लेख पद्मचरित में हुआ हैं। सामन्तराजा के पास दुर्ग और सेना रहती थी[196]। कभी कभी वह अहंकारवश अपने स्वामी के साथ बगावत कर बैठता था। जयपुर के राजा सिंहकुमार के प्रति दुर्मति नाम के पड़ौसी आटविक सामन्तराज की बगावत का उल्लेख हरिभद्र ने विस्तार से किया है[197]।

हरिभद्र के वर्णन से स्पष्ट है कि सामन्त के पास अपनी सेना रहती थी, वह अपने ढंग से राज्य की व्यवस्था करता था और अपने स्वामी को कर देता था[198]। मध्यकाल में सामन्तों की आय घट गई थी। अपराजित पृच्छा के अनुसार लघुसामन्त की आय 5 सहस्त्र, सामन्त की 10 सहस्त्र, महासामन्त या सामन्तमुख्य की 20 सहस्त्र होना चाहिए[199]। समय आने पर प्राय: सामन्त अपनी स्वामी राजाओं की युद्ध में सहायता करते थे और फलस्वरुप पुरस्कार के अधिकारी होते थे[200]। सामन्त और महासामन्तों का राज्य में महत्वपूर्ण स्थान होता था। अपने पति दक्षप्रजापित से रुष्ट होकर इला देवी महासामन्तों से घिरी होकर अपने ऐलेय को ले दुर्गम वन में चली गई (हरिवंशपुराण 17/17) ।

द्वीपपति- द्वीपों के स्वामी को द्वीपपति कहते थे।

भूचर[201] - विद्याबल से रहित राजाओं को भूचर कहा जाता था। प्राचीन आचार्यों ने प्रकारान्तर से राजाओं के तीन भेद[202] किए हैं -

1. धर्मविजयी 2. लोभविजयी 3. असुरविजयी

1. धर्मविजयी राजा:- जो राजा प्रजा पर नियत किए हुए कर से ही सन्तुष्ट होकर उसके प्राण, धन व मान की रक्षा करता हुआ अन्याय प्रवृति नहीं करता है-- उसके प्राण व धनादि नष्ट नहीं करता हैं, उसे धर्मविजयी राजा कहते हैं[203]।

2. लोभविजयी राजा:- जो केवल धन से ही प्रेम रखकर प्रजा के प्राण और माल मर्यादा की रक्षार्थ उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करता, उसे लोभविजयी कहते हैं[204]।

3. असुरविजयी राजा:- जो प्रजा के प्राण और सम्मान का नाशपूर्वक शत्रु का वध करके उसकी भूमि चाहता है, उसे असुरविजयी कहते हैं[205]।

नीतिविद् अपना कार्य सिद्ध करने के लिए पहले को दान देना, दूसरे के साथ शान्ति का व्यवहार करना और तीसरे के लिए भेद और दण्ड का प्रयोग कराना, यही ठीक उपाय बतलाते हैं[206]।

सोमदेव ने दूसरे के मत के अनुसार कार्य करने वाले और अपराधियों के अर्थमान व प्राणमान की परीक्षा किए बिना प्राणघात करने वाले राजा को असुरवृत्ति कहा है[207]। जिस भूमि का राजा

असुरवृत्ति नहीं है, वह राजन्वती (श्रेष्ठ राजा से युक्त) कही जाती है[208]। जिस प्रकार सूनागार(चाण्डालगृह) में प्रविष्ट हुए हिरण का वध होता है, उसी प्रकार असुरवृत्ति राजा के आश्रय से प्रजा का नाश होता है[209]।

राजाओं का एक अन्य वर्गीकरण भी मिलता है-1-शत्रु राजा 2- मित्र राजा और 3- उदासीन राजा।

शत्रु और मित्र की अपेक्षा राजाओं के भेद - शत्रु और मित्र की अपेक्षा राजा चार प्रकार के होते हैं-(1) शत्रु (2) मित्र (3) शत्रु का मित्र (4) मित्र का मित्र। अच्छे मित्र से सबकुछ सिद्ध होता है[212]। शत्रु का कितना ही विश्वास क्यों न किया जाय, वह अन्त में शत्रु ही रहता है[213]।

राजाओं के मित्र - राज्य के सात अंगों में मित्र का महत्वपूर्ण स्थान है। राजाओं को विजय व पराक्रम बहुत कुछ उसके मित्र राजाओं पर अवलम्बित रहता है। वरुण को पराजित करने के लिए रावण ने विजयार्द्ध पर्वत की दोनो श्रेणियों में निवास करने वाले विद्याधरों को सहायता के लिए बुलाया[214]। मित्र और शत्रु राजा की पहचान बड़ी मन्त्रणा और कसौटी के बाद तय की जाती थी। विभीषण जब राम की शरण में आया तब राम ने निकटस्थ मंत्रियों से सलाह की। मतिकान्त नामक मन्त्री ने कहा कि सम्भवत: रावण ने छल से इसे भेजा है, क्योंकि राजाओं की चेष्टा बड़ी विचित्र होती है। परस्पर के विरोध से कलुषता को प्राप्त हुआ कुल जल की तरह फिर से स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है। इसके बाद मतिसागर मन्त्री ने कहा कि लोगों के मुँह से सुना है कि इन दोनों भाइयों में विरोध हो गया है। सुना जाता है कि विभीषण धर्म का पक्ष ग्रहण करने वाला है, महानीतिवान् है, शास्त्ररूपी जल से उसका अभिप्राय धुला हुआ है और निरन्तर उपकार करने में तत्पर रहता है, इसमें भाईपना कारण नहीं हैं, किन्तु कर्म के प्रभाव से ही संसार में यह विचित्रता हैं, इसलिए दूत भेजने वाले विभीषण को बुलाया जाय। इसके विषय में योनि सम्बन्धी दृष्टान्त स्पष्ट नहीं होता अर्थात एक योनि से उत्पन्न होने के कारण जिस प्रकार रावण दुष्ट है। उसी प्रकार विभीषण भी दुष्ट होना चाहिए, यह बात नहीं है[215]। मतिसागर मन्त्री का कहना मानकर राम ने विभीषण को, जबकि वह निश्छलता की शपथ खा चुका, यथेष्ट आश्वासन देकर अपनी ओर मिलाया[216]। एक स्थान पर कहा गया है कि दुष्ट मित्रों को मन्त्र दोष, असत्कार, दान, पुण्य, अपनी शूरवीरता, दुष्टस्वभाव और मन की दाह नहीं बतलानी चाहिए[217]।

वरांगचरित के अनुसार इस संसार में किसी भी व्यक्ति को अपने माता, पिता, धर्मपत्नी, औरस पुत्र, अत्यन्त, घनिष्ट बन्धु बान्धव या सेवक पर उतना विश्वास नहीं करना चाहिए, जितना कि एक दृढ़ मित्र पर करना चाहिए[218]। शक्ति सम्पन्न होते हुए भी अपने प्रति अनुराग रखने वाले मित्र किसी को मिलता ही नहीं है। भाग्य से यदि कोई ऐसा मित्र मिल जाय तो समझिए कि सारी पृथ्वी उसके हाथ लग गई[219]। आपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को चाहिए कि किसी आशा से बन्धु बान्धवों तथा मित्रों के पास न जाय। उसे ऐसी स्थिति में देखकर वे लोग खेद खिन्न होंगे और शत्रुओं को उपहास करने का अवसर मिलेगा[220]। मित्र के प्रति सदैव सद्भाव रखना चाहिए तथा उसके अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी की सम्मति के अनुसार विपरीत कार्य करने से मित्र भी शत्रु हो जाय, उसे कार्यज्ञ नहीं कहा जा सकता है[221]। किसी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति

के साथ पहिले कभी सन्धि न हुई हो, बाद में वह सन्धि करता है तो उसके मित्र उस पर विश्वास नहीं करते तथा सम्बन्ध के प्रयोजन को भी विकृत रूप दिया जाता है[222] । जो व्यक्ति राजा अथवा उसके शासन के विरूद्ध षड़यन्त्र नहीं करता है । अनर्थों को शान्त करता है, युद्ध में स्थिर बुद्धि का परित्याग नहीं करता है, युद्ध में जो सहायता देता है हितकारी प्रवृत्ति हेतु प्रबुद्ध करने के लिए जो युक्तिमती नीति को दर्शाता है, वही बन्धु है, वह पुत्र है, वही मित्र है तथा श्रेष्ठतम गुरु भी वही है, यह बात लोक में प्रसिद्ध हैं[223] । मित्र दो प्रकार के होते हैं - 1. स्वाभाविक 2. कृत्रिम । अकृत्रिम स्नेही सम्बन्धी स्वाभाविक मित्र होता है, किन्तु जो कृत्रिम मित्र होता है वह फलवान् होता है, अत: उदार हृदय मित्र बनाना चाहिए[224]।

हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन ने कहा है कि सभी लोग प्राणतुल्य सखा या मित्र के लिए मन का दु:ख बाँटकर सुखी हो जाते हैं; यह जगत की रीति है[225] । मित्र पर आपत्ति आने के समय मित्र दुखी हो जाता हैं[226] । मित्रमंडल के प्रतापरहित हो अस्त हो जाने पर उद्‌यमी मनुष्य भी उद्‌यम रहित हो जाते हैं[227] । मित्रता दुष्ट मनुष्य से नहीं करनी चाहिए; क्योंकि दुष्ट मनुष्य से की गई मित्रता रागरहित होती हैं[228] । सज्जनों से मैत्री करना चाहिए; क्योंकि सज्जन से की गई मैत्री उत्तरोत्तर बढ़ती रहती हैं[220] ।

द्विसंधान महाकाव्य में दो प्रकार के मित्र कहे गए हैं - 1. कार्यकृत 2. जन्मजात(योनिज)। जो किसी कार्य को पूरा कर देने पर या उसमें सहायता देने के कारण मित्र बन जाते हैं, उन्हें कार्यकृत और जो वंश परम्परागत मित्र हों, उन्हें योनिज या जन्मजात कहते हैं[230]। आचार्य कौटिल्य के अनुसार मित्र ऐसे होने चाहिए जो वंशपरम्परागत हों, स्थायी हो, अपने वश में रह सकें और जिनसे विरोध की सम्भावना न हो तथा प्रभु आदि शक्तियों से युक्त जो समय आने पर सहायता कर सकें[231] ।

उत्तरपुराण में राजा की सात प्रकृतियों में मित्र का स्थान निर्धारित किया गया है। स्वामी, आमात्य, जनस्थान(देश), दण्ड, कोश, गुप्ति (गढ़) और मित्र ये राजा की सात प्रकृतियाँ हैं[232]।

चन्द्रप्रभचरित में कहा गया है कि तनय वही है जो संकट में काम आवे । वही राज है जो प्रजा का पालन करे, वही मित्र है जो आपत्ति में काम आए। वही कवि है जिसकी उक्ति नीरस न हो[233] । यथार्थ में मित्र वही है जो मित्र के सुख दु:ख को अपना ही सुख दु:ख समझे234 । इसी को सोमदेव ने इस रूप में कहा है कि जो पुरुष सम्पत्तिकाल की तरह विपत्तिकाल में भी स्नेह करता है, वह मित्र है[235] । मित्र तीन प्रकार के होते हैं - 1. नित्यमित्र 2. सहजमित्र 3. कृत्रिम मित्र।

नित्यमित्र - जो कारण के बिना ही आपत्तिकाल में परस्पर एक दूसरे के द्वारा बचाए जाते हैं,वे नित्यमित्र हैं[236] ।

सहजमित्र- वंशपरम्परा के सम्बन्ध से युक्त पुरुष सहजमित्र हैं[237] ।

कृत्रिम मित्र - जो व्यक्ति अपनी उदरपूर्ति और प्राणरक्षा के लिए अपने स्वामी से वेतन आदि लेकर स्नेह करता है वह कृत्रिम मित्र हैं[238] ।

मित्र के गुण:- मित्र के निम्नलिखित गुण हैं[239] -

1. संकट पड़ने पर मित्र की रक्षार्थ उपस्थित होना ।

2. मित्र के धन को न हड़पना ।

3. मित्र की स्त्री के प्रति दुर्भावना न रखना ।

4. मित्र के क्रोधित होने अथवा प्रसन्न होने की स्थिति में उससे ईर्ष्या न रखना।

मित्र के दोष :- मित्र के दोष निम्नलिखित हैं[240] ।

1. मित्र द्वारा कुछ दिए जाने पर स्नेह रखना । 2. स्वार्थपरता ।

3. विपत्ति में उपेक्षा करना ।

4. शत्रुओं से मिल जाना (विश्वासघात करना-नी. वा. 27/10)

5. छलकपट करना । 6. छिपाव रखना ।

7. मित्र की स्त्री पर कुदृष्टि रखना ।8. विवाद करना ।

9. सदैव याचना करना और स्वयं कुछ न देना ।

10. धन पैसे का सम्बन्ध रखना ।

11. परोक्ष में दोषों को प्रकट करना(नी. वा. 11/53)

12. चुगली करना ।

आदर्श मैत्री की परीक्षा - पानी को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ दूध का सच्चा मित्र नहीं है, जो मिलने मात्र से ही उसकी वृद्धि कर देता है और अग्नि परीक्षा के समय अपना नाश करके भी दूध की रक्षा करता है[241] । इसी प्रकार सच्चा मित्र होना चाहिए । संसार में पशु भी उपकारी के प्रति कृतज्ञ व विरुद्ध न चलने वाले होते हैं, किन्तु मनुष्य प्राय: विपरीत चलने वाले देखे जाते हैं । सोमदेव ने इसका एक उदाहरण दिया है कि किसी वन में घास से ढके हुए कुये में बन्दर, सर्प, शेर, एक जुआरी और सुनार गिर पड़े । किसी कांकायन नामक पथिक ने उन्हें बाहर निकाला। उनमें से सब उसकी आज्ञा लेकर बाहर निकल गए किन्तु जुआरी ने उसके साथ मित्रता कर विशाला नामक नगरी में सोते समय उसे मारकर उसका धन छीन लिया[242] ।

मैत्री के अयोग्य पुरुष - जिसके व्यवहार से मन फट चुका हो उसके साथ मित्रता नहीं करना चाहिए[243] । एक बार फटे हुए मन को स्फटिक के कंकड़ के समान कोई भी जोड़ने में समर्थ नहीं हैं[244] । महान् उपकार से भी मन में उतना अधिक स्नेह उपकारी के प्रति नहीं होता, जितना अधिक मन थोड़ा सा अपकार करने से फट जाता है[245] । अत: किसी भी अनुकूल मित्र को शत्रु न बनाए[246] ।

राजा के अधिकार :- राजा कोश, दुर्ग, सेना आदि का उपयोग करता है, वह किसी महाभय केसमय प्रजा की रक्षा करने के लिए धनसंचय करता है और प्रजा को सन्मार्ग में चलाने के लिए योग्य दण्ड देता हैं[247] । राजा अपने देश में सर्वाधिकार सम्पन्न व्यक्ति है उसकी आज्ञा समस्त मनुष्यों से उल्लघंन न किए जाने वाले प्राकार के समान होती हे[248] । राजकीय ऐश्वर्य का फल प्रजा द्वारा राजा की आज्ञा का पालन किया जाना हे[249]।

राजा के कर्त्तव्य

1. न्यायपूर्ण व्यवहार - न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले राजा को इस संसार में यश का लाभ होता है, महान् वैभव के साथ साथ पृथ्वी की प्राप्ति होती है और परलोक में अभ्युदय (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है । वह क्रम से तीनों लोकों को जीत लेता है[250] । न्याय को धन कहा गया है ।

न्याय पूर्वक पालन की हुई प्रजा (मनोरथों को पूर्ण करने वाली) कामधेनु के समान मानी गई है[251]। न्याय दो प्रकार का है 1. दुष्टों का निग्रह करना 2. शिष्ठ पुरुषों का पालन करना[252]। एक स्थान पर कहा गया है-धर्म का उल्लघंन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्र में दान देना, इन चार प्रकार की प्रवृत्ति को सज्जनों ने न्याय कहा है तथा जैन धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करना संसार में सबसे उत्तम न्याय माना गया है[253]। अन्यायपूर्वक आचरण करने से राजाओं की वृत्ति का लोप हो जाता है[254]।

2. **कुल पालन** - कुलाम्नाय की रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना कुलपालन कहलाता हैं[255]। राजाओं को अपने कुल की मर्यादा पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिसे अपनी कुल मर्यादा का ज्ञान नहीं है, वह अपने दुराचारों से कुल को दूषित कर सकता है[256] द्वेष रखने वाला कोई पाखण्डी राजा के सिर पर विषपुष्प रख दे तो उसका नाश हो सकता है। कोई वशीकरण के लिए उसके सिर पर वशीकरण पुष्प रख दे तो यह मूढ़ के समान आचरण करता हुआ दूसरे के वश हो जायेगा। अत: राजा को अन्य मन वालों के शेषाक्षत, आर्शीवाद और शान्तिवचन आदि को परित्याग कर देना चाहिए, अन्यथा उसके कुल की हानि हो सकती है[257]।

3. **मत्यनुपालन** :- राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की संगतिरूपी सम्पदा से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञान से अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत करना चाहिए[258]। यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो हित-अहित का जानकार न होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगा[259] इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थो के हित अहित का ज्ञान होना बुद्धि कहलाती है[260]। अविद्या का नाश करने से उस बुद्धि का पालन होता हैं। मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं और अतत्त्वों में तत्त्वबुद्धि होना मिथ्याज्ञान कहलाता ह[261]।

(4) **आत्मानुपालन** :- इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों से आत्मा की रक्षा करना आत्मा का पालन करना कहलाता है[262]। राजा की अपनी रक्षा होने पर सबकी रक्षा हो जाती है[263]। विष, शस्त्र आदि अपायों से रक्षा करना तो बुद्धिमानों को विदित ही है, परलोक सम्बन्धी अपायों से रक्षा धर्म के द्वारा हो सकती है, क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियों का प्रतीकार ह[264]। धर्म ही अपायों से रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देता है, धर्म ही परलोक में कल्याण करने वाला है और धर्म से ही इस लोक में आनन्द प्राप्त होता है[265]। जिस राज्य के लिए पुत्र तथा सगे भाई भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमें बहुत से अपाय (विघ्न बधायें) हैं, ऐसा राज्य बुद्धिमान पुरुषों को अवश्य छोड़ देना चाहिये[266]। मानसिक खेद की बहुलता वाले राज्य में सुखपूर्वक नहीं रहा जा सकता, क्योंकि निराकुलता को ही सुख कहते हैं। जिसका अन्त अच्छा नहीं है, जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्य में सुख का लेश भी नहीं हैं, सब ओर से शंकित रहने वाले पुरुष को इस राज्य में बड़ा भारी दु:ख बना रहता है। अत: विद्वान पुरुषों को अपथ्य औषधि के समान राज्य का परित्याग कर देना चाहिए और पथ्यभोजन के समान तप ग्रहण करना चाहिए। राजाराज्य के विषय में पहले ही विरक्त होकर भोगोपभोग का त्याग कर दे। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ हो तो अन्त समय में उसे राज्य के आडम्बर का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। यदि काल को जानने वाला निमित्त ज्ञानी अपने जीवन का अन्त बतला दे अथवा अपने आप ही निर्णय हो जाय तो उस समय से शरीरपरित्याग की बुद्धि धारण करे, क्योंकि त्याग ही परमधर्म है। त्याग ही परम तप हैं, त्याग से ही इस लोक में कीर्ति और परलोक में ऐश्वर्य की उपलब्धि

होती है[267] । आत्मा का स्वरूप न जानने वाला जो क्षत्रिय अपनी आत्मा की रक्षा नहीं करता है, उसकी विष, शस्त्र आदि से अवश्य ही अपमृत्यु होती है, अथवा शत्रुगण तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए सेवकों से उसका अवश्य ही विनाश होता है और अपमृत्यु से मरा प्राणी दु:खदाई तथा कठिनाई से पार होने योग्य इस संसार रूपी आवर्त में पड़कर दुर्गतियों के दु:ख का पात्र होता है[268] ।

आचार्य सोमदेव ने भी कहा है कि रक्षा होने पर समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है, अत: उसे स्वकीय और परकीय जनों से सदा अपनी रक्षा करना चाहिए। राजा अपनी रक्षा के लिए ऐसे पुरुष को नियुक्त करे जो कि उसके वंश का हो अथवा वैवाहिक सम्बन्ध से बँधा हुआ हो तथा शिक्षित, अनुरक्त और कर्त्तव्यकुशल हो। राजा विदेशी पुरुष को, जिसे मान आदि देकर सम्मानित न किया गया हो और पहले सजा पाए हुए स्वदेशवासी व्यक्ति को जो बाद के अधिकारी बनाया गया हो, अपनी रक्षा के लिए नियुक्त न करें, क्योंकि विकृतचित्त (द्वेषयुक्त) पुरुष कौन कौन से अपराध नहीं करता हैं। विक्रतचित हो जाने पर माता भी राक्षसी हो जाती है[269] । राजा के पास स्त्रियाँ और पास रहने वाले कुटुम्बी व पुत्र होते है। अत: सबसे पहले उसे इनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए[270]। पति द्वारा सौत रखना, पति का मनोमालिन्य, अपमान, सन्तान न होना चिरविरह इनसे स्त्रियां पति से विरक्त हो जाती हैं[271]। स्त्रियों में स्वाभाविक गुण या दोष नहीं होते हैं, किन्तु समुद्र में प्रविष्ट हुई नदी के समान पति के गुणों से गुण या दोषों से दोष उत्पन्न होते हैं[272]। जिस प्रकार साँप की बांबी में प्रविष्ट हुआ मेंढक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जो राजा स्त्रियों के गृह में प्रविष्ट होते हैं, वे अपने प्राणों को खो बैठते हैं[273] । राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिए स्त्री के घर मे आयी हुई कोई भी वस्तु का भक्षण न करें[274]। वह स्वंय भक्षण करने योग्य भोजनादि के कार्य में स्त्रियों को नियुक्त न करें[275] । राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियों के लिए तंत्र (सैन्य) व कोश बढ़ाने वाली जीविका दी जाती है तो वे विकारयुक्त हो जाते हैं[276] । जब राजा निकटवर्ती लोगों को सम्मान देकर जीवनपर्यन्त उनका संरक्षण करता है तो वे अभिमानवश (राज्यलोभ मे) राजा के घातक हो जाते हैं[277]। राजा को अपने पर श्रद्धा रखने वाले, भक्ति के बहाने कभी विरुद्ध न होने वाले, नम्र विश्वसनीय व आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी व पुत्रों का संरक्षण करते हुए उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिए[278] । जब राजा के सजातीय कुटुम्बी लोग तंत्र (सैन्य) व कोशशक्ति से बलिष्ट हो जाँय , उस समय उनके वश करने का उपाय यह है कि वह अपने शुभचिन्तक प्रामाणिक पुरुषों को अग्रसर नियुक्त कर उनके द्वारा कुटुम्बियों को अपने में विश्वास उत्पन्न कराये अथवा उनके पास गुप्तचर नियुक्त करें[279] । पुत्र, भार्या बगैरह कुटुम्बीजनों का मूर्खतापूर्ण दुराग्रह अच्छी युक्तियों द्वारा नष्ट कर देना चाहिए[280] ।

(5) प्रजापालन :- वह क्या राजा है, जो अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता है[281]। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजाकार्य को स्वंय ही देखे[282] । जिस प्रकार ग्वाला आलस्य रहित होकर बड़े प्रयत्न से गायों की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए[283]। राजा के रक्षणकार्य की कुछ रीतियाँ निम्नलिखित है, जिन्हें ग्वाले के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है-

(क) अनुरुप दण्ड देना:- यदि गायों के समूह में से कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वाला उसे अंगच्छेदन आदि कठोर दण्ड नहीं देता हुआ अनुरुप दण्ड से नियंत्रित कर जैसे उसकी

रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा की रक्षा करना चाहिए। कठोर दण्ड देने वाला राजा अपनी प्रजा को अधिक उद्विग्न कर देता है। इसलिए प्रजा उसे छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजा के विरक्त हो जाते हैं[284]।

(ख) मुख्यवर्ग की रक्षा :- जिस प्रकार ग्वाला अपनी गायों के समूह में मुख्य पशुओं के समूह की रक्षा करता हुआ पुष्ट (सम्पत्तिवान्) होता है, क्योंकि गायों की रक्षा करके वह विशाल गोधन का स्वामी हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्यवर्ग की प्रमुख रुप से रक्षा करता हुआ अपने और दूसरे के राज्य में पुष्टि को प्राप्त होता हैं[285]। जो राजा अपने अपने मुख्य बल से पुष्ट होता है वह समुद्रान्त पृथ्वी को बिना किसी यत्न के जीत लेता हैं[286]।

(ग) घायल और मृत सैनिकों की रक्षा :- यदि प्रमाद से किसी गाय का पैर टूट जाय तो ग्वाला बाँधना आदि उपायों से उस पैर को जोड़ता है, गाय को बाँधकर रखता है, बंधी हुई गाय को तृण देता है और उसके पैर को मजबूत करने का प्रयत्न करता है तथा पशुओं पर अन्य उपद्रव आने पर भी वह उसका शीघ्र प्रतीकार करता है, इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह सेना में घायल हुए योद्धा को उत्तम वैद्य से औषधि दिलाकर उसकी विपत्ति का प्रतीकार करे और वह वीर जब अच्छा हो जाय तो उसकी आजीविका का विचार करे। ऐसा करने से भृत्यवर्ग सदा सन्तुष्ट बने रहते हैं। जिस प्रकार ग्वाला गोठ से गाय की हड्डी विचलित हो जाने पर उस हड्डी को वहीं पैठालता हुआ उसका योग्य प्रतीकार करता है, उसी प्रकार राजा को भी संग्राम में किसी मुख्य भृत्य के मर जाने पर उसके पद पर उसके पुत्र अथवा भाई को नियुक्त करना चाहिए। ऐसा करने से भृत्यलोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ हैं' ऐसा मानकर अनुराग करने लगेंगे और अवसर पड़ने पर निरन्तर युद्ध करने वाले बन जायेंगे[287]।

(घ) सेवकों की दरिद्रता का निवारण तथा सम्मान:- गायों के समूह को कोई कीड़ा काट लेता है तो ग्वाला योग्य औषधि देकर उसका प्रतीकार करता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि अपने सेवक को दरिद्र अथवा खेदखिन्न जान उसके चित्त को सन्तुष्ट करे। जिस सेवक को उचित आजीविका प्राप्त नहीं हे, वह अपने स्वामी के इस प्रकार के अपमान से विरक्त हो जायेगा, अत: राजा कभी अपने सेवक को विरक्त न करे। सेवक की दरिद्रता को घाव के स्थान में कीड़े उत्पन्न होने के समान जानकर राजा को शीघ्र ही उसका प्रतीकार करना चाहिए। सेवकों को अपने स्वामी से उचित सम्मान प्राप्त कर जैसा सन्तोष होता है, वैसा सन्तोष बहुत धन देने पर भी नहीं होता है। जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओं के झुण्ड में किसी बड़े बैल को अधिक भार धारण करने में समर्थ जानकर उसके शरीर की पुष्टि के लिए नाक में तेल डालना आदि कार्य करता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह अपनी सेना में किसी योद्धा को अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सम्मानित करे। जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करने वाले वीर पुरुष को उसके योग्य सत्कारों से सन्तुष्ट रखता है, उसके भृत्य उस पर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं[288]।

(ङ) योग्य स्थान पर नियुक्ति :- जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओं को काँटे और पत्थरों से रहित तथा शीत और गर्मी आदि की बाधा से शून्य वन में चराता हुआ बड़े प्रयत्न से उसका पोषण करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपने सैनिक को किसी उपद्रवहीन स्थान में रखकर

उनकी रक्षा करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य का परिवर्तन होने पर, चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकों को पीड़ा देने लगेंगे[289]।

(च) कण्टक शोधन:- राजा को चाहिए वह चोर, डाकू आदि की आजीविका बलात् नष्ट कर दें, क्योंकि काँटो को दूर कर देने से ही प्रजा का कल्याण हो सकता है[290]।

(छ) सेवकों को आजीविका देना:- जिस प्रकार ग्वाला नवीन उत्पन्न हुए बच्चे को एक दिन तक माता के साथ रखता है, दूसरे दिन दया युक्त हो उसके पैर में धीरे से रस्सी बाँधकर खूँटी से बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभि के नाल को बड़े यत्न से दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होने की शंका होने पर उसका प्रतीकार करता हैं। और दूध पिलाना आदि उपायों से उसे प्रतिदिन बढ़ाता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह आजीविका के हेतु अपनी सेना के विरुद्ध आये हुए सेवकों को उनके योग्य आदर सम्मान से सन्तुष्ट करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकों की प्रशस्त आजीविका आदि का विचार कर उनके साथ योग और क्षेम का प्रयोग करना चाहिए[291]। अर्थात जो वस्तु उनके पास नहीं है, वह उन्हें देनी चाहिए और जो वस्तु उनके पास है, उसकी रक्षा करनी चाहिए।

(ज) योग्य पुरुषों की नियुक्ति :- शकुन आदि का निश्चय करने में तत्पर रहने वाला ग्वाला जब पशुओं को खरीदने के लिए तैयार होता है तब वह (दूध आदि की) परीक्षा कर उनमें से अत्यन्त गुणी पशु खरीदता है, उसी प्रकार राजा को भी परीक्षा किए हुए उच्चकुलीन पुत्रों को खरीदना चाहिए और आजीविका के मूल्य से खरीदे हुए उन सेवकों को समयानुसार योग्य कार्य में लगा देना चाहिए क्योंकि वह कार्यरुपी फल सेवकों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार पशुओं को खरीदने में किसी को प्रतिभू (साक्षी) बनाया जा सकता है उसी प्रकार सेवकों का संग्रहण करने में भी किसी बलवान् पुरुष को प्रतिभू (साक्षी) बनाना चाहिए[292]।

(झ) कृषिकार्य में योगदेना:- जिस प्रकार ग्वाला रात्रि में प्रहरमात्रशेष रहने पर उठकर जहाँ बहुत सा घास, पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थान में गायों को बड़े प्रयत्न से चराता है तथा बड़े सवेरे ही वापिस लाकर बछड़े के पीने से बाकी बचे हुए दूध को मक्खन आदि प्राप्त करने की इच्छा से दुह लेता है, उसी प्रकार राजा को भी आलस्यरहित होकर अपने अधीन ग्रामों में बीज देना आदि साधनों द्वारा किसानों से खेती कराना चाहिए। वह अपने समस्त देश में किसानों द्वारा भली भाँति खेती कराकर धान्य संग्रह करने के लिए उनमें न्यायपूर्ण उचित अंश ले। ऐसा होने से उसके भंडार आदि में बहुत सी सम्पदा इकट्ठी हो जायेगी। उससे उसका बल बढ़ेगा तथा सन्तुष्ट करने वाले धान्यों से उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जाएगा[293]।

(ज) अक्षरम्लेच्छों को वश में करना :- अपने आश्रित स्थानों पर प्रजा के दुख देने वाले जो अक्षरम्लेच्छ हैं। उन्हें कुल शुद्धि प्रदान करना आदि उपायों से अपने अधीन करना चाहिए। अपने राजा से सत्कार पाकर वे फिर उपद्रव नहीं करेंगे। यदि राजाओं से उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते रहेंगे[294]। जो अक्षरम्लेच्छ अपने ही देश में संचार करते हो, उनसे राजा को कृषकों की तरह कर अवश्य लेना चाहिए[295]। जो अज्ञान के बल से अक्षरों द्वारा उत्पन्न हुए अंहकार को धारण करते हैं, पापसूत्रों से आजीविका करने वाले वे अक्षरम्लेच्छ

कहलाते हैं। हिंसा करना, मांस खाने से प्रेम रखना, बलपूर्वक दूसरे का धन अपहरण करना और धूर्तता करना यही म्लेच्छों का आचार है[296]।

(ट) प्रजारक्षण :- राजा को तृण से समान तुच्छ पुरुष की भी रक्षा करना चाहिए[297]। जिस प्रकार ग्वाला आलस्य रहित होकर अपने गोधन की व्याघ्र, चोर आदि उपद्रवों से रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा की रक्षा करना चाहिए जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओं को देखने की इच्छा से राजा के आने पर भेंट लेकर उनके समीप जाता है और धन सम्पदा के द्वारा उसे सन्तुष्ट करता है, उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्य के सम्मुख आवे तो वृद्ध लोगों के साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए चूंकि युद्ध बहुत से लोगों के विनाश का कारण है, उसमें बहुत सी हानियाँ होती है और उसका भविष्य भी बुरा होता है अत: कुछ देकर बलवान् शत्रु के साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है[298]।

(6) सामञ्जस्य अथवा समञ्जसत्त्व धर्म का पालन:- राजा अपने चित्त का समाधान कर जो दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता वही उसका सामन्जस्य गुण कहलाता है जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनों का निग्रह करता है, जिसे किसी का पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा करता है और इस प्रकार माध्यस्थ्यभाव रखकर जो सब पर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है। प्रजा को विषम दृष्टि से न देखना तथा सब पर समान दृष्टि रखना समञ्जसत्व धर्म है। इस समंजसत्व गुण से ही राजा को न्यायपूर्वक आजीविका करने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन और दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए। जो पुरुष हिंसा आदि दोषों में तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, सन्तोष आदि के द्वारा धर्म धारण करन में तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं[299]।

आचार्य सोमदेव ने भी कहा है - अपराधियों को सजा देना (दुष्ट निग्रह) और सज्जनों की रक्षा करना (शिष्ट परिपालन) राजाओं का धर्म हैं[300]। जो व्यसनी पुरुष के हृदय प्रिय बनकर अनेक नैतिक उपाय द्वारा उसे उन अभिलषित वस्तुओं (मद्यपानादि) से, जिनमें उसे व्यसन (निरन्तर आसक्ति) उत्पन्न हुआ है, विरक्ति उत्पन्न करते हैं, उन्हें योगपुरुष (शिष्ट) कहते हैं[301]। राजलक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त अपने शिष्टमण्डल परिपालन व दुष्टनिग्रह आदि सद्गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाला राजा विष्णु के समान कहा गया है[302]। साधु पुरुषों के साथ अन्याय का व्यवहार करने वाला अपने हाथों से अंगार खीचने के समान अपनी हानि करता है[303]। राजा आज्ञाभंग करने वाले पुत्र पर भी क्षमा न करे[304]। जिसकी आज्ञा प्रजाजनों द्वारा उल्लघंन की जाती है, उसमें और चित्र के राजा में क्या अन्तर है[305] ? जो राजा शिष्ट पुरुषों के साथ नम्रता का व्यवहार करता है वह इसलोक और स्वर्ग में पूजा जाता है[306]।

(7) दुराचार का निषेध करना - दुराचार का निषेध करने से धर्म, अर्थ और काम तीनों की वृद्धि होती है, क्योंकि कारण के विद्यमान होने पर कार्य की हानि नहीं देखी जाती है[307]।

(8) लोकापवाद से भयभीत होना- राजा को लोकापवाद से डरते हुए कार्य करना चाहिए, क्योंकि लोक में यश ही स्थिर रहने वाला है। सम्पत्तियाँ तो विनाशशील है[308]।

राजमण्डल के प्रति कर्तव्य :- राजमण्डल निम्नलिखित समूह से बनता है : (1) उदासीन (2)मध्यम (3) विजिगीषु (4) अरि (5) मित्र (6) पार्णिग्राह (7) आक्रन्द (8) आसार (9) अन्तर्दिध । राजा को इन्हें अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

उदासीन :- अपने देश में वर्तमान जो राजा किसी अन्य विजिगीषु (विजय के इच्छुक) राजा के आगे, पीछे या समीपवर्ती स्थित हो और मध्यम आदि युद्ध करने वालों के निग्रह करने में और उन्हें युद्ध से रोकने में सामर्थ्यवान् होने पर भी किसी कारण से या किसी अपेक्षावश दूसरे राजा के प्रति जो उपेक्षाभाव रखता है, उससे युद्ध नहीं करता है, उसे उदासीन कहते हैं[310] ।

मध्यम या मध्यस्थ - जो उदासीन की तरह मर्यादातीत मण्डल का रक्षक होने से अन्य राजा की अपेक्षा प्रबल सैन्य से शक्तिशाली होने पर भी किसी कारणवश विजय की कामना करने वाले अन्य राजा के विषय में मध्यस्थ बना रहता है, उसे मध्यस्थ कहते हैं[311] ।

विजिगीषु- जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो चुका हो तथा भाग्यशाली खजाना आदि द्रव्य से युक्त, मंत्री आदि प्रकृति से संयुक्त, राजनीति में निपुण एवं शूरवीर हो उसे विजिगीषु कहते हैं[312] ।

अरि - जो अपने निकट सम्बन्धियों का अपराध करता हुआ कभी भी प्रतिकूल आचरण करने से बाज नहीं आता उसे अरि कहते हैं[313] ।

मित्र - मित्र का लक्षण पहले कहा जा चुका है ।

पार्णिग्राह - विजिगीषु के शत्रु राजा के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर बाद में जो क्रुद्ध होकर उसके देश को नष्ट भृष्ट कर डालता है, उसे पार्णिग्राह कहते हैं[314]।

आक्रन्द - जो प्राणिग्राह से विपरीत चलता है अर्थात विजगीषु की विजययात्रा में हर प्रकार से सहायता करता है, उसे आक्रन्द कहते हैं[315] ।

आसार - जो पाणिग्राह से विरोध रखता हो ओर आक्रन्द का मित्र हो, वह आसार है[316]।

अन्तर्द्धि - शत्रु और विजिगीषु दोनों राजाओं मे जीविका प्राप्त करने वाला तथा पर्वत और अटवी में रहने वाला अन्तर्द्धि है ।

शत्रु के कुटुम्बियों के प्रति राजकर्त्तव्य - राजा शत्रु का अपकार करके उसके शक्तिहीन कुटुम्बियों को भूमिप्रदान कर उन्हें अपने अधीन बनाए अथवा (यदि बलिष्ट हों तो) उन्हें क्लेशित करे[317] ।

परदेश में रहने वाले स्वदेशी व्यक्ति के प्रति राजकर्त्तव्य - राजा का कर्त्तव्य है कि वह परदेश में प्राप्त हुए अपने स्वदेशवासी मनुष्य को, जिससे कि इसने कर ग्रहण किया हो अथवा न भी किया हो, दान सम्मान से वश में करे ओर अपने देश के प्रति अनुरागी बनाकर उसे वहां से लौटाकर अपने देश में बसाए[318] ।

सहायकों के प्रति राजकर्त्तव्य - कार्य के समय सहायकपुरुषों का मिलना दुर्लभ है[319] । अत: स्वामी को अपने अधीन सेवकों को इतना पर्याप्त धन देना चाहिए, जिससे वे सन्तुष्ट हो

सके[320]। उपजाऊ खेत में बोए हुए बीज की तरह सहायक पुरुषों को दिया हुआ धन निःसन्देह अनेक फल देता है[321]। सहायक पुरुषों के संग्रह की अपेक्षा धन को उत्कृष्ट नहीं मानना चाहिए[322]। राजदोष तथा स्वंय के अपराधों के कारण जिनकी जीविका नष्ट कर दी गई है। वे मन्त्री आदि क्रोधी, लोभी, भीत और तिरस्कृत होते हैं, उन्हें कृत्या के समान महाभंयकर जानना चाहिए[323]। मंत्री और पुरोहित हितैषी होने के कारण राजा के माता पिता अतः उसे उनको किसी भी अभिलषित पदार्थ में निराश नहीं करना चाहिए[324]। समस्त क्रोधों की अपेक्षा (मन्त्री और सेनापति आदि) प्रकृत्ति का क्रोध विशेष कष्टदायक होता है[325]। राजाओं को अपने समस्त कार्यों का आरम्भ सुयोग्य मंत्रियों की सलाह से करना चाहिए[326]। जो राजा मंत्रियों की बात का उल्लंघन करता है, उनकी बात नहीं सुनता है, वह राजा नहीं रह सकता है[327]। अतः राजा अपने आश्रित (आमात्य आदि) के साथ अनुरक्त दृष्टि और मधुरभाषण आदि का व्यवहार समान रखें, क्योंकि पक्षपातपूर्ण समदृष्टि से राजतन्त्र की श्रीवृद्धि होती है व अमात्य आदि उससे अनुरक्त रहते हैं[328]। जिनके अपराध कौटुम्बिक सम्बन्ध आदि के कारण दवाई करने के अयोग्य हैं ऐसे अपराधियों को खाई खुदवाना, किले में काम कराना, नदियों के पुल बंधवाना, खान से धातु निकलवाना। आदि कार्यों में नियुक्त कर क्लेषित करे[329]। कृत्या के समान राज्यक्षति करने वाले कारणवश क्षुब्ध हुए अधिकारियों को वश में करने के निम्नलिखित उपाय हैं[330]।

(1) अधिकारियों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना। (2) अभयदान।
(3) त्याग -धन देना। (4) सत्कार।

व्यापारियों के प्रति राजकर्तव्य : तौलने और नापने के पात्र जहाँ अव्यवस्थित होते हैं, वहाँ व्यवहार नष्ट हो जाता है[331]। जिसके राज्य में व्यापारी (वणिग्जन) वस्तुओं का मूल्य स्वेच्छानुसार बढ़ाकर धनसंचय करते हैं, वहाँ प्रजा को और बाहर से आए हुए लोगों को कष्ट होता है[332]। अतः समस्त वस्तुओं का मूल्य देश काल पदार्थ की अपेक्षा होना चाहिए[333]। राजा को उन व्यापारियों की जाँच पड़ताल करना चाहिए जो बहुत मूल्य वाली वस्तु व अल्पमूल्य वाली वस्तु की मिलावट करते हैं अथवा नापने तोलने के बाटों में कमी बढ़ती रखते हैं[334]। वणिग्जनों को छोड़कर दूसरे कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं है[335]। यदि व्यापारी लोग स्वार्थवश वस्तु का मूल्य बढ़ा दें तो राजा उसे यथोचित मूल्य पर उसे बिकवाए[336]। अन्न का संग्रह करके अकाल पैदा करने वाले व्यापारी अन्याय की वृद्धि करते हैं। इससे तन्त्र (सैन्य आदि) तथा देश का नाश हो जाता है[337]। वार्दधुषिकों लोभवश राष्ट्र का अन्न वगैरह संचित कर दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारियों को कार्य, अकार्य के विषय में लज्जा नहीं होती है[338]।

अन्य कर्त्तव्य - राजा मौके पर अपना राजदरबार खुला रखे, जिससे प्रजा उसका दर्शन सुलभता से कर सके[339]। वह अपना प्रयोजन ऐसे व्यक्ति से न करे जो उसे सिद्ध करने में असमर्थ हो, ऐसा जंगल में रोने के समान है[340]। राजा को अपराधी के साथ कथागोष्टी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे लोग घर में प्रविष्ट हुए साँप की तरह समस्त आपित्तयों के आगमनद्वार होते हैं[341]। बुद्धि, धन और युद्ध में जो सहायक होते हैं, वे कार्य पुरुष हैं[342]। जिस राजा के बहुत से सहायक होते हैं उसके सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं[343]। राजा को अपने सहायकों की परीक्षा करना चाहिए। जिस तरह भोजन के समय सभी सहायक हो जाते हैं[344], उसी प्रकार सामान्य स्थिति में सभी सहायक होते हैं। जो विपत्ति के समय सहायक हो, वही सच्चा सहायक है।

राजा के गुण – पद्मचरित में प्रतिबिम्बित राजा के गुण –रविषेण के अनुसार राजा को शूरवीर होना चाहिए। शूरवीरता के द्वारा राजा समस्त लोगों की रक्षा करता है। राजा को नीतिपूर्वक कार्य करना चाहिए। जो राजा अहंकार से ग्रस्त नहीं होता[345], शस्त्रविषयक व्यायाम से विमुख नहीं होता, आपत्ति के समय कभी व्यग्र नहीं होता, जो मनुष्य उसके समक्ष नम्रीभूत होते हैं उनका सम्मान करता है, दोषरहित सज्जनों को ही रत्न समझता है, जिसमें दान दिया जाता है ऐसी क्रियाओं को कार्यसिद्धि का श्रेष्ठ साधन समझता है[346], समुद्र के समान गम्भीर होता है तथा परमार्थ को जानता है[347]। ऐसा राजा श्रेष्ठ माना गया है। राजा को जिनशासन (धर्म) के रहस्य को जानने वाला, शरणागत वत्सल, परोपकार में तत्पर, दया से आर्द्रचित, विद्वान विशुद्ध हृदय वाला, निन्द कार्यों से निवृत्तबुद्धि पिता के समान रक्षक, प्राणिहित में तत्पर, दीन हीन आदि का तथा विशेषकर मातृजाति का रक्षक, शुद्धकार्य करने वाला, शत्रुओं को नष्ट करने वाला, शस्त्र और शास्त्र का अभ्यासी, शान्तिकार्य में थकावट से रहित, परस्त्री को अजगर सहित कूप के समान जानने वाला, संसार पात के भय से धर्म में सदा आसक्त, सत्यवादी और अच्छी तरह से इन्द्रियों को वश में करने वाला होना चाहिए[347]। जो राजा अतिशय बलिष्ठ तथा शूरवीरों की चेष्टा को धारण करने वाले होते हैं वे कभी भी भयभीत, ब्राह्मण, निहत्थे, स्त्री, बालक, पशु और दूत पर प्रहार नहीं करते हैं[348]। बहुत बड़े खजाने का स्वामी होकर जो राजा पृथ्वी की रक्षा करता है और परचक्र (शत्रु) के द्वारा अभिभूत होने पर भी जो विनाश को प्राप्त नहीं होता तथा हिंसा धर्म से रहित एवं यज्ञ आदि में दक्षिणा देने वाले लोगो की जो रक्षा करता है, उस राजा को भोग पुन: प्राप्त होते हैं[349]। श्रेष्ठ राजा लोकतन्त्र को जानने वाला होता है[350]। राजा अस्त्र वाहन कवच आदि देकर अन्य राजाओं का सम्मान करता है[351]। राजा सत्य बोलने वाला तथा जीवों का रक्षक होता है। जीवों की रक्षा करने के कारण राजा ऋषि कहलाने योग्य है, क्योंकि जो जीवों की रक्षा में तत्पर है वे ही ऋषि कहलाते हैं[352]।

वरांगचरित में प्रतिबिम्बित राजा के गुण –वरांगचरित में धर्मसेन और वरांग आदि राजाओं के गुणों का वर्णन किया गया है। इन गुणों को देखने पर ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दि उपर्युक्त राजाओं के बहाने श्रेष्ठ राजा के गुणों का ही वर्णन कर रहे हैं। इस दृष्टि से एक अच्छे राजा के निम्नलिखित गुण प्राप्त होते हैं -

राजा को आख्यायिका, गणित तथा काव्य के रस को जानने वाला, गुरुजनों की सेवा का व्यसनी, दृढ़ मैत्री रखने वाला, प्रमाद, अहंकार, मोह तथा ईर्ष्या से रहित, सज्जनों और भली वस्तुओं का संग्रह करने वाला, स्थिर मित्रों वाला, मधुरभाषी, निर्लोभी, निपुण और बन्धु बान्धवों का हितैषी होना चाहिए[353]। उसका आन्तरिक और वाह्य व्यक्तित्व इस प्रकार हो कि वह सौन्दर्य द्वारा कामदेव को, न्यायनिपुणता से शुक्राचार्य को, शारीरिक कान्ति से चन्द्रमा को, प्रसिद्ध यश के द्वारा इन्द्र को, दीप्ति के द्वारा सूर्य को, गम्भीरता तथा सहनशीलता से समुद्र को और दण्ड के द्वारा यमराज को भी तिरस्कृत कर दे[354]। अपनी स्वाभविक विनय से उत्पन्न उदार आचरणों तथा महान् गुणों द्वारा वह उन लोगों के भी मन को मुग्ध कर ले, जिन्होंने उसके विरुद्ध वैर की दृढ़ गाँठ बाँध ली हो[355]। वह कुल शील, पराक्रम, ज्ञान, धर्म तथा नीति में बढ़ चढ़कर हो[356]। राजा को चाहिए कि उसके अनुगामी सेवक उससे सन्तुष्ट रहें तथा प्रत्येक कार्य को तत्परता से करें, उसके मित्र समीप में

हो और वह हर समय सम्बन्धियों से आश्रित न रहे[357]। प्रबुद्ध और स्थिर होना राजा का बहुत बड़ा गुण है। जो व्यक्ति स्वयं जागता है, वही दूसरों को जगा सकता है। जो स्वयं स्थिर है, वह दूसरों की डगमग अवस्था का अन्त कर सकता है। जो स्वयं नहीं जागता है और जिसकी स्थिति अत्यन्त डॉवाडोल है, वह दूसरों को न तो प्रबुद्ध कर सकता है और न स्थिर कर सकता है[358]। राजा की कीर्ति सब जगह फैली होनी चाहिए कि वह न्यायनीति में पारंगत, दुष्टों को दण्ड देने वाला, प्रजा का हितैषी और दयावान् है[359]। राजा राज सभा में पहिले जो घोषणा करता है, उसके विपरीत आचरण करना आयुक्त तथा धर्म के अत्यन्त विरुद्ध है। इस प्रकार के कार्य का सज्जनपुरुष परिहास करते हैं[360]। राजा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थी का इस ढंग से सेवन करे कि उसमें से किसी एक का अन्य से विरोध न हो। इस व्यवस्थित क्रम को अपनाने वाला राजा अपनी विजयपताका फहरा देता है[361]। राजा की दिनचर्या ऐसी होनी चाहिए कि वह प्रात: काल से सन्ध्या समय तक पुण्यमय उत्सवों में व्यस्त रहे। अपने स्नेही बन्धु, बान्धव, मित्र तथा अर्थिजनों को भेंट आदि देता रहे[362]। ऐसे राजा की प्रत्येक चेष्टा प्रजा की दृष्टि में प्रामाणिक होती है[363], अत: वह उस पर अडिग विश्वास रखती है। राजा का विवेक आपत्तियों में भी कम नहीं होना चाहिए। संकट के समय भी वह किसी प्रकार की असमर्थता का अनुभव न करे तथा उसे अपने कार्यों का इतना अधिक ज्ञान हो कि कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, शत्रु पक्ष आत्मपक्ष तथा मित्र और शत्रु के स्वभाव को जानने में उसे देर न लगे[364]। जिस राजा का अभ्युदय बढ़ता है उसके पास अङ्गनायें, अच्छे मित्र, बान्धव, उत्तम रत्न, श्रेष्ठहाथी, सुलक्षण अश्व, दृढ़ रथ आदि हर्ष तथा उल्लास के उत्पादक नूतन-नूतन साधन अनायास ही आते रहते है[365]। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य में पड़े हुए निराश्रित बच्चे, बुड्ढों तथा स्त्रियों, अत्यधिक काम लिए जाने के कारण स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर किसी भी कार्य के अयोग्य श्रमिकों, अनाथों, अन्धों, दीनों तथा भंयकर रोगों में फसे हुए लोगों की सामर्थ्य, असामर्थ तथा उनकी शारीरिक, मानसिक दुर्बलता आदि का पता लगाकर उनके भरण पोषण का प्रबन्ध करे[366]। जिन लोगों का एक मात्र कार्य धर्मसाधना हो उसे गुरु के समान मानकर पूजा करे तथा जिन लोगों ने पहिले किए गए वैर की क्षमा याचना करके शान्त करा दिया हो उनका अपने पुत्रों के समान भरण पोषण करे, किन्तु जो अविवेकी घमण्ड में चूर होकर बहुत बढ़ चढ़कर चलें अथवा दूसरों को कुछ न समझें उन लोगों को अपने देश से निकाल दे[367]। जो अधिकारी अथवा प्रजाजन स्वभाव से कोमल हों, नियमों का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करें, अपने कर्त्तव्यों आदि को उपयुक्त समय के भीतर कर दें, उन लोगों को समझने तथा पुरस्कार आदि देने में वह अत्यन्त तीव्र हो[368]। राजा को प्रजा का अत्यधिक प्यारा होना चाहिए। वह सब परिस्थितियों में शान्त रहे और शत्रुओं का उन्मूलन करता हुआ अपनी ऋद्धियों को बढ़ाता रहे[369]।

द्विसन्धान महाकाव्य में प्रतिबिम्बित राजा के गुण - द्विसन्धान महाकाव्य में धनञ्जय ने दशरथ, पाण्डु, राम, कृष्ण आदि राजाओं और उनके गुणों का वर्णन किया है। उक्त वर्णन के आधार पर राजा के गुणों के विषय में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है -

राजा को ऋषियों द्वारा प्रणेत धार्मिक संयम के विषय में दिन रात जागरुक, चन्द्रमा की क्रान्ति के समान धवल, नगर लक्ष्मी के मुख की शोभा का विकासक, वृद्धिगत राजलक्ष्मी का स्वामी, भीषण पराक्रमी[370], गुरु को कुलदेवता मानकर अपनी सम्पत्ति देने वाला, अपने भाई बन्धुओं को

गुरु के समान बहुत मानने वाला, अपने अनुगामियों को अपने समान समझने वाला तथा अपने वंश के अनुरूप सेवकों को भी मित्र के समान सम्मान देने वाला होना चाहिए[371]। उपस्थित यथायोग्य समस्त कार्यों को करते समय वह आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इन चार प्रकार की राजविद्या, व्यवहार तथा सामादि उपायों के विचार को एक क्षण के लिए भी न छोड़े तथा कहीं भी हाथी, रथ, घोड़ा तथा पदातिमय सेना से अलग न हो[372]। उसे दूसरों की सुखप्राप्ति तथा दु:ख हानि की चिन्ता से प्रेरित होकर स्वयं ही लोकोपकारक कार्यों में लगा रहना चाहिए। अपने वैभव और सम्पत्ति के कारण उसके मन में अहंकार न आए। वह कभी भी प्रमाद में न पड़े और न खेदखिन्न ही हो तथा अपने दिन-रात के कार्यों का विभाजन करके जीवन व्यतीत करे[373]। राजा का जन्म ही परमार्थ के लिए होता है। वह संसार के विनाश के भय से शत्रुओं का संहार करता है, सन्तान की इच्छा से कामसेवन करता है, प्रजा से कर भी दूसरों को देने के लिए लेता है[374]। राजा को अप्रमादी होने के लिए आवश्यक है कि वह उस घोड़े या हाथी पर न चढ़े जिस पर अनुगत आत्मीयजन न बैठ चुके हों, उस वन में न जाए, जिसमें पहिले उसके आदमी न घूम आए हों। सिद्ध आदि वेषधारी साधुओं से यकायक भेंट न करें और अन्त:पुर में भी अकेला प्रवेश न करे। राजा का आचरण ऐसा होना चाहिए जिसके कारण न तो शत्रु उसकी निन्दा कर पायें और न उन्हें इस पर अनुग्रह करने का ही अवसर मिले। उसका आक्रमण न तो सिंह अविपारित और आत्मविनाशक आक्रमण के समान हो और न उसकी कूटनीति का प्रयोग शृंगाल के समान अत्यधिक भयभीत होकर चलने का हो[375]। राजा का रोष तथा प्रसन्नता रूपी गुण वटवृक्ष के समान बिना फूल दिए ही फल दें। जब वह शत्रुओं का संहार करना चाहे तभी रुष्ट हो और जब (दूसरों को) धनादि देने की इच्छा करे, तभी प्रसन्न हो[376]। युवकों और वृद्धों के विरोध को वह दूर करे[377]। राजा के वचन सत्य हों, अनुष्ठानों का परिणाम उपयुक्त और अनुकूल हो, कृतज्ञता को वह अपनी विशाल सम्पत्ति से नापे, उसकी अभिलाषित विजय की इच्छा समस्त दिशाओं में व्याप्त हो तथा कुटुम्बिता की भावना समस्त संसार के भरणपोषण में समर्थ हो[378]।

राजा का यह धर्म है कि वह नीतियों का प्रतिपालक व सज्जनों का रक्षक हो तथा उसके राज्य में अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि[379] ईतियों की प्रचुरता न हो[380]। न्यायमार्ग में लीन रहकर सबको सुखकर धार्मिक राज्य द्वारा राजा अपना तथा प्रजा का माहात्म्य प्रकट करे381। नीतिशास्त्र का यही प्रथम पाठ है कि राजा अपने छिद्रों और शत्रु के आघातों को शान्त कर दे तथा वैभव के द्वारा अपने पक्ष दुर्ग आदि अथवा शत्रु पर किए प्रबल प्रहारों को सुपुष्ट करे तथा शत्रु की दुर्बलताओं और समर्थकों को अपने वश में करे[382]। राजा को चंचल नहीं होना चाहिए। स्वयं जो चंचल होता है वह अतिक्रमणशील के सामने नहीं टिक सकता है[383] तथा उसे निराश होकर लौटना पड़ता है[384]। जो राजा वीर होता है वह बाहु से शास्त्र ग्रहण करके प्रिय लोगों के दु:ख का विनाश करता है, किन्तु हा हा शब्द से निन्दित वंश परम्परा के उन्मूलक भीरु के द्वारा कुछ भी नहीं होता है[385]। महान् धैर्य, पराक्रम, गम्भीरता तथा समय से अपना कार्य पूरा करने की प्रकृति के धारक राजा और समुद्र में क्षोभ के सिवा कोई अन्तर नहीं होता है[386]। जिस राजा का अपना सामन्त मण्डल दुर्बल अथवा उदासीन हो तथा प्रबल शत्रु के प्रहार हो रहे हों वह अपने राज्य से च्युत हो जाता है[387]। राजा को अनाचरण नहीं करना चाहिए। निराकरण करने रूप से पापाचरण में लीन लोगों की चर्चा करने पर भी सुनने वालों को शान्ति हो जाती है तथा अनीतिमान् का निर्वाह हो जाता है किन्तु लोकलाज

छोड़कर यदि देवतास्वरूप नृपति ही अनाचरण करने लगें तो कैसे चलेगा[388] ? जो राजा दुष्ट होता है वह ऊँचे पदार्थ (या व्यक्ति) को नीचा कर देता है, नीचे से नीचे पदार्थ (या व्यक्ति) उसे ऊँचे प्रतीत होते है[389] । इस प्रकार उसे कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का भेद समझ में नहीं आता है राजाओं को राजलक्ष्मी का अहंकार नहीं करना चाहिए तथा लक्ष्मी की प्राप्ति की अभिलाषा को मन्द रखना चाहिए, क्योंकि अन्त में शरीर भी पृथ्वी का पालन करने में असमर्थ होकर नीरस हो जाता है[390]। केवल लौकिक कार्यों में कृत्कृत्य होने से ही जीवन चरितार्थ नहीं होता, जन्मान्तर की साधना भी आवश्यक है जिस प्रकार केवल दुपट्टे (उत्तरीय) से ही शरीर की लज्जा नहीं ढँकती है अपितु परिधान (अधरीय) भी आवश्यक होता है[391] । मृत्युकाल उपस्थित होने पर भी राजा को प्रकृति में स्थिर, महान पराक्रमी तथा मनोभावों का ज्ञाता होना चाहिए, मन से व्याकुल होकर कदापि नहीं रहना चाहिए, क्योंकि अन्त समय आने पर मृत्यु भीत पुरुष को भी नहीं छोड़ती है[392] । सम्पत्ति, शिक्षा, न्याय, स्थायित्व और प्रेम के लिए शस्त्र उठाने वाले प्रखर तेजस्वी राजा शत्रुओं को अपने रोष से ही कीलित कर देते हैं[393] । जो राजा राजनीति की भूमि के ऊपर आमात्यादि सात राजतन्त्र के मूलों को स्थिर करता हुआ समस्त दिशाओं में अपने कुल के ही शखा राजाओं का प्रसार करता है तथा अनायास ही सुख शान्ति रूप फलों को देता है वह राजा जनता के लिए कल्पवृक्ष के समान होता है[394] ।

वादीभसिंह के काव्यों में प्रतिबिम्बित राजा के गुण - वादीभसिंह के अनुसार राज्य को प्राप्त कर श्रेष्ठ राजा समस्त गुणों से सुशोभित होता है । हार में पिरोया गया काँच निंदापने को प्राप्त होता है, किन्तु मणिप्रशस्तपने को ही प्राप्त होता है[395] । दु:सह प्रताप के रहने पर भी श्रेष्ठ राजा में सुखोपसेव्यता, सुकुमार रहने पर भी आर्यजनों के योग्य उत्तम आचार, अत्यधिक साहसी होते हुए भी समस्त मनुष्यों की विश्वासपात्रता, पृथ्वी का भार धारण करने पर भी अखिन्नता, निरन्तर दान देने पर भी कोश की अक्षीणता, शत्रुओं के निरस्कार की अभिलाषा होने पर भी परमकारुणिकता, काम की परतन्त्रता होने पर भी अत्यधिक पवित्रता देखी जाती है । उनको इष्टफल की प्राप्ति, कार्यारम्भ की, विद्या को, प्राप्ति बुद्धि को, शत्रुओं का क्षय पराक्रम को, मनुष्यों का अनुराग पर हिततत्परता को, अनाक्रमण प्रताप को, विरुदावली दानको, कवियों का संग्रह काव्यरस की अभिज्ञता को, कल्याण रूप सम्पत्ति दृढ़ प्रतिज्ञा को, लोगों के द्वारा अपने कार्यों को उल्लंघन न होना न्यायपूर्ण नेतृत्व को, धर्मशास्त्र के श्रवण करने की इच्छा तत्वज्ञान को, मुनिजनों के चरणों में नम्रता दुष्ट अभिमान के अभाव को, दान के जल से गीला किया हुआ हाथ माननीयता को, जिनेन्द्रदेव की पूजा परमधार्मिकता को और छुद्र पशुओं का अभाव नीतिनिपुणता को चुपचाप सूचित करता है[396] । जिस प्रकार धान के खेत में बीज बोने वाले किसान आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार (उत्तम) राजा को कर देना भी प्रीतिकर होता है[397] । वह मन्दमुसकान से इष्ट कार्य सिद्ध कर आए हुए सामन्तों में, कटाक्षपात से प्रसन्नता को प्राप्त मनुष्यों के लिए हजारों दीनारों के देने में, कर्णदान से अनेक देशों से आने वाले गुप्तचरों के वचन सुनने में, प्रतिबिम्ब के बहाने विद्याधर राजाओं के मुकुटों में और नेत्र से मित्र के शरीर में निवास करता है[398]। उसके दान गुण के द्वारा कल्पवृक्ष की महिमा मन्द पड़ जाती है[399] । वह पराक्रम से राजाओं के शरीर अथवा युद्ध को नष्ट करता है[400] । रणरूपी सागर को जीतने के लिए जहाज, तलवार रूपी सर्व के विहार के लिए चन्दन

वृक्षों का वन और क्षत्रियधर्मरूप सूर्य के लिए उदयाचल स्वरूप उसके द्वारा पृथ्वी खरीद ली जाती है तथा प्रत्येक दिशा में उसके जयस्तम्भ गाड़ दिए जाते हैं[401] । उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त बड़ों की सेवा करना, विशेषज्ञता, नित्य उद्योगी और निराग्रही होना[402], विद्वानों का एकान्त सेवनीय होना[403], कानों को आनन्द देने वाले चरित का धारण[404], प्रकृति (मंत्री आदि) को वश में करना[405], कवियों की मधुर ध्वनि सुनने के लिए लालायति रहना[406] तथा याचकों का मनोरथ पूर्ण करना[407] राजा के प्रधान गुण हैं ।

आदि पुराण में प्रतिबिम्बित राजा के गुण – राजा अनुराग अथवा प्रेम से अपने मण्डल (देश) को धारण करता है[408] । राजा को अग्रगामी होना चाहिए । यदि राजा आगे चलता है तो अल्प शक्ति के धारक लोग भी उसी कठिन रास्ते से चलने लगते हैं[409] । क्षत्रिय पुत्र को जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यश रूपी धन की ही रक्षा करना चाहिए, क्योंकि इस पृथ्वी में निधियों को गाड़कर अनेक लोग मर चुके हैं । जो रत्न एक हाथ पृथ्वी तक भी साथ नहीं जाते और जिनके लिए राजा लोग मृत्यु प्राप्त करते हैं, ऐसे रत्नों से क्या लाभ है[410] ? राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की सलाह मानना चाहिए, क्योंकि उनकी स्थिति विद्या की अपेक्षा वृद्ध मनुष्यों मे ही होती है[411] । प्रेम और विनय इन दोनों का मिलन कुटुम्बी लोगों में ही सम्भव हो सकता है । यदि[412] उन्हीं कुटुम्बियों में विरोध हो जाय तो उन दोनों की ही गति नष्ट हो जाती है । राजाओं को अपने सम्मान का ध्यान रखना चाहिए । तेजस्वी मनुष्य को जो कुछ अपनी भुजारूपी वृक्ष का फल मिलता है, उनके लिए मोहरूपीलता का फल अर्थात् मोह के इशारे से प्राप्त हुआ चार समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का ऐश्वर्य भी प्रशंसनीय नहीं है । जिस प्रकार डुण्डुभ (पनियाँ साँप) साँप इस इम शब्द को निरर्थक करता है, उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरे की आज्ञा से उपहृत हुई लक्ष्मी को धारण करता है, वह राजा इस शब्द को निरर्थक करता है[413] । उत्तम राजा पराक्रमयुक्त, गम्भीर, उच्चवृत्ति वाला और मर्यादा सहित होता है[414], वह केवल प्रजा से कर ही नहीं लेता है, अपितु उसे देता भी है । वह प्रजा को दण्ड ही नहीं देता है, अपितु उसकी रक्षा भी करता है । इस प्रकार धर्म के द्वारा उसकी विजय होती है[415] ।

उत्तरपुराण में प्रतिबिम्बित राजा के गुण – आचार्य गुणभद्र के अनुसार राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चार विद्याओं में पारंगत होना चाहिए । जिसकी प्रजा दण्ड के मार्ग में नहीं जाती और इस कारण जो राजा दण्ड का प्रयोग नहीं करता, वह श्रेष्ठ माना जाता है[416] । राजा को दानी होना चाहिए । श्रेष्ठ राजा की दानशीलता से पहले के दरिद्र मनुष्य भी कुबेर के समान आचरण करते हैं[417] । राजा सन्धि विग्रहादि छह गुणों से सुशोभित हो और छह गुण उससे सुशोभित हों[418] । पुण्यवान् राजा का शरीर और राज्य बिना वैद्य और मंत्री के ही कुशल रहते हैं[419] । राजा का धन दान देने में, बुद्धि धार्मिक कार्यों में, शूरवीरता प्राणियों की रक्षा करने में, आयु सुख में और शरीर योगोपयोग में वृद्धि को प्राप्त होता रहता है[420] । राजा के पुण्य की वृद्धि दूसरे के आधीन न हो, कभी नष्ट न हो और उसमें किसी तरह की बाधा न आए ताकि वह तृष्णारहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ सुख से रहे[421] । जिस राजा के वचन में सत्यता, चित्त में दया, धार्मिक कार्यों में निर्मलता हो तथा जो प्रजा की अपने गुणों के समान रक्षा करे, वह राजर्षि है[422] । सुजनता राजा का स्वाभीविक गुण हो । प्राणहरण करने वाले शत्रु पर भी वह विकार को प्राप्त न हो[423] । बुद्धिमान् राजा सब लोगों को गुणों के द्वारा अपने में अनुरक्त बनाए ताकि सब लोग उसे प्रसन्न रखें[424] । जिस

प्रकार मुनियों में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सदाचारी और शास्त्रज्ञान से सुशोभित राजा में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा जिस प्रकार संस्कार किए हुए मणि सुशोभित होते हैं उसी प्रकार राजा में अनेक गुण सुशोभित होते हैं[425]। नीति को जानने वाले राजा को इन्द्र और यम के समान कहते हैं, किन्तु इन्द्र के समान राजा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी प्रजा गुणवती होती है और राज्य में कोई दण्ड देने के योग्य नहीं होता है[426] राजा न्यायोपार्जित धन के द्वारा याचकों के समूह को सन्तुष्ट करें[427]। समीचीन मार्ग में चलने वाले राजा के अर्थ और काम भी धर्मयुक्त होते हैं, अत: वह धर्ममय होता है[428]। उत्तम राजा के वचनों में शान्ति, चित्त में दया, शरीर में तेज, बुद्धि में नीति, दान में धन, जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति तथा शत्रुओं में प्रताप रहता है[429]। जिस प्रकार संसार का हित करने वाले सब प्रकार के धान्य समानायकी वर्षा[430] को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं, उसी प्रकार समस्त गुण राजाकी बुद्धि को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं[431]। राजा का मानभंग नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार दाँत का टूट जाना हाथी की महिमा को छिपा लेता है, दाढ़ का टूट जाना सिंह की महिमा को तिरोहित कर देता है, उसी प्रकार मानभंग, राजा की महिमा को छिपा लेता है[431]। नीतिशास्त्र सम्बन्धी अर्थ का निकाय करने में राजाका चरित्र उदारण रूप[432] होना चाहिए। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा भी न्याय का उल्लंघन नहीं करती है, राजा न्याय का उल्लंघन नहीं करता है, धर्म अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग राजा का उल्लंघन नहीं करता है और परस्पर एक दूसरे का भी त्रिवर्ग उल्लंघन नहीं करता है। जिस प्रकार वर्षा से लतायें बढ़ती हैं, उसी प्रकार राजा की नीति से प्रजा सफल होकर बढ़ती है[433]। जिस प्रकार आगे की संख्या पिछली संख्याओं से बढ़ी होती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ राजा पिछले समस्त राजाओं को अपने गुणों और स्थानों से जीतकर बड़ा होता है[434]। उसकी समस्त ऋद्धियाँ है और पुरुषार्थ के आधीन रहती है। वह मन्त्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि वाह्यप्रकृति के क्रोध से रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र का विचार करे। तीन शक्तियों और सिद्धियों से उसे सदा योग और क्षेम का समागम होता रहे, साथ ही सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों की अनुकूलता रखे[435]। अच्छे राजा के राज्य में प्रजा को अयुक्ति आदि पाँच तरह की बाधाओं में से किसी भी प्रकार की बाधा नहीं रहती है[436]। उत्तम राजा का नित्य उदय होता रहता है, उसका मण्डल विशुद्ध (शत्रुरहित) और अखण्ड होता है तथा प्रताप निरन्तर बढ़ता है[437]। ऐसे राजा की रूपादि सम्पत्ति उसे अन्य मनुष्यों के समान कुमार्ग में नहीं ले जाती है[438]। अच्छे राजा के राज्य में प्रजा को अयुक्ति आदि पाँच प्रकार की बाधाओं में कोई बाधा नहीं होती है[439]। शम और व्यायाम राजा के योग और क्षेम की प्राप्ति के साधन है[440]।

चन्द्रप्रभचरित में प्रतिबिम्बित राजा के गुण – राजा का माहात्मय और गुण अचिन्त्य होना चाहिए। वह अपने लोगों का आश्रय हो तथा उसकी चेष्टायें धर्म का नाश करने वाली न हों[441]। राजा की सब सम्पदा परोपकार के लिए होती है। त्याग व दान देने का गुण राजा में स्वाभाविक होना चाहिए[442]। राजा के विभिन्न गुणों की उपमा चन्द्रमा से दी जा सकती है[443]। राजा कलाओं से युक्त होता है, चन्द्रमा भी कलाओं से पूर्ण होता है। राजा (अपने) लोगों का अभिनन्दन करता है, चन्द्रमा भी सब लोगों का अभिनन्दन या आनन्दित करता है। राजा की श्री संसार की श्री से बढ़कर होती है, चन्द्रमा की शोभा भी संसार में बढ़कर होती है। इतना होने पर भी चन्द्रमा प्रदोष (सायंकाल, दोष) से संसर्ग रखने के कारण सर्वथा उज्जवल राजा को नहीं जीत सकता है। राजा अत्यधिक दान दे तो भी उसका अहंकार न करे, काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छह

शत्रुओं को वश में करें, उत्तम लोगों की संगति करे, चुगल खोरों के संसर्ग से दूषित न हो[444]। जो राजा काम, क्रोधादि छह शत्रुओं से अपने मन को नहीं बचा सकता है, उसे मानों तिरस्कार के भय से सब सम्पदायें स्वयं छोड़कर चली जाती है[445]। राजा की कीर्ति सब जगह प्रसिद्ध हो। वह अपने दु:सह पराक्रम से अभिमानी राजाओं को परास्त कर पृथ्वी से कर वसूल करे[446]। राजा को कठोर वृत्ति वाला होना चाहिए। जिस प्रकार कंचुकी अपने तेज से कुलवधुओं को वश में कर लेता है, उसी प्रकार राजा भी अपने तेज से चंचला लक्ष्मी को वश में कर ले[447]। राजा पक्षपात पूर्ण दृष्टि से दूषित न हो[448]। वह अपने निर्मल और प्रसिद्ध गम्भीरता गुण से समुद्र की गम्भीरता के यशरूपी धन को लूट ले[449]। राजविद्या के अध्ययन से जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गई है ऐसा राजा सोच विचारकर कार्य करे, पशुओं की तरह विवेकी होकर कार्य न करे[450]। उसे पृथ्वी का उद्धार करने वाला, बलयुक्त तथा सत्यानुरक्त होना चाहिए[451]। उसमें निर्व्यसनता[452], नम्रता तथा निरहंकारता का[454] गुण होना चाहिए, धर्म, अर्थ और काम का अविरोध रूप से सेवन करते हुए उसकी चिन्ता जैसी परलोक साधन के प्रति हो, वैसी चिन्ता किसी अन्य के बारे में न हो। राजा उदारता, धैर्य तथा विनयादि गुणों का आश्रय है[456]। धर्म में बुद्धि होना राजा का बड़ा सौभाग्य है, क्योंकि धर्म में निष्ठा ही भविष्य अभ्युदय का प्रधान कारण है[457]। जन समूह के सन्ताप को दूर करने वाला राजा अपने गुणों से सब दिशाओं को उज्जवल कर देता है[458]। यथार्थ में महत्व का कारण केवल ऐश्वर्य नहीं होता, गुण सम्पत्ति ही पुरुष को गौरव देती है[459]। अपने शौर्य की आग में शत्रुओं को स्वाह करने वाले और गुणों से सम्पूर्ण पृथ्वी का मनोरंजन करने वाले राजा के रक्षक होने पर यह पृथ्वी सदा उपद्रव से रहित होकर भरीपुरी होने लगती है[460]। दयालुता, धर्म ही को धन समझना, दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सम्पत्ति अर्पित करना, अनिघंदचरित्र और तपस्वियों के समान अचरण आदि गुण अति दूरवर्ती महानुपुरुषों के चित्त में भी अनुराग उत्पन्न करते हैं[461]। अत: राजा को दयालु, साधुवत्सल और मोक्षकामुक बने रहकर इस पृथ्वी का शासन करना चाहिए और अनाथ लोगों का उद्धार करना चाहिए, क्योंकि दोनों का उद्धार करने से बढ़कर और कोई तपस्या नहीं है[462]। प्रजा के समस्त कष्टों को दूर करने के बाद ही पराक्रमी और नीतिज्ञ राजा को शत्रुओं को जीतने की इच्छा से अपने सहायकों के साथ यात्रा करना चाहिए[463]। राजा कभी भी मर्यादा का अतिक्रमण न करे राजा और समुद्र में यही अन्तर है कि समुद्र प्रलयकाल में मर्यादा (सीमा)को छोड़ देता है, किन्तु उत्तम राजा कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है[464]। राजा की शूरता नीति से और प्रभुता उदार क्षमासे शून्य न हो, विद्यायें विनय से खाली न हों तथा उसका धन भी निरन्तर दान और भोग में व्यय होता रहे[465]।

वर्धमानचरित में प्रतिबिम्बित राजा के गुण – स्वभाव से शत्रुता रखने वाले शत्रुओं की शरण में आने पर रक्षा करना[466], परोपकार[467], निर्मल स्वभाव, राजविद्या में प्रवीणता[468] याचकों को उनकी इच्छा से अधिक दान देना, विद्वानों से वेष्टित रहना[469], बुद्धिबल से पृथ्वी रूपी भार्या को अपने गुणों में अनुरक्त कर लेना, शत्रुओं को भय से नम्रीभूत बना लेना[470], मत्सर भावना रखना[471], नीति शास्त्र में निपुण (नयचक्षु) होना, महान् पराक्रमी और विनयी तथा जितात्मा होना[472], षड्वर्ग पर विजय प्राप्त करना[473], साहस, विद्या और प्रभाव में उन्नत होना[474], धैर्य धारण करना, विनय ग्रहण करना, नीतिमार्ग में स्थित रहना, इन्द्रिय और मन के संचार को वश में रखना[475], सज्जनों से प्रेम

करना, प्रजा का न्याय करना, गुरुओं की विनय करना[476] मित्रों को चन्दन के समान सुखकर होना[477], तथा काम के वशवर्ती न होना[478] ये राजा के प्रमुख गुण हैं । इन गुणों से युक्त राजा अपने कार्य की सिद्धि करता है[479] । प्रशंसनीय गुण किसके कार्य को सिद्ध नहीं करता[479]? अर्थात् गुणों से सभी कार्य सिद्ध होते हैं । इससे प्रजाओं में सदा निर्दोष प्रेम उत्पन्न होता है[480]। कोई भी व्यक्ति गुणों को छोड़कर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो सकता है।

नीतिवाक्यामृत में प्रतिबिम्बित राजा के गुण - राजा को सेवकों की आशा की पूर्ति करना चाहिए, नहीं तो उसकी प्रसन्नता कोई लाभ नहीं है[481] । वह मन्त्री आदि से सावधान रहे । जिस प्रकार धनिकों की बीमारी बढ़ाना छोड़कर वैद्यों की जीविका का कोई उपाय नहीं, उसी प्रकार राजा को व्यसनों में फँसाने के सिवाय मंत्री आदि अधिकारियों (नियोगियों) की जीविका का कोई उपाय नहीं है[482] । राजा को नीतिपूर्ण ढंग से कार्य करना चाहिए। नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की बढ़ती तत्काल बुझते हुये दीपक की बढ़ती के समान जड़मूल से नष्ट करने वाली होती है[483] । राजाओं को अपने पराक्रम का पूरा प्रयोग करना चाहिए । सिर मुड़ाना और जटाओं का धारण करना राजा का धर्म नहीं है[484] । राजा समय-समय पर प्रजा को दर्शन देता रहे । प्रजा को दर्शन न देने वाले राजा का कार्य अधिकारी वर्ग स्वार्थवश बिगाड़ देते हैं और शत्रु लोग भी उससे द्रोह कर देते हैं[485] । राजा को यह भी चाहिए कि यदि राजा प्रयोजनार्थियों का इष्ट प्रयोजन न सिद्ध कर सके तो उनकी भेंट स्वीकार न करें[486] । साम दामादि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, पराक्रमी व जिससे आमात्य आदि राज कर्मचारी एवं प्रजा अनुरक्त हैं ऐसा राजा अल्पदेश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्ती के समान निर्भय माना गया है[487] । लोक व्यवहार जानने वाला मनुष्य सर्वज्ञ समान और लोकव्यवहार शून्य मनुष्य विद्वान होकर भी लोक द्वारा तिरस्कृत समझा जाता है[488]। राजा इतना गुणी हो कि शत्रु की सभा में भी उसका गुणगान किया जाय। जिस राजा का गुणगान शत्रुओं की सभा में नहीं किया जाता है, उसकी उन्नति व विजय किस प्रकार हो सकती है[489] । विजिगीषु जैसा वैसा (दुर्बल व शक्तिहीन) क्यों न हो यदि वह उत्तम, कर्त्तव्यपरायण व वीर पुरुषों के सान्निध्य से युक्त है तो उसे शत्रु की अपेक्षा बलिष्ठ समझना चाहिए[490] ।

राजा के प्रमुख गुण

1. **अरिषड्वर्गविजय** - काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह ये 6 प्रकार के आन्तरिक शत्रु होते हैं, राजा को इनका विजेता कहा गया है[491] । जो इन पर विजय प्राप्त नहीं करता है, अपनी आत्मा को नहीं जानने वाला वह राजा कार्य और अकार्य को नहीं जान सकता है[492] । जीतने की इच्छा रखने वाले जितेन्द्रिय पुरुष क्षमा के द्वारा ही पृथ्वी जीतते हैं[493] । जिन्होंने इन्द्रियों के समूह को जीत लिया है, शास्त्र रूपी मर्यादा का अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोक को जीतने की इच्छा रखते हैं, ऐसे पुरुष के लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है[494] । राजा रुपी हाथी राज्य पाकर प्राय: मद से कठोर हो जाते हैं । परन्तु श्रेष्ठ राजा मद से कठोर नहीं, बल्कि स्वच्छ बुद्धि का धारक होता है[495] । दूसरे राजा जवानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणों के कारण गर्व करने लगते हैं, किन्तु श्रेष्ठ राजा शान्ति ही धारण करता है[496] । इस प्रकार जो राजा उपर्युक्त छ: शत्रुओं को जीतकर स्वकीय राज्य में स्थिर रहते हैं वे इस लोक और परलोक दोनों में समृद्धिवान होते हैं[497] ।

वादीभसिंह के अनुसार बाह्य शत्रु तो अस्थायी और दूरवर्ती हैं अतः आन्तरिक शत्रुओं[498] (काम क्रोधादि) पर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्रोध रूपी अग्नि अपने आपको ही जलाती है, दूसरे पदार्थ को नहीं, इसलिए क्रोध करता हुआ पुरुष दूसरे को जलाने की इच्छा से अपने शरीर पर ही अग्नि फेंकता है[499]। अपने आप को भी नष्ट करने वाले क्रोधीजन हर प्रकार का दुष्कर्म कर सकते हैं[500]। यदि अपकार करने वाले मनुष्य पर कोप है तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाशक क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए[501]।

रागासक्त जनों में योग्य - अयोग्य का विचार नहीं रहता है[502]। समस्त कार्य छोड़कर स्त्रियों में आसक्त रहना समस्त अनर्थ से सम्बन्ध जोड़ने वाला है। समस्त सुर और असुरों के साथ युद्ध की खाज रखने वाले भुजदण्ड की मण्डली से अनायास उठाए हुए कैलाशपर्वत के द्वारा जिसका पराक्रम कष्ठोक्त था और प्रताप के भय से नमस्कार करने वाले अनेक विद्याधरों के मुकुट रूप मणिमय पाद चौकियों पर जिसके चरण लौट रहे थे ऐसा रावण भी स्नेहातिरेक से सीता के विषय में विवश हो रण के अग्रभाग में लक्ष्मण को मारने के लिए छोड़े हुए चक्ररत्न से मृत्यु को प्राप्त हुआ[503]। इस लोक और परलोक को नष्ट करने वाली तृष्णा और क्रोध में भेद नहीं है[504]। धन से अन्धे मनुष्य सत्पथ को न सुनते हैं, न समझते हैं, न उस पर चलते हैं और चलते हुए भी कार्य की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकते है[505]। संसार में एक ही पदार्थ के विषय में इच्छा के कारण स्पर्धा सभी के बढ़ती है[506], किन्तु मात्सर्य से सभी नष्ट हो जाता है[507]। ईर्ष्या करने वाले व्यक्तियों को क्या-क्या खोटे कार्य रुचिकर नहीं लगते हैं[508]। मत्सर युक्त पुरुषों के वस्तु के यथार्थस्वरूप का विचार नहीं होता है[509]। प्राणियों में ममत्वबुद्धि से उत्पन्न हुआ मोह विशेष होता है[510]। इसके अतिरिक्त पंचेन्द्रियों से उत्पन्न मोह एक दूसरे से बढ़कर होता है[511]। मोह का त्याग करना चाहिए, क्योंकि थोड़ा भी मोह देहधारियों की आस्था को अस्थान में गिरा देता है[512]।

नीतिवाक्यामृत में अन्याय से किए गए काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये राजाओं के 6 अन्तरंग शत्रु समूह[513] कहे गए हैं। परपरिगृहीत (वेश्या, परस्त्री) और कन्याओं से विषयभोग करना काम है[514]। कामी पुरुष अत्यन्त बढ़ी हुई कामवासना के कारण संसार में कोई ऐसा अकार्य नहीं है, जिसे नहीं करता है[515]। जो व्यक्ति अपनी और शत्रु की शक्ति को न जानकर क्रोध करता है, वह क्रोध उसके विनाश का कारण है[516]। निष्कारण कोप करने वाले राजाके पास सेवक नहीं ठहरते हैं[517]। अत्यन्त क्रोध करने वाले मनुष्यों का ऐश्वर्य अग्नि में पड़े हुए नमक के समान सैकड़ों प्रकार से नष्ट हो जाता है[518]। किसी भी क्रोधी पुरुष के सामने नहीं ठहरना चाहिए[519]। क्रोधी पुरुष जिस किसी को सामने देखता है, उसी के ऊपर सूर्य के समानरोष रूपी जहर फेंक देता है[520]। अत्यन्त क्रोधी पुरुष बलिष्ठ होने पर भी अष्टापद[521] के समान चिरकाल तक जीवित नहीं रहता है[522]। दान करने योग्य धर्मपात्र और कार्यपात्र आदि को धन न देना तथा चोरी, छलकपट और विश्वासघात आदि अन्यायों से दूसरों की सम्पत्ति को हड़प जाना लोभ है[523]। संसार में धन मिलने से किसे उसका लोभ नहीं होता है[524]। जबकि वृक्ष अपने धन का भोग नहीं करते तथापि वे भी धन के इच्छुक होते हैं तो धन का उपयोग करने वाले मनुष्यों का तो कहना भी क्या है[525]? (कुटुम्ब आदि के संरक्षण में असमर्थ) केवल उदरपूर्ति करने वाले लोभी पुरुष को उसकी स्त्री छोड़ देती है, वृहस्पति के समान बुद्धिमान पुरुष भी अधिक लोभ, आलस्य व विश्वास करने से मारा जाता

है[527] । ठगा जाता है । लोभी के समस्त गुण निष्फल होते हैं[528] । मनुष्यों का वही धन प्रशंसनीय है, जो दूसरों द्वारा भोगा जा सके । जिसको धनीपुरुष रोग के समान स्वयं भोगता है वह कृपण धन निन्द्य है[529]। जिस धन के द्वारा शरण में आए हुए आश्रितों का भरण पोषण नहीं किया जाता है, वह कृपणधन व्यर्थ है[530] । शिष्टाचार से विशुद्ध प्रवृत्ति को न छोड़ना, पापकार्यों में प्रवृत्ति करना तथा आप्त पुरुषों की शास्त्रविहित बात को न मानना मान है[531] । अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, विद्या आदि के द्वारा अहंकार करना अथवा दूसरों की बढ़ती को रोकना मद है[532] । एक अन्य स्थान पर सोमदेव ने मद्यपान व स्त्रीसंभोग से होने वाले हर्ष को मद कहा है[533] । बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर मन में प्रसन्न होना या धनादि की प्राप्ति होने पर मानसिक प्रसन्नता का होना हर्ष है[534] ।

2. त्रिवर्ग का अविरोध रूप से सेवन – उत्तम राजा के धर्म, अर्थ और काम परस्पर में किसी को बाधा नहीं पहुँचाते हैं । इसके प्रयोग की निपुणता के कारण ये तीनों वर्ग (धर्म, अर्थ और काम) मानों परस्पर भिन्नताको प्राप्त हो जाते हैं[535] । आचार्य गुणभद्र के अनुसार भी राजा परस्पर की अनुकूलता से धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग की वृद्धि करता है[536] । वादीभसिंह के अनुसार यदि परस्पर विरोध के बिना धर्म, अर्थ और काम सेवन किए जाते हैं तो बाधारहित सुख मिलता है और क्रम से मोक्ष भी मिलता है[537]। यदि राजा सुख चाहता है तो (काम के कारण) धर्म और अर्थ पुरुषार्थ नहीं छोड़े, क्योंकि बिना मूल कारण के सुख नहीं हो सकता है[538] । जो अपयश रूपी पङ्क को उत्पन्न करने के लिए वर्षा ऋतु के समान है, धर्मरूपी कमलवन को निमीलित करने के लिए रात्रि के प्रारम्भ के समान है, जो अर्थ पुरुषार्थ को नष्ट करने के लिए कठोर राजयक्ष्मा के समान है, मूर्खजनों से जिसमें भीड़-भाड़ उत्पन्न की जाती है और विवेकीजन जिसकी निन्दा करते हैं ऐसे काम के मार्ग में बुद्धिमान् अपना पैर नहीं रखते हैं । अत: धर्म और अर्थ का विरोध न कर काम सुख का उपभोग कर राजधर्म को न छोड़ते हुए पृथ्वी का पालन करना चाहिए[539] ।

नीतिवाक्यामृत के समान जो व्यक्ति काम और अर्थ को छोड़कर धर्म का ही सतत सेवन करता है वह पके हुए धान्यादि के खेत को छोड़कर जंगल को जोतता है[540] । अत: (राजा) धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करे[541] । जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से केवल एक का ही निरन्तर सेवन करता है, वह केवल उसी पुरुषार्थ की वृद्धि करता है और दूसरे पुरुषार्थों को नष्ट कर डालता है[542] । इन्द्रियों को न जीतने वालों को किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती है[543] । इष्टपदार्थ में आसक्ति न करने वाले और विरूद्ध वस्तु में प्रवृत्त न होने वाले व्यक्ति को जितेन्द्रिय कहते हैं[544]। कामी व्यक्ति (को सन्मार्ग पर लाने) की कोई औषधि नहीं है[545]। स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति करने वाले पुरुष का धन, धर्म और शरीर नष्ट हो जाता है[546] । अत: धर्म और अर्थ दो अविरोध पूर्वक काम सेवन करे, उमसे[547] सुखी होगा । जो व्यक्ति काम से जीता जाता है (काम के वशीभूत है) वह राज्य के अंगों (स्वामी, आमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोप और सेना आदि) से शक्तिशाली शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है[548]? जो व्यक्ति नीतिशास्त्र से विरूद्ध कामसेवन (वेश्यासेवन, परस्त्रीगमन) करता है, वह समृद्ध होने पर भी चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता है[549] । एक काल में कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और कामपुरुषार्थों में से पूर्व का पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है[550] । समय (कार्य का समय) का सहन न होने से दूसरे पुरुषार्थ की अपेक्षा अर्थपुरुषार्थ श्रेष्ठ है[551], क्योंकि धर्म और काम पुरुषार्थ का मूल कारण अर्थ है[552] ।

3. मध्यम वृत्ति का आश्रय – उत्तम राजा न तो अत्यन्त कठोर होता है और न अत्यन्त कोमल, अपितु मध्यम वृत्ति का आश्रय कर जगत् को वशीभूत करता है[553] ।

4. कार्य को स्वयं निश्चित करना – श्रेष्ठ राजा स्वयं ही कार्य का निश्चय कर लेता है, मन्त्री उसके निश्चित किए हुए कार्य की मात्र प्रशंसा करते हैं[554] ।

5. शान्ति और प्रताप – पृथ्वी को जीतने वाले राजा नम्रीभूत राजाओं को सन्तुष्ट करते हैं और विरोधी राजाओं को अच्छी तरह सन्तपत करते हैं, क्योंकि शान्ति और प्रताप ये ही राजाओं के योग्य गुण है[555] । अहंकारी राजाओं को दण्डित करना और उत्तम कार्य करने वाले राजाओं पर अनुग्रह करना, क्षत्रियों का यह धर्म न्यायपूर्ण कहा गया है[556] ।

6. शत्रुओं का विजेता होना – राजा को बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं का विजेता होना चाहिए[557] । श्रेष्ठ राजा कुटिल (वक्र) मनुष्यों को अपने पराक्रम से ही जीत लेता है, ऐसे राजा की सप्तांग सेना केवल आडम्बर मात्र होती है[558] । राजा का राज्य दूसरे के द्वारा तिरस्कृत हो और न वह दूसरों का तिरस्कार करे[559] । आवश्यकता पड़ने पर राजा अपने भुजदण्डों से शत्रुओं के समूह को खण्डित कर दे । वह किसी पुराने मार्ग को अपने आचरण के द्वारा नया कर दे और पश्चाद्वर्ती लोगों के लिए वही मार्ग फिर पुराना हो जाय[560] । राजा का प्रताप रूपी वड़वानल की चंचल ज्वालों के समूह से देदीप्यमान होना चाहिए[561] । शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट कर दिया गया है ऐसा शक्तिहीन राजा अपने झुण्ड से भ्रष्ट हुए अकेले हाथी के समान किसके वश में नहीं किया जाता है[562] । अर्थात् सभी के द्वारा किया जाता है । जिसकी समस्त जलराशि निकल चुकी है ऐसे जलशून्य तालाब में वर्तमान मगर आदि जैसे जलसर्प के समान निर्विष तथा क्षीणशक्ति हो जाता है[563] । उसी प्रकार सैन्य के क्षय हो जाने से राजा भी क्षीण शक्ति हो जाता है वन से निकला सिंह जिस प्रकार गीदड़ के समान हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति की स्थिति होती है[564] । अत: शत्रु से युद्ध करना अथवा भाग जाना इन दोनों में जब विनाश निश्चित हो तब प्रहार करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि प्रहार करने में ऐकान्तिक विनाश नहीं होता है[565] । योग्य की गति कुटिल होती है, क्योंकि वह मरने की कामना करने वाले को दीर्घायु देती है व जीवन की आकांक्षा करने वाले को मार डालती है[566] । अत: राजा को चाहिए कि लड़ाई के समय परचक्र से आए हुए किसी भी अपरीक्षित व्यक्ति को अपने पक्ष में न मिलाए । यदि मिलाना हो तो अच्छी तरह परीक्षा करके मिलाए परन्तु उसे वहाँ ठहरने न दे और शत्रु के कुटुम्बी जो उससे नाराज होकर वहाँ से चले आए हैं, उन्हें परीक्षापूर्वक अपने में मिलाकर ठहराले, किन्तु अन्य को नहीं । इतिहास बतलाता है कि कृकलास नाम के सेनापति ने अपने स्वामी से झूठ कलह कर शत्रु के हृदय में अपना विश्वास कराकर अपने स्वामी के प्रतिपक्षी विश्वास नामक राजा को मार डाला[567] ।

7. प्रजापालन – राजा के राज्य में चारों वर्णों और आश्रयों के लोग उत्तम धर्म के कार्यों में इच्छानुसार प्रवृत्ति करें । वह अपने राज्य का भाइयों में विभाजन कर सुखपूर्वक राज्य का उपभोग करे[568] । जिस प्रकार कुम्भकार के हाथ में लगी हुई मिट्टी उसके वश में रहती है, उसी प्रकार बड़े-बड़े गुणों से शोभायमान राजा की समस्त पृथ्वी उसके वश में रहती है[569] । प्रजा के अनुराग से राजा को अचिन्त्य महिमा प्राप्त होती है[570] ।

नीतिवाक्यामृत के अनुसार प्रजापालन ही राजा का यज्ञ है, न कि प्राणियों की बलि देना[571]। राजा प्रजा के लोगों को जो बिना किसी व्यसन के क्षीण धन वाले हो गए हों मूलधन देकर सन्तुष्ट करे[572]। समुद्र पर्यन्त पृथ्वी राजा का कुटुम्ब है और अन्न प्रदान द्वारा प्रजा का संरक्षण, संवर्द्धन करने वाले खेत उसकी स्त्रियाँ हैं[573]। यदि राजा राजकीय कार्यों में मृत व्यक्तियों की संतति का पोषण नहीं करता तो वह उनका ऋणी रहता है ऐसा करने से उसके मंत्री आदि भली भाँति सेवा नहीं करते हैं[574]। प्रजा की वृद्धि करने के निम्नलिखित[575] उपाय है -

1. धन नष्ट होने से विपत्ति में फंसे हुए कुटुम्बी जनों की द्रव्य से सहायता करना।
2. प्रजा से अन्यायपूर्वक तृणमात्र भी अधिक कर न लेना।
3. समय आने पर यथापराध अनुकूल दण्ड न देना।

4. यथार्थ में प्रभु वही है जो अनेकों का भरण पोषण करता है। अर्जुनवृक्ष की उस फल सम्पदा से क्या लाभ है जो दूसरों के द्वारा उपयोग्य नहीं होती[576]। राजा को अपराधियों के जुर्माने से आए हुए, जुआ में जीते हुए, लड़ाई में मारे हुए, नदी, तालाब और रास्ता आदि में मनुष्यों के द्वारा भूले हुए धन का और चोरों के धन का तथा अनाथ स्त्रियाँ रक्षकहीन कन्या का धन तथा विप्लव के कारण जनता के द्वारा छूटे हुए धनों का स्वयं उपभोग नहीं करना चाहिए[577]। प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्रधारण कर जीविका निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषों की भलाई करना, दीन पुरुषों का उद्धार करना और युद्ध से न भागना ये क्षत्रियों के कर्त्तव्य हं[578]।

8. **वीरता** - राजा को वीर होना चाहिए, क्योंकि यह पृथ्वी वीर मनुष्यों से भोगने योग्य होती है[579]। इसी का समर्थन करते हुए सोमदेव ने कहा है - कुलपरम्परा से चली आने वाली पृथ्वी किसी राजा की नहीं होती है, बल्कि वह वीर पुरुष द्वारा ही भोगपने योग्य होती है[580]। राजाओं की नीति व पराक्रम की सार्थकता अपनी भूमि की रक्षा के लिए है, न कि भूमि त्याग के लिए[581]। बढ़ी हुई है प्रताप रूपी तृतीय नेत्र की अग्नि जिसकी, परमैश्वर्य को प्राप्त होने वाला, राष्ट्र के कण्टकशत्रुरूप दानवों के संहार में प्रयत्नशील विजिगीषु राजा महेश के समान माना गया है[582]। जो राजा पराक्रमरहित है, उसका राज्य वणिक् की तलवार के समान व्यर्थ है[583]।

9. **जागृति** - राजा को अपने हृदय का भी विश्वास नहीं करना चाहिए, फिर दूसरों की तो बात ही क्या है ? स्वभाव से सरल अपने हृदय से उत्पन्न सब लोगों पर विश्वास करने की आदत समस्त अनर्थों का मूल है। राजा लोग नटों के समान मन्त्रियों के ऊपर अपने विश्वास का अभिनय करते हैं, परन्तु हृदय से उन पर विश्वास नहीं करते हैं, क्योंकि चिरकाल के परिचय से बड़े हुए विश्वास के कारण मन्त्रियों पर राज्य का भार रखने वाले राजा उन्हीं मन्त्रियों द्वारा मारे गए हैं। ऐसी लोक कथाऐं सुनने में आती है[584]। सब उपायों को करने में उद्यत सबको शत्रुओं की कपटवृत्ति से प्राप्त होने वाले विनाश के उपाय का सदा निराकरण करते रहना चाहिए। शत्रुओं के वश में पड़ी स्त्रियाँ और पुरुष निगृह्य (तिरस्कार के पात्र) होते हैं। कितने ही लोग खाना, सोना, पीना और वस्त्र धारण करते समय कष्ट उत्पन्न करने वाला विष मिलाकर मारने का यत्न कर सकते है[585]।

10. **नियमपूर्वक कार्य करना** - राजा को रात्रि और दिन का विभाग करके नियत कार्यों को करना चाहिए, क्योंकि समय निकल जाने पर करने योग्य कार्य बिगड़ जाता है[586]।

11. **विद्वत्ता** - मनुष्य जिन्हें जानकर अपनी आत्मा के हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करता है, उन्हें विद्यायें कहते हैं[587]। जिस पुरुष द्रव्य में सज्जन पुरुषों द्वारा नीति, आचार सम्पत्ति और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी गुण सिखाए जाकर स्थिर हो गए हों, वह पुरुष राजा होने के योग्य है[588]। जो राजा न तो विद्याओं का अभ्यास करता है और न विद्वानों की संगति करता है, वह निरंकुश हाथी के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[589]। जिस प्रकार जल के समीप वर्तमान वृक्षों की छाया कुछ अपूर्व हो जाती है, उसी प्रकार विद्वानों के समीप वर्तमान पुरुषों की कान्ति भी अपूर्व हो जाती है। जिस प्रकार बहादुर मनुष्य भी हथियारों के बिना शत्रुओं से पराजित कर दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष नीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना शत्रुओं के वश में हो जाता है[591]। जो पदार्थ या प्रयोजन नेत्रों से प्रतीत नहीं होता, उसको प्रकाश करने के लिए शास्त्र मनुष्यों का तीसरा नेत्र है[592]। जिस पुरुष ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया वह चक्षुसहित होकर भी अन्धा है[593]। अन्धे के समान दूसरे (मंत्री आदि) से प्रेरित राजा को होना अच्छा है, किन्तु जो थोड़े ज्ञान के कारण हठी है, उससे कोई लाभ नहीं[594]। सब धनों में विद्या ही प्रधान धन है, क्योंकि वह चोरों के द्वारा चुराई नहीं जाती है एवं दूसरे जन्म में भी जीवात्मा के साथ जाती है[595]। जिस प्रकार नीचे मार्ग से बहने वाली नदी अपने प्रवाहवर्ती पदार्थों (तृणादि) को दूरवर्ती समुद्र से मिला देती है, उसी प्रकार नीच पुरुष की विद्या भी बड़ी कठिनाई से दर्शन होने योग्य राजा से मिला देती है[596]। विद्या कामधेनु के समान विद्वानों के मनोरथ पूर्ण करने वाली है, क्योंकि उससे उन्हें समस्त संसार में प्रतिष्ठा व बोध प्राप्त होता है[597]। जिस प्रकार नवीन मिट्टी के बर्तन में किया हुआ संस्कार ब्रह्मा के द्वारा भी नहीं बदला जा सकता है[598], उसी प्रकार कोमल बच्चों के हृदय में किया गया संस्कार भी बदला नहीं जा सकता है। अत: जो वंश परम्परा, सदाचार, विद्या और कुलीनता में विशुद्ध हों वे ही विद्वान राजाओं के गुरु हो सकते हैं[599]। जो राजा आध्यात्म विद्या विद्वान होता है वह सहज (कषाय और अज्ञान से होने वाले राजसिक और तामसिक दु:ख) शारीर (बुखार, गलगण्ड आदि बीमारियों से होने वाली पीड़ा), मानसिक (परकलत्र आदि की लालसा से होने वाले कष्ट) एवं आगन्तुक दु:खों (*भविष्य में होने वाले अतिवृष्टि, अनावृष्टि और शत्रुकृत आकार आदि* कारणों से होने वाले दु:ख) से पीड़ित नहीं होता है[600]। इहलोक सम्बन्धी व्यवहारों का जो निरुपण करता है उसे लोकायत कहते हैं[601]। जो राजा लोकायत मत को भलीभाँति जानता है वह राष्ट्र कष्ट को (चोर आदि) को जड़मूल से उखाड़ देता है[602]। जिस प्रकार उपयोग शून्य बहुत समुद्र जल से कोई लाभ नहीं है, उसी प्रकार विद्वान के कर्त्तव्यज्ञान कराने में असमर्थ प्रचुरज्ञान से कोई लाभ नहीं है।

12. **यथापराध दण्ड** - राजा को अपराधियों को उनके अपराध के अनुकूल दण्ड देना चाहिए। जिस कार्य के करने में महान् धर्म की प्राप्ति होती है, वह बाह्य से पापरूप होकर भी पाप नहीं समझा जाता है[604]। जो राजा दुष्टों का निग्रह नहीं करता है, उसका राज्य उसे नरक में ले जाता है[605]। जो मनुष्य सदा केवल दया का व्यवहार करता है वह अपने हाथ में रखे हुए धन को बचाने में भी समर्थ नहीं हो सकता है[606]। सदा शान्तिचित्त रहने वाले मनुष्य का लोक में कौन पराभव नहीं करता है[607], सभी पराभव करते हैं। अपराधियों पर क्षमा धारण करना साधु पुरुषों का भूषण है, राजाओं का नहीं है[608]। जो मनुष्य अपनी शक्ति से क्रोध और प्रसन्नता नहीं करता है, उसे धिक्कार है जो प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति पराक्रम नहीं करता, वह जीवित होता हुआ भी

मरे के समान है। राख के समान तेज शून्य व्यक्ति को सभी निःशंक होकर पराजित करने को तत्पर रहते हैं[609]।

13. न्याय परायणता - जब राजा न्यायपूर्वक पिता का पालन करता है तब सभी दिशायें प्रजा को अभिलाषित वस्तुयें देने वाली होती है। न्यायी राजा के प्रभाव से मेघों से यथासमय जलवृष्टि होती है और सभी प्रकार के उपद्रव शान्त होते हैं तथा समस्त लोकपाल राजा का अनुसरण करते हैं। उसी कारण विद्वान् राजा को मध्यम लोकपाल (मध्यलोक का रक्षक) होने पर भी उत्तम लोकपाल (स्वर्गलोक का रक्षक) कहते हैं[610]।

14. सत्सङ्गति - दुष्टों की सत्सङ्गति अन्त में दुःख देने वाली होती है[611]। विद्याओं का अभ्यास न करने वाला मूर्ख मनुष्य भी विशिष्ट पुरुषों की सत्सङ्गति से उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेता है[612]।

15. दान देना - उस मेघ से क्या लाभ जो समय पर पानी नहीं बरसाता, इसी प्रकार वह क्या स्वामी है जो आश्रित व्यक्तियों की संकट के समय सहायता नहीं करता है[613]। जो धन या अभिलाषित वस्तु देकर दूसरों की भलाई करता है, वही उदारपुरुष लोगों का प्यारा होता है[614]। संसार में वही दाता श्रेष्ठ है, जिसका मन पात्र (याचक) से प्रत्युपकार या धनादि लाभ की इच्छा से दूषित नहीं होता है[615]। राजा द्वारा विद्वान ब्राह्मणों को इतनी जमीन दान में दी जानी चाहिए, जिसमें गाय के रम्हाने का शब्द सुनाई न पड़े क्योंकि इतनी भूमि देने से दाता और गृहीता को सुख मिलता है[616]। क्षेत्र, तालाब, कोट, गृह और मन्दिर का दान इन पाँच वस्तुओं के दान में आगे-आगे की वस्तुओं का दान पूर्व के दान को बाधित कर देता है अर्थात् आगे-आगे का दान प्रशस्त होता है[617]।

16. प्रत्युपकार - प्रत्युपकार करने वाले का उपकार बढ़ने वाली धरोहर के समान है। जो लोग प्रत्युपकार किए बिना ही परोपकार का उपभोग करते हैं वे जन्मान्तर में उपकारी दाताओं के ऋणी होते हैं[618]। उस गाय से क्या लाभ है जो कि दूध नहीं देती और न गर्भवती है ? इसी प्रकार उस मनुष्य के उपकार से क्या लाभ है जो कि वर्तमान या भविष्य में प्रत्युपकार नहीं कर सकता[619] ?

17. समयानुसार कार्य करना - योग्य समय प्राप्त न होने तक अपकार करने वाले के प्रति साधु व्यवहार करना चाहिए[620]। मनुष्य ईंधन को आग में जलाने के उद्देश्य से अपने शिर पर धारण करते हैं[621]। इसी प्रकार शत्रु को पराजित करने के लिए समय न आने तक उसके साथ ठीक व्यवहार करे। धीरे-धीरे वह उसे पराजित कर देगा। नदी का वेग अपने तट के वृक्षों के चरण (जड़ें) प्रक्षालन करता हुआ भी उन्हें जड़ से उखाड़ देता है[622]। उक्त नीति से विपरीत अभिमानी पुरुष हस्तगत कार्य का भी विनाश कर देता है[623]।

18. जितेन्द्रियता - जिस मनुष्य की चित्तवृत्ति अन्य धन के समान परस्त्रियों के देखने पर भी लालसा रहित है, वह प्रत्यक्ष देवता है, मनुष्य नहीं[624]।

19. गोपनीयता - अपनी बात को गोपनीय रखना राजा का बहुत बड़ा गुण है। छत्रचूड़ामणि के अनुसार जब तक इस कार्य की सिद्धि नहीं होती है, तब तक शत्रु की आराधना करें। इसी नीति

का अवलम्बन जीवन्धरस्वामी के मामा गोविन्दराज ने किया था। यद्यपि वे पापी काष्ठांगार का विनाश हृदय से चाहते थे, फिर भी अनुकूल समय की प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने काष्ठांगार के साथ प्रत्यक्ष रूप से अपने स्नेहभाव प्रदर्शन करने में किसी प्रकार की कमी न की। जिसके प्राणों के वे प्यासे थे, उसके ही पास उन्होंने भेंट भेजकर वाह्य रूप से सम्मान का भाव प्रदर्शित किया था (छ. चू. 10/22, अनेकान्त वर्ष 5 किरण 3-4 अ. मई 1942 पृ. 148-149)। मुद्राराक्षस में राजनीति की विचित्रता इन शब्दों में वर्णित की गई है - कभी तो उसका श्वास स्पष्ट प्रतीत होता है, कभी वह गहन हो जाती है और उसका ज्ञान नहीं हो पाता, प्रयोजनवश कभी वह सम्पूर्ण अंग युक्त होती है और कभी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है, कभी तो उसका बीज ही विनष्ट प्रतीत होता है और कभी वह बहुत फलवाली हो जाती है। अहो ! नीतिज्ञ की नीति देव के सदृश विचित्र आकार वाली होती है। (मुद्राराक्षस 5/3)।

20. अनीतिपूर्ण आचरण का परित्याग - अनीतिपूर्ण आचरण का परिणाम बुरा होता है, इस बात का निश्चय इससे होता है कि राजा को धोखा देने वाला काष्ठांगार जीवन्धर महाराज के द्वारा मारा गया। इस पर आचार्य ने कहा है - 'स्वयं नाशीहि नाशक:' (छ. चू. 10/50) अन्य का विनाश करने वाले का स्वयं नाश होता है। इस पृथ्वी का शासन दुर्बल व्यक्तियों द्वारा नहीं हो सकता, यह वसुन्धरा वीरों के द्वारा भोगने योग्य है (छ. चू. 10/30)। अत्याचारी काष्ठांगार ने प्रजा का उत्पीड़न किया था, उसने बलात् प्रजा का खून चूसा था, इस कारण महाराज जीवन्धर ने राज्य का शासन सूत्र हाथ में लेते ही 12 वर्ष के लिए पृथ्वी को कर रहित कर दिया था। इसका कारण कविवर यह बतलाते हैं कि भैंसों के द्वारा गंदा किया गया पानी शीघ्र निर्मल नहीं होता (छ. चू 10/57)

21. धार्मिकता - अनावश्यक हिंसा आदि से भय रखने के कारण क्षत्रिय व्रती माने गए है (छ. चू. 10/38)। धार्मिक नरेश सफलता प्राप्त करने के अनन्तर सफलता के मूल कारण वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के चरणों की आराधना को नहीं भूलते हैं, इसी बात को जानने के लिए जीवन्धर स्वामी के द्वारा युद्ध में विजय होने के पश्चात् राजपुरी में जाकर जिनभगवान् के अभिषेक करने का वर्णन किया गया है, क्योंकि भगवान् की दिव्य समीपता होने पर सिद्धियाँ बिन बाधा के हो जाती हैं (छ. चू. 10/41)।

राजा के दोष - पद्मचरित में दुराचारी राजाओं का भी उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए राजा सौदास, जो कि नरमांस में अत्यधिक आसक्त होने के कारण प्रजा द्वारा नगर से निकाल दिया गया था[625]। राजा वज्रकर्ण को दुराचारी सिद्ध करने के लिए उसे अत्यन्त क्रूर, इन्द्रियों का वशगामी, मूर्ख, सदाचार से विमुख, भोगों में आसक्त, सूक्ष्म तत्त्व के विचार से शून्य तथा भोगों से उत्पन्न महागर्व से दूषित कहा गया है[626]। आदिपुराण के अनुसार दोषयुक्त राजाओं में प्राय: निम्नलिखित दोष होते हैं -

1. सदातृष्णा से युक्त होना। 2. मूर्ख मनुष्यों से घिरा होना।
3. गुरुओं (पूज्यजनों) का तिरस्कार करना[627]। 4. अपनी जबर्दस्ती दिखलाना।
5. अपने गुण तथा दूसरे के दोषों को प्रकट करना[628]। 6. अधिक कर लेना[629]।
7. अस्थिर प्रकृति का होना[630]।
8. दूसरे के अपमान से मलिन हुई विभूति को धारण करना[631]।

9. कठिनाई से दर्शन होना । 10. पुत्र का कुपुत्र होना ।
11. सहायक मित्र तथा दुर्ग आदि आधारों से रहित होना ।
12. चंचल, निर्दयी, असहनशील और द्वेषी होना ।
13. बुरे लोगों से घिरा होना । 14. विषय - खोटे मार्ग में चलना ।
15. बिना क्रम के प्रत्येक कार्य में आगे आना ।

गुणभद्र के अनुसार दोषी या अन्यायी राजा सबको सन्ताप देने वाला, कठोर टैक्स लगाने वाला, क्रूर, अनवस्थित (कभी सन्तुष्ट और कभी असन्तुष्ट रहने वाला) तथा पृथ्वीमण्डल को नष्ट करने वाला होता है[633]। इसके फलस्वरूप वह अनेक प्रकार के दण्डों को पाता है[634]। राजा को अहंकार छोड़ देना चाहिए, अहंकारी लोग क्या नहीं करते[635]। अशुभ कर्म के उदय से कोई राजा द्यूत जैसे व्यसनों में आसक्त हो जाता है। मन्त्रियों और कुटुम्बियों के रोकने पर भी वह उनसे प्रेरित हुए के समान उन व्यसनों में आसक्त रहता है, फलस्वरूप अपना देश, धन, बल, रानी सब कुछ हार जाता है[636]। क्रोध से उत्पन्न होने वाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनों में तथा काम से उत्पन्न होने वाले जुआ, चोरी वेश्या और परस्त्री सेवन इन चार व्यसनों में जुआ खेलने के समान नीच व्यसन नहीं है[637]। सत्य जैसे महान् गुण को जुआ खेलने वाला सबसे पहले हारता है, पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल बच्चे, स्त्रियाँ और स्वयं अपने आपको हारता नष्ट करता है। जुआ खेलने वाला मनुष्य अत्यासक्ति के कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्यों का रोध हो जाने से रोगी हो जाता है। जुआ खेलने से धन प्राप्त होता है, यह बात भी नहीं है, जुआरी व्यक्ति व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करने वाले पाप का संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगों की याचना करने लगता है और धन के लिए नहीं करने योग्य कार्यों में प्रवृत्ति करने लगता है। बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं एवं राजा की ओर से उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं[638]। राजा सुकेतु इसका दृष्टान्त है, वह जुआ के द्वारा अपना राज्य ही हरा बैठा था। इसलिए उभय लोक का कल्याण चाहने वाला व्यक्ति जुआ को दूर से छोड़ दे[639]।

आचार्य सोमदेव ने राजा के निम्नलिखित दोष बतलाए हैं -

1. **मूर्खता** - संसार में राजा का न होना अच्छा है, किन्तु मूर्ख राजा का होना अच्छा नहीं है[640], क्योंकि संसार में अज्ञान को छोड़कर दूसरा कोई पशु नहीं है[641]। मूर्ख और हठी (दुर्विदग्ध) राजा के अभिप्राय को नीले रंग में रंगे हुए वस्त्र के समान कोई बदलने में समर्थ नहीं हो सकता है[642]। जब मनुष्य द्रव्य प्रकृति (राज्य पद के योग्य राजनैतिक ज्ञान और आचार सम्पत्ति) आदि सद्‌गुण को त्यागकर अद्रव्यप्रकृति (मूर्खता, अनाचार, कायरता आदि दोष) को प्राप्त हो जाता है, तब वह पागल हाथी की तरह राज्यपद के योग्य नहीं रहता है। शिव के कण्ठ में लगा विष विष ही है उसी प्रकार उच्चपद पर आसीन मूर्ख मूर्ख ही है[644]। मूर्ख मनुष्य जो कार्य करते हैं, उसमें उन्हें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है और फल थोड़ा मिलता है[645]। मूर्ख मनुष्य का शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किया जाता है[645]।

2. दुष्टता – जो योग्य अयोग्य के विचार से रहित तथा विपरीत बुद्धि से युक्त है, उसे दुष्ट (दुर्विनीत) कहते हैं[647]। दुर्विनीत या दुष्ट राजा से प्रजा का विनाश ही होता है, कोई अन्य उपद्रव नहीं होता है[648]।

3. दुराचार – दुराचार विषभक्षण की तरह समस्त गुणों को दूषित कर देता है[649]। राजा का प्रजा के साथ अन्याय करना समुद्र का मर्यादा उल्लंघन, सूर्य का अँधेरा फैलाना तथा माता का अपने बच्चे के भक्षण करने के समान किसी के द्वारा निवारण न किया जाने वाला महाभयंकर अनर्थ है, जिसे कलि काल का प्रभाव कहना चाहिए[650]।

4. चंचलचित्तपना – जिसका चित्त चंचल है, वह किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है[651]।

5. स्वतन्त्रता – स्वतन्त्र रहने वाला (मंत्री आदि से पूछकर कार्य न करने वाला) यकायक किसी कार्य को करने के कारण सब कुछ विनष्ट कर देता है[652]।

6. आलस्य – आलसी पुरुष समस्त कार्यों के योग्य नहीं होता है[653]। वह अवश्य ही शत्रुओं के वश में हो जाता है[654]।

7. अपनी शक्ति को न जानना – अपनी शक्ति को न जानकर (शत्रु के साथ युद्ध करना) विनाशकाल में पतंगों के पंख उठने की तरह अपना विनाश कर डालता है[655]।

8. अधार्मिकता – राजा के अधार्मिक होने पर कौन अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता है[656]।

9. बलात्कारपूर्वक प्रजा से धन ग्रहण – जो राजा बलात्कारपूर्वक प्रजा से धन ग्रहण करता है, उसका आर्थिक लाभ महल को नष्ट करके लोहे की कील को प्राप्त करने के समान[657] हानिकारक होता है। ऐसे राजा के राज्य में किसका कल्याण हो सकता है[658]? किसी का भी नहीं हो सकता है। यदि देवता भी चोरी से मिल जाँय तो प्रजा का कुशल कैसे हो सकता है[659]? रिश्वत आदि घृणित उपाय द्वारा प्रजा का धन अपहरण करने वाला राजा अपने देश, कोश, मित्र व तन्त्र (सैन्य) को नष्ट कर देता है[660]।

10. अन्याय – अन्यायी पुरुष की सम्पत्तियाँ चिरकालीन नहीं होतीं[661]। जो अन्याय की उपेक्षा करता है उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है[662]। जो राजा या वैद्य अपनी जीविका के लिए प्रजा के दोषों का अन्वेषण करता है, वह राजा या वैद्य नहीं है[663]। जो राजा पकी हुई धान्य की फसल काटते समय अपने राष्ट्र के खेतों में से सेना निकालता है, उसका देश अकाल पीड़ित हो जाता है[664]।

11. यथापराध दण्ड न देना – जो राजा अज्ञान अथवा काम और क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित दण्ड देता है उससे सब द्वेष करने लगते हैं[665]। चिकित्सा शास्त्र के अनुसार दवाई करने से जैसे रोग शान्त हो जाता है, उसी प्रकार अपराधियों को उचित दण्ड देने पर अपराध नष्ट हो जाता है[666]। लगान न देने के कारण किसानों की अपरिपक्व धान्यमंजरी ग्रहण करने वाला (राजा) अपनी प्रजा को दूसरे देश में भगा देता है[667]।

12. क्षुद्र अधिकारी रचना – जिसकी सभा में अमात्य आदि सभासद क्षुद्र होते हैं वह राजा सर्पयुक्त गृह के समान महा भयकर होता है[668]। उसका कोई सेवन नहीं करता है।

13. स्वेच्छाचारिता – स्वेच्छाचारिता आत्मीयजनों अथवा शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है[669]।

14. ब्रह्मघात – जो व्यक्ति संग्रामभूमि में अपने पैरों पर पड़े हुए भयभीत व शास्त्रहीन शत्रु की हत्या करता है; वह ब्रह्मघाती है[670]।

फुटनोट

1. रविषेण : पद्मचरित 66/10
2. पद्मचरित्र 27/27
3. पद्मचरित्र 27/28
4. पद्मचरित 27/26
5. वही 27/20
6. वही 27/21
7. वही 27/22
8. वही 74/92
9. हरिवंशपुराम 17/12
10. वही 17/1
11. वही 14/56
12. हरिवंशपुराण 19/16
13. हरिवंशपुराण 19/22
14. वही 19/21
15. वही 14/6
16. वही 2/14
17. वही 17/54
18. वही 17/94
19. वही 17/96-97
20. वही 14/10
21. क्षत्रचूड़ामणि 11/9
22. वही 11/4
23. छ. चू. 8/28
24. वही 10/54
25. छ. चू. 3/42
26. क्षत्रचूड़ामणि 1/48
27. क्ष. चू. 1/49
28. गद्यचिन्तामणि प्रथम लम्भ पृ. 60
29. क्ष. चू. 1/50
30. क्ष. चू. 1/46
31. गद्यचिन्तामणि प्रथम लम्भ प. 60, 61
32. वही द्वितीयलम्भ पृ. 131
33. उत्तरापुराण 50/3
34. वही 52/5
35. वही 54/117
36. वही 55/5
37. वही 56/6
38. वही 57/5
39. वही 58/25
40. वही 61/26
41. वही 59/3
42. उत्तरपुराण 62/30
43. वही चन्द्रप्रभुचरित 5/2°
44. वही 11/52
45. वही 3/9
46. वही 1/42
47. नीतिवाक्यामृत 17/1-3
48. वही 5/1
49. वही 17/4
50. वही 17/5
51. वही 17/28
52. वही 17/31
53. नीतिवाक्यामृत 29/16
54. वही 24/5
55. वही 7/23
56. वही 7/24-25
57. वही 7/22
58. पद्मचरित 88/20, 25
59. वही 88/26, 27
60. वही 88/30
61. वही 88/31
62. वही 88/32
63. वही 88/33
64. वरांगचरित 11/61-68
65. वही 11/64
66. बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. 472
67. गद्यचिन्तामणि - एकादश लम्भ पृ. 424
68. गद्यचिन्तामणि दशम लम्भ पृ. 375-377
69. वही पृ. 381
70. वही पृ. 382-383

71. वही दशमलम्भ पृ. 383-384
72. आदिपुराण 5/207
73. वही 8/254
74. वही 16/224
75. वही 37/3
76. वही 16/227-228
77. वही 16/225
78. वही 11/45
79 वही 16/232
80. आदिपुराण 7/318, 6/195
81. आदिपुराण 11/39
82. वही 11/40
83. वही 11/44
84. चन्द्रप्रभचरित 7/29
85. वही 7/30
86 वही 7/31, 32
87. वही 7/33
88. वही 7/34
89. वही 7/35
90. वही 7/36
91. वही 7/37
92. असग : वर्धमानचरित 2/1
93. वही 2/19
94. वही 2/20
95 असग : वर्धमानचरित 2/28
96. वही 2/30
97. वही 2/31
98. वरांगचरित 12/6
99. वही 2/16
100. वही 2/47
101. वही 11/55
102. वही 11/53
103. वरांगचरित 24/88
104. वही 24/71
105. वही 24/72
106. आदिपुराण 41/120-135
107. वही 41/136-154
108. उत्तरपुराण 64/30
109. वही 57/91
110. चनद्रप्रभचरित 14/24
111. वर्धमानचरित 6/20
112. गद्यचिन्तामणि - तृतीय लम्भ पृ. 160
113. आदिपुराण 26/75
114. वही 44/107
115. वही 41/16
116 उत्तरपुराण 64/29
117. आदिपुराण 16/257
118. आदिपुराण 31/65
119. उत्तरपुराण 64/29
120. आदिपुराण 16/262
121. वही 4/70
122. चन्द्रप्रभचरित 13/8
123. वही 7/29
124. वही 7/91
125. वही 16/54
126. वही 12/2
127. वही 16/21
128. वही 4/39
129. वर्धमानचरित 6/23
130. चन्द्रप्रभचरित 5/52
131. वर्धमानचरित 10/4
132. वही 7/84
133. उत्तरपुराण 68/86
134. हरिवंशपुराण 7/173
135. वही 7/176
136. वही 7/125
137. हरिवंशपुराण 7/130-139
138. वही 7/141, 142
139. वही 7/143
140. हरिवंशपुराण 7/147
141. वही सर्ग 7
142. आदि. 6/196 हरि. 11/56, 126
143. हरिवंशपुराण सर्ग 11
144. वही 11/103
145. वही 11/108-109
146. वही 11/110, 111

147. वही 11/112-113
148. हरिवंशपुराण 11/114-125
149. वही 11/126-129
150. वही 11/131
151. आदिपुराण 37/20
152. वही 41/155
153. वही 37/23
154. वही 37/24
155. वही 37/32
156. वही 37/33
157. वही 37/34-36
158. वही 37/60
159. वही 37/61
160. वही 37/62
161. वही 37/63
162. वही 37/64
163. वही 37/65
164. वही 37/66
165. वही 37/68
166. वही 37/69
167. वही 37/70
168. आदिपुराण 37/7।
169. वही 37/72
170. वही 37/73
171. शुक्रनीति 1/182-186
172. कोटिलीयं अर्थशास्त्रम् 9/1
173. हरिवंशपुराण 60/136
174. वही 53/49-50
175. वही 53/52-53
176. हरिवंशपुराण 26/6-14
177. वही 26/15-22
178. वही 26/23
179. हरिवंशपुराण 26/4
180. वही 53/47
181. डॉ. सत्यप्रकाश : कुमारपाल चौलुक्य पृ. 62
182. शुक्रनीति 1/183
183. डॉ. सत्यप्रकाश : कुमारपाल चौलुक्य पृ. 66
184. पद्मचरित 66/11-12
185. पद्मचरित 66/15-16
186. वही 66/17-18
187. वही 37/10
188. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 217
189. वही पृ. 219
190. वही पृ. 217
191. पद्मचरित 57/66
192 वही 57/44
193. वही 57/52
194. वही 57/58
195. वही 102/195
196. सामन्तरादुग्यभूमिबलगव्विओ हरिभद्र: समराइच्कहा पृ. 147
197. वही पृ. 147-148
198. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री : हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशोलन पृ. 261
199. अपराजितपृच्छा पृ. 203, 82/5-10, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 220
200. चन्द्रप्रभचरित 15/15
201. हरिवंशपुराण 53/47
202. उत्तरपुराण 68/383
203. नीतिवाक्यामृत 30/70
204. वही 30/71
205. वही 30/72
206. उत्तरपुराण 68/384
207. नीतिवाक्यामृत 29/98
208. वही 29/97
209. वही 30/73
210. उत्तरापुराण 68/383
211. आदिपुराण 34/36
212 वही 43/214
213. अरिविश्रेमभ्मितोऽप्यरि: ॥ आदिपुराण 43/322
214. पद्मचरित 19/1

215. पद्मचरित 55/51-70
216. वही 55/73
217. पद्मचरित 47/15
218. वरांगचरित 2/28
219. वरांगचरित 2/29
220. वही 13/73
221. वही 2/25
222. वही 2/24
223. वरागंचरित 17/5-6
224. वही 2/22
225. हरिवंशपुराण 14/57
226. वही 14/74
227. वही 14/71
228. वही 7/82
229. वही 7/82
230. द्विसंधान महाकाव्य 11/9
231. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 6/1
232. उ. पु. 68/71-72
233. च. च. 12/108
234. वही 12/107
235. वही 23/1
236. नीतिवाक्यमृत 23/2
237. वही 23/3
238. वही 23/4
239. वही 23/5
240. वही 23/6-7
241. नीतिवाक्यमृत 23/9
242. वही 23/10-11
243. वही 10/111
244. वही 10/12
245. वही 10/113
246. नीतिवाक्यामृत 10/146
247. उत्तरपुराण 66/4-5, 67/341
248. नीतिवाक्यमृत 17/22
249. आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ वही 17/21
250. आदिपुराण 38/263
251. वही 38/269
252. वही 38/259
253. वही 42/13-14
254. आदिपुराण 38/258
255. वही 42/5
256. वही 38/274
257. वही 42/21-23
258. वही 38/272
259. वही 38/273
260. आदिपुराण 42/31
261. आदिपुराण 42/32
262. वही 42/113
263. वही 38/275
264. वही 42/114-115
265. वही 42/116
266. वही 42/118
267. वही 42/119-124
268. वही 42/134-135, 38/276
269. नीतिवाक्यामृत 24/1-7
270. वही 24/7
271. वही 24/24
272. वही 24/25
273. वही 24/31
274. वही 24/32
275. वही 24/33
276. वही 24/59
277. वही 24/58
278. वही 24/62
279. नीतिवाक्यामृत 24/65
280. वही 24/66
281. वही 7/21
282. वही 17/32
283. आदिपुराण 42/139
284. वही 42/184-142
285. वही 42/143-144
286. वही 42/143
287. आदिपुराण 42/146-152
288. वही 42/153-160
299. आदिपुराण 42/161-163
290. आदिपुराण 42/164

291. वही 42/165-169
292. वही 42/170-173
293. आदिपुराण 42/174-178
294. वही 42/179-180
295. वही 42/181
296. वही 42/183-184
297. वही 44/45
298. आदिपुराण 42/193-196
299. वही 42/199-203
300 नीतिवाक्यामृत 5/2
301. वही 16/4
302 वही 29/18
303. वही 24/67
304. वही 17/23
305. नीतिवाक्यामृत 17/24
306. वही 5/69
307. आदिपुराण 44/66
308. वही 34/86
309. नीतिवाक्यामृत 29/20
310. वही 29/31
311. वही 29/22
312. वही 29/23
313. वही 29/24
314. वही 29/26
315. नीतिवाक्यामृत 29/27
316 वही 29/28
317. वही 29/84
318. वही 19/13
319 वही 10/83
320 वही 22/20
321. वही 10/86
322. वही 10/85
323. वही 10/164
324. वही 11/2
325. वही 10/167
326. वही 10/22
327. नीतिवाक्यामृत 10/58
328. वही 11/37
329. वही 10/167
330. वही 10/165
331. वही 8/13
332. वही 8/14
333. वही 8/15
334. वही 8/16
335. वही 8/17
336. वही 8/18
337. वही 8/23
338. वही 8/24
339. नीतिवाक्यामृत 17/33
340. वही 11/39
341. वही 10/69-70
342. वही 10/87
343. वही 10/80
344. वही 10/88
345. पद्मचरित 2/53
346. वही 2/54-56
347. वही 58/20-24
348. वही 66/90
349 पद्मचरित 27/24, 25
350 वही 72/88
351 वही 55/89
352 वही 11/58
353 वरांगचरित 1/48-49
354 वही 1/50
355 वही 1/54
356 वही 2/10
357. वही 2/30
358 वरांगचरित 13/34
359. वही 22/4
365. वही 21/76
366. वही 22/5
367. वरांगचरित 22/6
368. वही 22/8
369. वही 22/21
370. द्विसंधान महाकाव्य 2/1
371. द्वि. म. 2/7

372. द्वि. म. 2/8
373. द्वि. म. 2/9
374. द्वि. म. 2/10
375. द्वि. म. 2/18, 20
276. द्वि. म. 2/21
377. द्वि. म. 2/26
378. द्वि म. 2/27
379. द्वि. म. टीका 2/29
380. द्वि. म. 2/29
381. द्वि. म. 2/30
382. द्वि. म. 4/16
383. वही 6/14
384. वही 7/50
385. वही 7/22
386. दि. व. म. 10/25
387. द्वि. म 12/37
388. द्वि. म. 13/34
389. वही 17/33
390. वही 18/3
391. वही 18/4
392. द्वि. म. 13/15, 18/5
393. द्वि म. 18/123
394. वही 2/22
395. क्षत्र चूड़ामणि 11/2
396 वादीभसिंह : गद्यचिन्तामणि पृ. 30-31
397. क्षत्र चूड़ामणि 11/5
398. गद्यचिन्तामणि तृतीय लम्भ पृ. 159-160
399 गद्यचिन्तामणि एकादशलम्भ पृ. 429
400 वही पृ. 28
401. वही पृ 28
402. छ. चू. 1/6
403. गद्यचिन्तामणि प्रथमलम्भ पृ. 28
404. वही पृ. 29
405. वही पृ. 27
406. वही पृ. 28
407. वही पृ. 27-29
408. वही पृ. आदिपुराण 35/175
409. वही 46/49
410. वही 35/130-131
411. वही 28/137, 4/124
412. वही 35/106
413. वही 35/112-113
414 वही 28/91
415. आदिपुराण 43/129
416. उत्तरपुराण 51/5
417. वही 52/6
418 वही 52/9
419. उत्तरपुराण 53/4
420. वही 54/112
421. वही 54/113
422. वही 54/114
423. वही 54/115
424. वही 55/6
425. वही 55/8
426. वही 55/10
427. वही 56/7
428. वही 57/6
429. वही 57/4
430. उत्तरपुराण 58/26
431 वही 58/74
432. वही 59/4
433. वही 62/31
434. वही 62/33
435. वही 62/34-65
436. वही 66/69
437. वही 76/112
438. वही 52/8
439. वही 66/69
440. उत्तरपुराण 57/4
441. चन्द्रप्रभचरित 1/42
442. वही 1/43
443. चन्द्रप्रभचरित 1/44
444. चन्द्रप्रभचरित 1/46
445. चन्द्रप्रभचरित 12/15

446. वही 1/47
447. वही 1/48
448. चन्द्रप्रभचरित 1/49
449. वही 1/50
450. वही 1/51
451. वही 1/57
452. वही 1/35
453. वही 3/35, 2/37
454. वही 3/8
455. वही 11/54
456. वही 3/12
457. वही 3/59
458. वही 5/24
459. चन्द्रप्रभचरित 5/26
460. चन्द्रप्रभचरित 5/30
461. चन्द्रप्रचभरित 11/60, 12/6
462. वही 11/61
463. वही 13/1
464. वही 16/13
465. चन्द्रप्रभचरित 16/14
466. वर्धमान चरित 1/40
467. वही 1/44
468. वही 1/39
469. वर्धमान चरित 2/3
470. वही 2/40
471. वही 2/42
472. वही 4/12
473. वही 4/24
474. वही 5/21
475. वही 5/47
476. वही 5/48
477. वही 12/35
479. वही 7/17
480. वही 12/34
481. नीतिवाक्यामृत 17/12
482. वही 17/35
483. वही 10/161
484. वही 5/3
485. वही 17/34
486. नीतिवाक्यामृत 17/34
487. वही 29/68
488. वही 17/60
489. नीतिवाक्यामृत 26/36
490. नी. वा. 30/74
491. आदिपुराण 34/73
492. आदिपुराण 34/75
493. आदिपुराण 34/76
494. आदिपुराण 34/77
495. आदिुपारम 4/166
496. आदिपुराण 4/167
497. वही 38/280
498. गद्यचिन्तामणि पृ. 398
499. क्षत्रचूड़ामणि 2/43
500. क्षत्रचूड़ामणि 2/38
501. क्षत्रचूड़ामणि 2/42
502. क्षत्रचूड़ामणि 4/38
503. गद्यचिन्तामणि प्रथमलम्भ पृ. 39
504 क्षत्रचूड़ामणि 3/22
505. क्षत्रचूड़ामणि 2/56
506. क्षत्रचूड़ामणि 4/16
507. क्षत्रचूड़ामणि 4/17
508. क्षत्रचूड़ामणि 4/18
509. क्षत्रचूड़ामणि 10/34
510. क्षत्रचूड़ामणि 8/64
511. क्षत्रचूड़ामणि 9/23
512. क्षत्रचूड़ामणि 10/35
513. नीतिवाक्यामृत 4/1
514. वही 4/2
515. सोमदेव: नीतिवाक्यवामृत 10/115
516. नीतिवाक्यामृत 4/3
517. वही 26/25
518. वही 10/138
519. वही 10/171
520. वही 10/172
521. अष्टा पद मेघगर्जना को हाथी की गर्जना समझ पहाड़ से कूदकर नष्ट हो जाता है।

522. वही 30/11
523. नीतिवाक्यामृत 4/4
524. वही 10/118
525. वही 10/117
526. वही 17/16
527. वही 2[illegible]/1
528. वही 27/43
529. वही 11/52
530. वही 1/15
531. नीतिवाक्यामृत 4/5
532. नीतिवाक्यामृत 4/6
533. नीवितावाक्यामृत 10/38
534. वही 4/7
535. वही 4/165.
536. वही 51/8, 53/5
537. क्षत्रचूड़ामणि 1/16
538. क्षत्रचूड़ामणि 1/17
539. गद्यचिन्तामणि पृ. 40
540. नीतिवाक्यामृत 1/46
541. वही 3/3
542. वही 3/4
543. वही 3/7
544. नीतिवाक्यामृत 3/8
545. वही 3/12
546. वही 2/13
547 वही 3/2
548. वही 3/11
549. वही 3/14
550 वही 3/15
551. वही 3/16
552. वही 3/17
553. आदिपुराण 4/163
554. वही 4/195
555. वही 29/36
556. वही 29/27
557. उत्तरापुराण 52/3
558. वही 52/4
559. वही 52/9
560. उत्तरपुराण 55/4
561. वही 56/5
562. वही नीतिवाक्यामृत 30/34
563. वही 30/35
564. नीतिवाक्यामृत 30/36
565. वही 30/12
566. वही 30/13
567. वही 30/50
568. उत्तरापुराण 70/215-216
569. उत्तरापुराण 66/3
570. वही 57/3
571. नीतिवाक्यामृत 26/68
572. वही 17/48
573. नीविवाक्यामृत 17/49
574. नीतिवाक्यामृत 30/93
575. वही 19/20
576. वही 31/31
577. वही 9/5
578. वही 7/8
579. क्षत्रचूड़ामणि 10/30
580. नीतिवाक्यामृत 29/69
581. वही 30/3
582. वही 29/19
583. वही 10/60
584. ग. चि. प्रथम लम्भ पृ. 38-39 छ. चू. 1/15
585. ग. त्रि. लम्भ-8, पृ. 312
586. क्षत्रचूड़ामणि 11/7
587. नीतिवाक्यामृत 5/55
588. वही 5/42
589. वही 5/65
590. वही 5/67
591 वही 5/34
592. वही [illegible] 35
593. वही 5/36
594. वही 5/75
595. वही 17/56
596. वही 17/57

597. वही 17/59
598. वही 5/74
599. वही 5/68
600. नीतिवाक्यामृत 6/2
601. वही 6/34
602. वही 6/35
603. वही 17/62
604 वही 6/43
605. वही 6/44
606. वही 6/27
607. वही 6/38
608. वही 6/39
609 वही 6/40-42
610. नीतिवाक्यामृत 14/45-47
611. वही 6/46
612. वही 5/66
613. वही 22/23-24
614 वही 17/8
615. वही 17/9
616 वही 19/24
617. वही 19/25
618. वही 17/10
619. वही 17/11
620. वही 10/149
621. वही 10/150
622. नीतिवाक्यामृत 10/151
623. वही 10/152
624. वही 10/119
625. पद्मचरित 22/131-144
626. वही 33/81, 82
627. आदिपुराण 28/30
628. वही 35/94
629. वही 3/62
630. वही 3/145
631. वही 35/114-116
632. वही 44/268-271
633. उत्तरपुराण 76/111
634. वही 74/62
635. उत्तरपुराण 48/117
636. वही 59/73
637. वही 59/75
638. वही 59/76-80
640. नीतिवाक्यामृत 5/38
641. वही 5/38
642. नीतिवक्यामृत 5/76
643. वही 5/43
644. वही 10/96
645. वही 10/96
646. वही 17/15
647. वही 5/41
648. वही 5/40
649. वही 10/20
650. वही 17/44
651. वही 10/142
652. वही 10/142
653. वही 10/144
654. वही 10/145
655. वही 10/148
656. वही 17/29
657. वही 17/40
658. नीतिवाक्यामृत 17/41
659. वही 17/42
660. वही 17/43
661. वही 17/19
662. वही 8/20
663. वही 9/4
664. वही 19/16
665. वही 9/6
666. वही 9/1
667. वही 19/15
668. वही 17/ 13
669. वही 17/20
670. वही 30/75

❑❑❑

पञ्चम अध्याय

राजकुमार

राजकुमार - राजपुत्र के गर्भ में रहने के समय ही वंश के वृद्ध पुरुष इस प्रकार की कामना करते थे कि वैभव की दृष्टि से वह इन्द्र और बुद्धि की अपेक्षा वृहस्पति होगा। इस विश्वास से युक्त होकर वंश के वृद्ध पुरुष वीजाक्षर मन्त्रों के उच्चारण सहित सिद्ध परमेष्ठी को नेवैद्य समर्पित करते थे और नागरिक आनन्दमंगल मनाते थे[1] । वृद्धों के उपर्युक्त विश्वास को सार्थक करने के लिए राजा अपने पुत्र को अत्यन्त बुद्धिमान, उत्तम कुल में उत्पन्न वीर पुरुषों के साथ कर देते थे, क्योंकि नूतन पात्र में जिस वस्तु का संसर्ग होता है, उसकी गन्ध निश्चय से बनी रहती है[2] । पहिले चूड़ाकरण, उसके बाद यज्ञोपवीत संस्कार को प्राप्त राजपुत्र क्रमशः वर्णमाला तथा अंकगणित की. शिक्षा प्राप्त कर सोलह वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और वृद्धजनों की सेवा करते हुए समस्त विद्याओं को सीखते थे[3] । प्रिय राजपुत्र अपने-अपने विषय के प्रतिष्ठित विद्वानों सिद्ध पुरुषों से आत्मविद्या की शिक्षा ग्रहण करते थे, ऋषियों से धर्म, अधर्म का ज्ञान प्राप्त करते थे, अधिकारियों से लाभ-हानि का शास्त्र पढ़ते थे तथा न्यायाधीश और शासकों से दण्डनीति को समझते थे[4] । समय पूरा हो जाने पर राजा अपने कुल के देवताओं की सविधि पूजा करके राजपुत्र के ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्ति का संस्कार करते थे[5] । अनन्तर गुरु तथा पिता को प्रणाम करके राजपुत्र धनुषविद्या सीखते थे तथा लोकविरूद्ध कुविद्याओं को छोड़ देते थे, क्योंकि गुरुजनों की साक्षीपूर्वक ही ग्रहण करना और छोड़ना उचित होता है[6] । जिस राजा के पुत्रों की उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा नहीं होती है, उसका राज्य घुन से खाए काष्ठ की तरह क्षणभर में टूट जाता है[7] । शिक्षा दीक्षादि से सम्पन्न पुत्र कुल को पवित्र करता है । कुल को पवित्र करने वाले को ही वास्तविक पुत्र कहते हैं[8] । जो राजपुत्र लक्ष्मी के अहंकार से चंचल नहीं होते हैं तथा गणित आदि कलाओं से युक्त तथा विनम्र होते हैं ऐसे अवि (मेष) के द्वारा ले जायी जाने वाली अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र जिस राज्य में होते हैं, वह राज्य घुन से खायी लकड़ी के समान साधारण धक्के से नहीं टूट सकता है[9]। उपर्युक्त गुणों से युक्त राजपुत्र कच्ची अवस्था में भी राष्ट्र के भार को सहनकर सूर्य के समान देदीप्यमान हो यश और प्रताप के अधिपति होकर अपनी नीतिनिपुणता के कारण पृथ्वी पर समुद्र के समान शोभित होते हैं[10] । जिन राजाओं के पुत्र धन और जय के इच्छुक होते हैं उन राजाओं को संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है ।

आदिपुराण के अनुसार कलाओं में कुशलता, शूरवीरता, दान, प्रज्ञा (बुद्धि), क्षमा, दया, धैर्य, सत्य और शौच (पवित्रता) ये राजकुमार के स्वाभाविक गुण हैं[12] । जितेन्द्रिय राजकुमार काम का उद्रेक करने वाले यौवन के प्रारम्भ में ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह आन्तरिक शत्रुओं का निग्रह कर देता है[13] । योग्यता को प्रकट करने वाले इस प्रकार गुणों से युक्त किसी राजकुमार को राजा राज्य दे देता था और किसी को पदसहित युवराज बनाता था[14] ।

आचार्य गुणभद्र के अनुसार राजा को चाहिए कि वह उपयोग तथा क्षमा आदि सब गुणों की पूर्णता हो जाने पर राजकुमार को व्रत देकर विद्यागृह में प्रवेश कराए[15] । विद्याअध्ययन करते समय उसका अभिजात्य वर्ग से सम्पर्क हो। दास, हस्तिपक (महावत) आदि को वह अपने सम्पर्क

से दूर करे[16]। राजकुमार इन्द्रियों के समूह को इस प्रकार जीते कि वे इन्द्रियाँ सब प्रकार से अपने विषयों के द्वारा केवल आत्मा के साथ प्रेम बढ़ायें[17]। बुद्धिमान् राजकुमार विनय की वृद्धि के लिए सदा वृद्धजनों की संगति करे। शास्त्रों से निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय और स्वभाव से ही विनय करना स्वाभाविक विनय है[18]। जिस प्रकार पूर्णचन्द्रमा को पाकर गुरू और शुक्र गृह अत्यन्त सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओं को धारण करने वाले सुन्दर राजकुमार को पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के विनय अतिशय सुशोभित होते हैं19। राजकुमार कलावान हों पर किसी को ठगें नहीं, प्रताप सहित हो परन्तु किसी को दाह न पहुँचावें[20]। जो राजपुत्र विरूद्ध शत्रुओं को जीतना चाहते हैं, उन्हें बुद्धि, शक्ति, उपाय, विजय, गुणों का विकल्प और प्रजा अथवा (मन्त्री आदि) प्रकृति के भेदों को अच्छी तरह जानकर महान् उद्योग करना चाहिए। इनमें से बुद्धि दो प्रकार की होती है - एक स्वभाव से उत्पन्न हुई और दूसरी विनय से उत्पन्न[21]। जिस प्रकार फल और फूलों से रहित आम के वृक्ष पक्षी को छोड़ देते हैं और विवेकी मनुष्य उपदिष्ट मिथ्या आगम को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उत्साहहीन राजपुत्र को विशाल लक्ष्मी छोड़ देती है, यहां तक कि अपने योद्धा, सामन्त और महामात्य आदि भी उसे छोड़ देते हैं[22]।

वर्धमान चरित में राजकुमार के जिन गुणों का संकेत किया गया है, उनमें राजविद्या का अभ्यास, राजाधिरोहण, घोड़े की सवारी अस्त्र-शस्त्र चलाने की कुशलता, अन्त: स्थित शत्रुओं पर विजय[23], सौन्दर्य, यौवन, नवीन हृदय, राजलक्ष्मी प्राप्त होने पर मद न होना[24], नीति, वीरश्री और शक्तिरूप सम्पदा में अधिक होना[25], अपनी सेवा में संलग्न राजपुत्र, कार्पटिक (वस्त्र व्यवस्थापक) तथा (मन्त्री आदि) मूलवर्ग को वैभवयुक्त[26] करना प्रमुख हैं। ऐसा राजपुत्र ही अपने पिता को गति, नेत्र तथा कुल का दीपक होता है[27]।

नीतिवाक्यामृत के अनुसार राजा अपने राजकुमार को सर्वप्रथम समस्त प्रकार की बातचीत में निपुण बनाए अनन्तर समस्त लिपियों (भाषाओं), गणित, साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्रविद्या (प्रहरण) और वाहनविद्या में निपुण[28] बनाए। विद्वान गुरुओं की परम्परा पूर्वक किए हुए शास्त्राभ्यास से शास्त्रों का यथार्थ बोध होता है, जिससे मनुष्य कर्त्तव्यपालन में निपुणता प्राप्त करता है[29]। जो राजपुत्र कुलीन होने पर भी संस्कारों का अध्ययन और सदाचार आदि सद्गुणों से रहित है उसे शिष्ट पुरुष शरण पर न चढ़ाए हुए रत्न के समान युवराज पद पर आरूढ़ होने योग्य नहीं मानते हैं[30]। व्रत, विद्या और आयु में बड़े पुरुषों के साथ नमस्कारादि नम्रता का व्यवहार करना विनय है[31]। जिन राजपुत्रों को साधुपुरुषों ने विनय की शिक्षा दी है, उनका वंश और वृद्धिगत राज्य (अभ्युदय) दूषित नहीं होता है[32]। पुण्य की प्राप्ति होना, शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान होना, शिष्ट पुरुषों द्वारा सम्मान मिलना ये विनय के फल है[33]। जिस प्रकार घुन से खाई हुई लकड़ी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अविनीत राजकुमार का वंश नष्ट हो जाता है[34]। जो राजकुमार प्रमाणिक विद्वानों की शिक्षा से सम्पन्न किए जाते हैं तथा जिनका सुखपूर्वक लालनपालन होता है, वे पिता से द्रोह नहीं करते हैं[35]। माता-पिता राजपुत्रों के उत्कृष्ट देव हैं तथा उनकी प्रसन्नता से ही उन्हें शरीर और राज्य की प्राप्ति होती है[36]। जो (राजपुत्र) माता-पिता का मन से भी अनादर करते हैं, उनसे प्रसन्न होकर समीप में आने वाली लक्ष्मी भी विमुख हो जाती है[37]। अत: राजपुत्र किसी भी कार्य में पिता की आज्ञा का उल्लंघन न करे[38]। इसके समर्थन में सोमदेव ने क्रम (राजनैतिक ज्ञान) और विक्रम (शूरवीरता) से युक्त राम का दृष्टान्त दिया है, जो पिता की आज्ञा

से वन में गए[39] । वे राजपुत्र अवश्य ही सुखी हैं, जिनका पिता राज्य का भार संभाले हुए हैं[40] । जिसने प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) को स्वीकार किया है, जिसकी बुद्धि परब्रह्म (परमात्मा या ब्रह्मचर्य) में आसक्त है, जो गुरुकुल की उपासना करता है तथा समस्त विद्याओं का जिसने अध्ययन किया है, ऐसा क्षत्रिय पुत्र कुमारावस्था को अलंकृत करता हुआ ब्रह्मा है[41] । इस प्रकार नीतिवाक्यामृत के अनुसार राजपुत्र के निम्नलिखित गुण अथवा योग्यतायें मानी जा सकती हैं :-

1. विद्याओं में प्रवीणता । 2. विनय ।
3. ब्रह्मचर्यपालन । 4. परमात्मा का स्मरण ।
5. आकार । 6. प्रभाव । 7. पराक्रम ।

राजकुमारों को दी जाने वाली शिक्षा - राज्याभिषेक के समय, शिक्षा प्राप्ति के बाद अथवा अन्य विशेष अवसर पर माता-पिता अथवा गुरुजन राजपुत्र को शिक्षा देते थे । जो गुरुजन स्वयं गुणी तथा विद्वान होते हैं, उनका पुत्र को उसके ही कल्याण के लिए अपनी बहुज्ञता के अनुकूल उपदेश देना स्वाभाविक है[42] । राजा वरांगकुमार सुगात्र का राज्याभिषेक करने से पहिले शिक्षा देते हैं-

हे सुगात्र ! अपने पूर्व पुरुष, गुरुजन, विद्वान, उदारविचारशील, दयामय कार्यों में लीन तथा आर्यकुल में उत्पन्न समस्त पुरुषों का विश्वास तथा आदर करना । प्रत्येक अवस्था में इनसे मधुरवचन कहना । इनके सिवा जो माननीय है, उनको सदा सम्मान देना[43] । शत्रुओं पर नीतिपूर्वक विजय प्राप्त करना, दुष्ट तथा अशिष्ट लोगों को दण्ड देना । अपराध करने के पश्चात् जो तुम्हारीशरण में आ जाँय, उनकी उसी प्रकार रक्षा करना, जिस प्रकार मनुष्य अपने सगे पुत्रों की करता है[44] । जो लँगड़े लूले हैं, जिनकी आँखें फूट गई हैं, मूक हैं, बहिरे हैं, अनाथस्त्रियाँ है, जिनके शरीर जीर्ण शीर्ण हो गए हैं, सम्पत्ति जिनसे विमुख है, जो जीविकाहीन हैं, जिनके अभिभावक नहीं है, किसी कार्य को करते-करते जो श्रान्त हो गए हैं तथा जो सदा रोगी रहते हैं, इनका बिना किसी भेदभाव के भरण पोषण करना। जो पुरुष दूसरों के द्वारा तिरस्कृत हुए हैं अथवा अचानक विपत्ति में पड़ गए हैं, उनका भली भांति पालन करना[45] । धर्ममार्ग का अनुसरण करते हुए सम्पत्ति कमाना, अर्थ की विराधना न करते हुए कामभोग करना । उतने ही धर्म का पालन करना जो तुम्हारे काम सेवन में विरोध न पैदा करता हो । तीनों पुरुषार्थों का अनुपात के साथ सेवन करने का यह शाश्वत, लौकिक नियम है । जब कभी दान दो तो इसी भावना से देना कि त्याग करना तुम्हारा कर्त्तव्य है । ऐसा करने से गृहीता के प्रति तुम्हारे मन में सम्मान की भावना जाग्रत रहेगी । जब-जब तुम्हारे सेवक अपराध करें तो उनके अपराधों की उपेक्षा कर उनको स्वामी मानकर क्षमा कर देना । जो (अकारण ही) वैर करते हैं, अत्यन्त दोषयुक्त हैं तथा प्रमादी हैं, नैतिकता के पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं, जिन पुरुषों का स्वभाव अत्यन्त चंचल होता है तथा जो व्यसनों में उलझ जाते हैं ऐसे पुरुष को लक्ष्मी निश्चित रूप से छोड़ देती है, ऐसा लोक में कहा जाता है । इसके विपरीत जो पुरुषार्थी हैं, दीनता को पास तक नहीं फटकने देते हैं, सदा ही किसी न किसी कार्य में जुटे रहते हैं, शास्त्रज्ञान में जो पारंगत हैं, शान्ति और दया जिनका स्वभाव बन गया है तथा जो सत्य, शौच, दम तथा उत्साह से युक्त हैं ऐसे लोगों के पास सम्पत्तियाँ दौड़ी आती हैं[46] ।

उपर्युक्त शिक्षा से राजकुमार के निम्नलिखित गुण निर्धारित होते हैं -

1. पूज्य पुरुषों से मधुर भाषण करना तथा उनकी विनय करना ।
2. शत्रुओं पर नीतिपूर्वक विजय प्राप्त करना ।
3. दुष्टों को दण्ड देना तथा शरणागत की रक्षा करना ।

4. दुःखी प्राणियों की सहायता करना ।
5. त्रिवर्ग का अविरोध रूप से सेवन ।
6. कर्त्तव्य की भावना से दान देना ।
7. सेवकों के प्रति क्षमा भाव धारण करना ।
8. गुणों को ग्रहण करना, दोषों को छोड़ना ।

वादीभसिंह के अनुसार समस्त कार्यों की प्रवृत्ति उपदेशमूलक होती है । पुरुष सुनना, ग्रहण करना, धारण करना और बारबार स्मरण करना आदि नाना प्रकार के उपायों से जो शास्त्रज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका प्रयोजन हेय और उपादेय तत्त्व के परिज्ञान रूप आत्मतत्त्व की सिद्धि करना है, क्योंकि मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण वही है । यदि आत्मतत्त्व की सिद्धि नहीं हुई तो चावलों का त्याग करने वाले के धान के कूटने के समान, जल से निरपेक्ष मनुष्य के कुआं खोदने के समान, शास्त्रश्रवण की इच्छा से विमुख मनुष्य के कणाद की उक्ति के अध्ययनजन्य श्रम के समान, दानगुण से अनभिज्ञ मनुष्य के धनोपार्जन के क्लेश के समान, अनात्मवादी, के तपस्या के श्रम के समान, जिनेन्द्र भगवान के चरणों में प्रणाम करने की सद्बुद्धि से रहित मनुष्य के शिर का भार धारण करने से उत्पन्न थकावट के समान और इन्द्रियों के पास के दीक्षा के प्रारम्भ के समान समस्त प्रयास व्यर्थ है । इस संसार में कोमलबुद्धि को धारण करने वाले कितने ही लोग बुद्धिमानों के द्वारा निन्दित, नश्वर शरीर की जीविकामात्र और सभा को वश में करने में चतुर चार प्रकार के पाण्डित्य की प्राप्ति कर लेना ही शास्त्रज्ञान का प्रयोजन समझते हैं । ऐसे लोग केवल मुट्ठी भर अन्न के लिए बहुमूल्य मुक्ताफलों को बेचने वाले किरातों के समान निष्फल प्रयत्न होते हुए विद्वानों की उपेक्षा को स्वीकार करते हैं । यथार्थ में हेय और उपादेय के परिज्ञान रूप फल से युक्त शास्त्रज्ञान का निश्चय करने वाले विद्वान दुर्लभ है[48] ।

यौवन से उत्पन्न मोहरूपी महासागर हजारों अगस्त्य ऋषियों के द्वारा भी नहीं पिया जा सकता और प्रलयकालीन सूर्यों के समूह से भी नहीं सुखाया जा सकता । लक्ष्मी के कटाक्षों के प्रसार से फैलने वाला गर्व रूपी ज्वर समस्त औषधियों के प्रयोग की निष्फलता करने में समर्थ है । अत्यधिक ऐश्वर्य से उत्पन्न गर्वरूपी काच (व्याधिविशेष) से जिनकी कान्ति रूक गई है, ऐसे नेत्र सामने रखी हुई भी वस्तु को देखने में समर्थ नहीं होते हैं। प्रभावरूपी नाटक के अभिनय के लिए सूत्रधार का काम देने वाला, गर्वरूपी अपसार (मिरगी) मणि, मन्त्र और औषधि के प्रभाव को फीका कर देने वाला है । पाताल के गड्ढे में पृथ्वी के उद्धार में समर्थ वराह रूप के धारक नारायण भी फलकाल में विषय विषयाभिलाषा रूपी अत्यधिक शेवाल के जाल में फंसे हुये मन का उद्धार करने में समर्थ नहीं है । तीव्ररागरूपी धूलिपटल के समागम से उत्पन्न होने वाली मलिनता समस्त जाल के प्रवाह से भी नहीं धोयी जा सकती और राजलक्ष्मी रूपी नागिन अवस्थाओं में विषयविष के छोड़ने में भयंकर है, अतः (राजकुमारों को) कुछ शिक्षा दी जाती है[49] जिसका एक रूप निम्नलिखित है। यहाँ जीवन्धर कुमार को प्रबोधित करते हुए गुरु आर्यनन्दी कहते हैं -

अविनयरूपी पक्षियों के क्रीडावन स्वरूप यौवन, कामरूपी सर्प के निवास के लिए रसातल स्वरूप सौन्दर्य, स्वच्छन्दाचरण रूप नट के नृत्य की रंगभूमिस्वरूप ऐश्वर्य और पूज्यपुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने वाली क्षुद्रता को जन्म देने वाली बलवत्ता में एक-एक भी मनुष्यों के अनर्थ के लिए पर्याप्त हैं, फिर इन चारों का एक-एक स्थान पर समागम होना समस्त अनर्थों का घर है, इसमें क्या संशय है अर्थात् कोई संशय नहीं है । मनुष्यों का मन घटिक पाषाण के समान निर्मल

होने पर भी यौवनरूप लक्ष्मी के चरण रूपी पल्लवों के पड़ने से ही मानों राग (लालिमा) को धारण करने लगता है। शास्त्र रूपी कसौटी के पत्थर पर पिसने से जिसकी चिकनाई दूर हो गई है, ऐसी बुद्धि भी उतरती हुई नवयौवनरूपी स्त्री के चरणों से उठी हुई धूलि से ही मानों मटमैली हो जाती है। बड़े बड़े बुद्धिमान पुरुषों को भी मनोवृत्ति यौवन के समय वास्तविक नशा से युक्त मदिरा के पीने से उन्मत्त होकर ही मानों हित और अहित को नहीं समझती है। कुछ थोड़े ही पुरुष किसी तरह विवेक को कर्णधार बनाकर यौवन सम्बन्धी उत्कण्ठा रूप तरंगों से युक्त एवं कामरूपी भंवरों से दुस्तर यौवनरूपी सागर को तैर पाते हैं। यौवनरूपी शरद के आने से मत्त, विवेकरूपी बेड़ियों को तोड़ देने वाले और विषयरूपी वन में विहार करने वाले इन्द्रियरूपी हाथियों को वश में करने के लिए गुरूओं के उपदेश अंकुश का काम देते हैं। आप जैसे भव्य ही गुरुओं के तथाविध उपदेश रूपी बीजों की उत्पत्ति भूमि है। नई कलई के लेप से सफेद कान्ति को धारण करने वाले महल की छत पर जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें सुशोभित होती हैं, उसी प्रकार स्वभावसुलभ विवेक से जिसका मोह दूर हो गया है ऐसे मन में गुरुओं के वचन सुशोभित होते हैं। अत्यन्त तीव्र मोहरूपी काले लोह से निर्मित कवच से युक्त मूर्ख मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट कराए जाने वाले हितोपदेशी जनों के वचन खण्ड-खण्ड हो जाते हैं[50]।

मनुष्यों के लिए उपदेशरूप वचन मन्दराचल के मथन से उत्पन्न परिश्रम के बिना ही प्राप्त होने वाला अमृतपान है। हृदयरूपी गुहा के भीतर अत्यधिक रूप से बढ़ते हुए मलिनमोह रूपी अन्धकार के समूह को दूर करने में समर्थ, सूर्य से भिन्न पदार्थों की किरणों का समूह है। अविवेक रूपीवन को भस्म करने वाले पाण्डित्य का पात्र अग्नि से भिन्न पदार्थ का व्यापार है। परिपाक रूपी सागर की वृद्धि का प्रमुख कारण चन्द्रमा से भिन्न पदार्थों किरणों का समूह है और रत्नमयी शिलाओं से निर्मित्त आभूष्णों का भार धारण करने के खेद से रहित दूसरा आभूषण है। परन्तु यह उपदेश रूप वचन राजाओं के लिए विशेषकरदुर्लभ है, क्योंकि उनके लिए हित अहित का उपदेश देने वाले सज्जन मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ रहते हैं। राजाओं के सभा मण्डपों के प्रदेश दुर्जनरूपी काँटों से व्याप्त रहते हैं। अत: सज्जनपुरुष नि:शंक होकर उनमें पैर रखने के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं ? यदि समर्थ भी होते हैं तो अपने कार्य की परवशता से उनका विवेक नष्ट होने लगता है और वे वृहस्पति के तुल्य होने पर भी किसी तरह राजाओं के समीप आश्रय पाने के लिए अग्नि को भी अतिक्रान्त करने वाली शक्ति से प्रज्वलित अनवसर क्रोध से भयंकर उन्हीं के वचनों का तोताओं के समाय स्वयं अनुवाद करने लगते हैं। (उन्हीं के स्वर में अपना स्वर मिला देते हैं) यदि कोई तेजस्वी मनुष्य सब ओर से परहित में.तत्पर होने के कारण निराकरण प्रधान वचनों की उपेक्षाकर उपदेश के वचन कहते भी हैं तो निन्दा का भार धारण करने में समर्थ राजा, पृथ्वीतल की प्राप्ति के समय चढ़े हुए प्रताप रूप ज्वर के वेग से कान बहरे हो जाने के कारण ही मानों उसे सुनते नहीं हैं। किसी तरह सुनते भी हैं तो मदिरा के नशा से मत्त सुन्दरी स्त्रियों के मुख की मदिरा के सम्पर्क से चित्तवृत्ति शिथिल हो जाने के कारण मानों उस ओर ध्यान नहीं देते और अपने लिए हित का उपदेश करने वाले विद्वानों को खेद खिन्न करते हुए उनके कहे अनुसार आचरण नहीं करते। यदि करते भी हैं तो फल की प्राप्ति पर्यन्त कार्य नहीं करते और क्या कहा जाय ? राजाओं की प्रकृति स्वाभाविक अहंकार रूपी अत्यधिक सृजन से उत्पन्न कँपकँपी से विह्वल हुआ करती है। स्वभाव से ही खल-दुर्जन जैसा आचरण करने वाले राजाओं को दुराचार से प्रेम रखने वाली लक्ष्मी और भी अधिक खल (दुर्जन) बना देती है। यह लक्ष्मी कल्पवृक्ष के साथ उत्पन्न होकर भी लोभियों में प्रमुख है, चन्द्रमा की बहिन होकर भी दूसरों के लिए सन्ताप उत्पन्न करने वाले

कार्यों में तत्पर है, कौस्तुभमणि के साथ उत्पन्न होकर भी पुरुषोत्तम–नारायण से द्वेश करने वाली है। यह पाप की ऋद्धि बढ़ाने में शिकार है, परवशता उत्पन्न करने में वेश्या है, ठगने में जुआ के समान है और तृष्णा बढ़ाने में मृगमरीचिका है। यह लक्ष्मी रात्रि के समान है, क्योंकि जिस प्रकार रात्रि तम–अन्धकार से सहित और दूसरे प्रकाश को नहीं सहने वाले स्वभाव से युक्त है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी तमोगुण सहित और दूसरे के वैभव को नहीं सहने वाले स्वभाव से युक्त है अथवा यह लक्ष्मी कुलटा स्त्री के समान है, क्योंकि जिस प्रकार व्याभिचारिणी स्त्री पुरुष से द्वेष रखती हुई दूसरे पुरुष की खोज में तत्पर रहती है उसी प्रकार लक्ष्मी भी प्राप्त पुरुष के साथ द्वेष रखती हुई दूसरे पुरुष की खोज में रहती है। अथवा लक्ष्मी पानी के बबूला के समान है, क्योंकि जिस प्रकार पानी का बबूला जल के ऊपर प्रभाव रखता है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी जड़प्रभवा–मूर्खजनों पर प्रभाव रखती है। जिस प्रकार बबूला क्षणभर के लिए अपनी उन्नति दिखलाता है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी क्षणभर के लिए अपनी उन्नति दिखलाती है। अथवा यह लक्ष्मी किंपाकफल के समान है, क्योंकि जिस प्रकार किंपाकफल भोगों की इच्छा को प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी भोगों की इच्छा को करती है– बढ़ाती है। किंपाकफल जिस प्रकार कटुकफला – मृत्युरूप फल से युक्त है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी दुःखदाई परिणामसहित है।

इस प्रकार परगतिविरोधिनी – दूसरे की उन्नति से विरोध रखने वाली, फलदायक व्यय से दूर रहने वाली, पृथ्वी आदि भृतचतुष्टय से निर्मित शरीरमात्र पोषण में तत्पर रहने वाली और श्रेष्ठ चरित्र को नष्ट करने वाली, चार्वाकमत के सदृश राजलक्ष्मी से परिगृहीत राजपुत्र उसीक्षण नैयायिकों के द्वारा निर्दिष्ट मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त हुए के समान पूर्ववर्ती– गुणसमूह को भी नष्ट कर केवल जड़स्वरूपता को अपने आधीन करते हैं और सांख्यदर्शन में कल्पित पुरुष के समान सदा अहंकार संगत प्रकृति से युक्त होते हैं तथा प्रकृति के विकार को सूचित करने वाले स्वभाव के विकार को प्रकट करने वाले वचन बोलते हैं।

राजाओं का जो स्वरूप है, उसके वर्णन करने में इन्द्र को भी असंख्य मुखों का धारक होना चाहिए। वे सज्जनों से सेवित नहीं होते हैं। वे धर्म शब्द को न सुनने वाले, मन्त्रियों की बात न मानने वाले, तेजस्वी मनुष्यों को सहन न करने वाले, शास्त्रों से रहित, काम में इच्छा रखने वाले, निर्दय अभिप्राय से युक्त, अदूरदर्शी, भविष्य के विचार से रहित, नाम का उन्मूलन करने वाले, अपने कुल को नष्ट करने वाले, भयंकर सजा देने वाले भ्रष्ट, विचारशक्ति से रहित तथा योग्य निर्णय से विमुख रहते हैं[51]।

इस प्रकार जो अत्यन्त क्षुद्र है, अनेक क्षुद्रतर मनुष्यों के समूह से भोगकर छोड़े हुए पृथ्वी के जरा से टुकड़े की प्राप्ति से सम्बन्ध रखने वाले पट्टबन्ध से जो अन्धे हो रहे हैं, जो विषयरूपी अन्धकार में संचार करने वाले हैं, जो गलत रूप स्वभाव से युक्त शरीर को, विनश्वर ऐश्वर्य को, दावानल से युक्त वन के समान यौवन को, विचार करने पर नष्ट होने वाले पराक्रम को, इन्द्रधनुष के समान सौन्दर्य को और तृण के अग्रभाग पर स्थित पानी की बूँद की सदृशता को प्रख्यापित करने वाले अस्थायी सुख को स्थायी समझ रहे हैं और जो सम्पन्नता के कारण उत्पन्न मूढ़ता से स्वयं ही मानों पतन कर रहे हैं ऐसे उन क्षुद्र राजाओं को लाठियों से घायल करते हुए के समान होने से कपटपूर्णवृत्ति को धारण करते हुए सज्जन की तरह चेष्टाकर चलते फिरते लक्ष्य को भेदन कराने की सामर्थ्य करने के लिये शिकार खेला जाता है, संकट में पड़े कार्य के विस्तार करने की चतुरता प्राप्त करने के लिए जुआ खेला जाता है, शरीर की दृढ़ता के लिए मांस खाया जाता है,

चित्त को प्रसन्न रखने के लिए मदिरा पान किया जाता है। रतिसम्बन्धी चतुराई प्राप्त करने के लिए वेश्याओं के साथ समागम किया जाता है, नूतन स्त्री के साथ रतिरस में आदरभाव दूर करने के लिए परस्त्री को स्वीकृत किया जाता है, शूरवीरता को बढ़ाने के लिए चोरी की जाती है, क्रीड़ा सम्बन्धी रस की प्राप्ति के लिए चंचलता धारण करना ठीक है, पूज्य पुरुषों का तिरस्कार करना महापर्वता है, वन्दनीय मनुष्यों की वन्दना नहीं करना महानुभावता है और तेजस्वी मनुष्यों का तिरस्कार करना महातेजस्वीपन है, ऐसा उपदेश दे अपने अधीन कर लेते हैं[52]।

धन के मद ने जिसके विवेक को चाट लिया है, ऐसा प्राणी भी उस प्रकार उपदेश देने वाले अधिक पापी, कुमार्गदर्शी, अहितोपदेशी, कुकृत्यकारी, कहे हए का समर्थन करने वाले, उत्कोच (रिश्वत) से जीवित रहने वाले, दूसरे की पीड़ा से प्रसन्नचित, दूसरे का अभ्युदय देखकर खिन्नचित्त, चुगलखोर और धूर्तमनुष्यों का भार सीखने में निपुण लोगों की अत्यन्त चतुर एवं अत्यन्त स्नेही समझकर अपना शरीर, अपनी स्त्री, अपना धन, अपना आचाय, सब उनके आधीन कर देते हैं और सज्जनों के समागत रूपी द्वार को बन्द कर देते हैं। इस प्रकार की कुशिक्षा के बल से अपनी चपलता से राजपुत्र प्रायः अविनय को पहले और यौवन को पीछे, जाड्य शीत को पहले और अभिषेक को बाद में, अहंकार को पहले और सिंहासन पर अधिष्ठान को पीछे, कुटिलता को पहले और मुकुट को बाद में प्राप्त करते हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे विद्वानों की सेवा से प्रशस्त, मनहूसी से रहित, सौमनस्य सहित, बिना प्रार्थना किए ही प्राप्त जागरण से युक्त, अचल और अनुपम वृत्ति को यथार्थ में प्राप्त करने के लिए सजग हो सके। सौजन्यरूपी सागर से उत्पन्न, प्रत्युपकार की भावना से निरपेक्ष, मनुष्यमात्र के लिए दुर्लभ, पूर्वोपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सज्जनों के वचनरूपी अमृत के लाभ से व्यक्ति चिरकाल तक सन्तुष्ट और परिपुष्ट होते रहते हैं[53]।

राज्य देने के बाद पिता भी पुत्र को उपयोगी शिक्षा देता था। अपने सत्यंधर नामक पुत्र को राज्य देते हुए जीवन्धर कहते हैं - हे पुत्र। तुझे धर्म के साथ स्नेह रखने वाला, प्रजा के साथ अनुराग रखने वाला, मन्त्रियों को प्रसन्न रखने वाला स्थान देने वाला, न्यायपूर्ण अर्थ की खोज करने वाला, निरर्थक कार्य से द्वेष रखने वाला, मन्द मुस्कान पूर्वक बोलने वाला, गुणों से वृद्ध जनों की सेवा करने वाला, दुर्जनों को छोड़ने वाला, दूर तक विचार करने वाला, हित-अहित का विवेक रखने वाला, शास्त्रविहित कार्य को करने वाला शक्य कार्य का प्रारम्भ करने वाला, शक्यफल की इच्छा रखने वाला, किए हुए कार्य की देखरेख करने वाला, किए हुए कार्य को स्थिर रखने के व्यसन से युक्त, बीती बात के पश्चाताप के साथ द्रोह करने वाला, प्रमाद से किए हुए कार्य को दूर करने वाला, मन्त्रियों के वचनों को अच्छी तरह से सुनने वाला, दूसरे के अभिप्राय को जाने वाला, परीक्षित व्यक्ति को स्वीकृत करने वाला, परिभव को नहीं सहने वाला, शिक्षा को सहन करने वाला, देह की रक्षा को धारण करने वाला, देश की रक्षा करने वाला, उचित दण्ड की योजना करने वाला, शत्रु समूह के हृदय को भेदने वाला, देश और काल को जानने वाला, चिन्हों से अज्ञेय अभिप्राय को धारण करने वाला, यथार्थता को जाननेवाले गुप्तचरों सहित, इन्द्रियों की पराधीनता को दूर करने वाला तथा गुरुभक्ति सहित होना चाहिए[54]।

उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रखते हुए वादीभसिंह के अनुसार राजकुमारों के कर्त्तव्य प्रमुख रूप से निम्नलिखित अवधारित होते हैं -

1. सदुपदेशों का भली-भांति अवधारण करना।

2. यौवन, सौन्दर्य, ऐश्वर्य और बलवत्ता को मनुष्य का अनर्थकारी मानना ।
3. सज्जनों की संगति करना और दुर्जनों से दूर रहना ।
4. अहंकार न करना ।
5. लक्ष्मी के स्वरूप को समझकर उसमें आसक्ति न रखना ।
6. सद्गुणों का पालन करना ।

चन्द्रप्रभुचरित से ज्ञात होता है कि संसार की परम्परा बनाए रखने वाली लक्ष्मी से विरक्त वर्तमान राजा राज्य प्राप्त करने वाले कुमार को कहता था कि मेरा चित्त पहले ही संसार से विरक्त है, मैं केवल तुम्हारे अभ्युदय की अपेक्षा करता हुआ राजपद पर स्थित था[55]। अब तुम विपत्तिरहित और शान्तचित्त होकर अपने तेज से शत्रुओं के उदय को मिटाते हुए इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वीमण्डल का पालन करो[56]। जिस आचरण से सारी प्रजा तुम्हारे अभ्युदय से खेदरहित और सुखी हो वही आचरण करो, गुप्तचरों के द्वारा भली-भांति देखो[57]। नीति के ज्ञाता कहते हैं कि प्रजा को प्रसन्न रखना ही वैभव का मुख्य कारण है[58]। जो राजा विपत्ति रहित है, उसे ही नित्य सम्पत्ति प्राप्त होती है। जिस राजा का अपना परिवार वशवर्ती है, उसके ऊपर कभी विपत्तियाँ नहीं आती। परिवार के वशीभूत न होने पर भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है[59]। परिवार को वश में करने के लिए कृतज्ञता का सहारा लेना चाहिए। कृतघ्न पुरुष में सब गुण होने पर भी वह सब लोगों को विरोधी बना लेता है[60]। कलि दोष अथवा पापाचरण से मुक्त होकर धर्म से विरोध न करते हुए अर्थ और काम को बढ़ाना चाहिए। इस मुक्ति से जो राजा त्रिवर्ग का सेवन करता है, वह इसलोक और परलोक दोनों को अपना बना लेता है[61]। अप्रमादी होकर सदा वृद्धों की सलाह से कार्य करना चाहिए[62]। गुरु की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्र की शोभा या वैभव को प्राप्त करता है। प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाले भृत्यों (कर्मचारियों) को दंड देना तथा प्रजा के अनुकूल कर्मचारियों को सम्मान देना चाहिए। ऐसा करने से वन्दीजन स्तुति करते हैं और कीर्तिसमस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाती है[63]। अपनी चित्तवृत्ति को सदा छिपाए रखना चाहिए। काम करने से पहले यह प्रकट न हो कि क्या किया जा रहा है। जो पुरुष अपने मन्त्र (गुप्तवार्ता) को छिपाए रखते हैं और शत्रुओं के मन्त्र को फोड़कर जान लेते हैं वे शत्रुओं के लिए सदा अगम्य रहते हैं[64]। जैसे सूर्य तेज से परिपूर्ण है और सब दिशाओं को व्याप्त किए रहता है तथा पर्वतों का सिर का अलंकार रूप है तथा उसकी किरणें (कर) बाधाहीन होकर पृथ्वी पर पड़ती है वैसे ही तुम भी तेजस्वी बनकर सब दिशाओं को परिपूर्ण कर राजाओं के सिरताज बनो तथा तुम्हारा कर पृथ्वी पर बाधाहीन होकर प्राप्त हो[65]।

उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रखते हुए वीरनन्दी के अनुसार राजकुमारों के निम्नलिखित कर्त्तव्य अवधारित होते हैं -

1. जिस आचरण से प्रजा खेद रहित और सुखी हो, वही आचरण करना ।
2. परिवार को वशवर्ती करना ।
3. कतज्ञहोना ।
4. धर्म से विरोध न करते हुए अर्थ और काम को बढ़ाना ।
5. वृद्ध जनों की सलाह से कार्य करना ।
6. प्रजापीड़कों को दण्ड देना ।
7. अपनी चित्तवृत्ति को छिपाए रखना ।

फुटनोट

1. द्विसंधान महाकाव्य 3/2
2. द्विसंधान महाकाव्य 3/23
3. वही 3/24
4. द्विसंधान महाकाव्य 3/25
5. वही 3/26
6. वही 3/35
7. द्विसंधान महाकाव्य 3/40
8. द्विसंधान महाकाव्य 3/30
9. द्विसंधान महाकाव्य 3/40
10. वही 3/41
11. वही 3/43
12. आदिपुराण 4/134
13. वही 10/141
14. वही 4/138, 46/340
15. उत्तरपुराण 54/132
16. वही 54/133
17. वही 54/134
18. वही 54/135
19. वही 54/126
20. उत्तरपुराण 62/417
21. वही 68/58-59
22. वही 68/75-76
23. वर्धमानचरित 1/51
24. वही 1/64
25. वही 4/25
26. वही 1/61
27. वही 10/64
28. नीतिवाक्यामृत 11/4
29. वही 11/8
30. वही 5/39
31. नीतिवाक्यामृत 11/6
32. वही 24/73
33. वही 11/7
34. वही 24/74
35. वही 24/75
36. वही 24/76-77
37. वही 24/78
38. वही 24/80
39. वही 24/81
40. वही 24/84
41. वही 29/17
42. वरांगचरित 29/42
43. वरांगचरित 29/33
44. वही 29/34
45. वरांगचरित 29/35
46. वरांगचरित 29/39
47. गद्यचिन्तामणि द्वि. लम्भ पृ. 102
48. गद्यचन्तामणि, द्वितीय लम्भ, पृ. 102-102
49. वही द्वितीय लम्भ पृ. 106-107
50. गद्यचिन्तामणि, द्वितीय लम्भ, पृ. 107-108
51. गद्यचिन्तामणि, द्वितीय लम्भ पृ. 109-115
52. गद्यचिन्तामणि, द्वितीय लम्भ पृ. 115-116
53. गद्यचिन्तामणि, पृ. 116-117
54. वही. एकादशलम्भ पृ. 424-425
55. चन्द्रप्रभचरित 4/33
56. वही 4/34
57. वही 4/35
58. वही 4/36
59. वही 4/37
60. वही 4/49
61. वही 4/39
62. वही 4/40
63. वही 4/41
64. वही 4/42
65. चन्द्रप्रभचरित 4/43

❑❑❑

षष्ठ अध्याय

मन्त्रिपरिषद् और अन्य अधिकारी

मन्त्रिपरिषद का महत्व- मन्त्रिवित् राजा को मन्त्रशाला में मन्त्रियों के साथ विचार करना चाहिए। विचार किए बिना किसी कार्य का निश्चय नहीं करना चाहिए तथा (किसी कार्य के विषय में) निश्चय हो जाने पर मन्त्रणा नहीं करना चाहिए[1]। मन्त्रियों के वचनों का उल्लघंन करना अभाग्य[2] को निमन्त्रण देना है। समय आ पड़ने पर अपने स्वामी के प्रति गाढ़ भक्ति रखने वाला सचिव (मन्त्री) अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है और अपने प्राणों का नाश करने वाले वचन[3] बोलता है। गद्यचिन्तामणि के प्रथमलम्भ से पता चलता है कि राजा के प्रतिनिष्ठा रखने वाले कितने ही मन्त्रियों को मार डाला गया कितने ही को काले लोहे की बेड़ियों से बद्चरण कर चोर के समान कारागृह में डाल दिया गया[4]। मन्त्री के गणों से प्रभावित होकर कभी कभी राजा उन पर शासन का भय रखकर अपने दिन सुखपूर्वक बिताते थे इसका परिणाम अच्छा और कभी कभी बुरा भी होता था। सत्यंधर राजा द्वारा काष्ठांगार के ऊपर शासन का भार रखना उनकी मृत्यु और राज्यापहरण रुप अनिष्ट का कारण बना। गद्यचिन्तामणि के प्रथमलम्भ में काष्ठागांर के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है - राजा सत्यंधर काष्ठांगार नामक उस मन्त्री पर राज्य का भार रखने को तैयार हो गया, जिसने अपने स्वभाव मे इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति को तिरस्कृत कर दिया था, जो राजनीति के मार्ग को अच्छी तरह जानता था, सफलता को प्राप्त हुए साम आदि उपायों के द्वारा जिसका यश बढ़ रहा था, पराक्रमरूप सिंह के निवास करने के लिए जो चलता, फिरता वर्णन था, गाम्भीर्य रुपगुणों से जिसने समुद्र को निन्दित कर दिया था, अपनी स्थिरता से जिसने कुलाचल की खिल्ली उड़ाई थी, जिसका मन वज्र के समान कठोर था, जो संकट के समय भी खेदखिन्न नहीं होता था, जो समस्त शत्रुदल पर आक्रमण करने को तैयार बैठा था एवं अनुत्साह को जिसने दूर भगा दिया था[5]।

उपर्युक्त विवरण से मन्त्रियों के निम्नलिखित सामान्य गुणों पर प्रकाश पड़ता है-

1- तीक्ष्ण बुद्धि होना

2- राजनीति के मार्ग को अच्छी तरह समझना।

3- साम आदि उपाय से सफलता प्राप्त कर यश की वृद्धि करना।

4- गाम्भीर्य और स्थैर्य गुणों से युक्त होना।

5- संकट के समय न घबराना।

6- शत्रु पर आक्रमण करने के लिए तैयार होना।

7- उत्साही होना।

एक अन्य स्थान पर सुयोग्य मन्त्रियों के राजनीति में कुशलता, सरल बुद्धि, कुल क्रमागत मोटे कार्यो से विमुखता एवं वृद्धावस्था में विद्यमान होना रुप गुणों का कथन हुआ है[6]।

आदिपुराण के अनुसार जिस प्रकार मन्त्रशक्ति के प्रभाव से बड़े बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकाररहित हो जाते हैं, उसी प्रकार मन्त्रशक्ति (मन्त्रणाशक्ति) के प्रभाव से बड़े बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकाररहित हो जाते हैं[7]।

राजा मन्त्रियों के द्वारा चर्चा किए जाने पर शत्रुओं का सब प्रकार आना जाना आदि जान लेता है[8] और उनके द्वारा उसका आत्मबल सन्निहित रहता है[9]। इस प्रकार वह जगत को जीतने में समर्थ होता है[10]।

उत्तरपुराण के अनुसार राजा प्रजा का रक्षक है, इसलिए जब तक प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है तभी तक राजा रहता है। यदि राजा इससे विपरीत आचरण करता है तो सचिवादि उसे त्याग देते हैं[11]। राजा मन्त्रियों से मिलकर किसी समस्या के समाधान का उपाय खोज लेता है बुद्धिमान व्यक्ति उपाय के द्वारा बड़े बड़े पुरुष की भी लक्ष्मी का हरण कर लेते हैं[12]। अपने विश्व मन्त्रियों पर राज तन्त्र (स्वराष्ट्र) तथा अवाप (परराष्ट्र) की चिन्ता रखकर स्वंय शास्त्रेक्त मार्ग से धर्म तथा काम में लीन हो जाता है[13]।

नीतिवाक्यामृत के अनुसार पुष्पमाला के आकार को धारण करने वाले तन्तु सुगन्धिरहित होने पर भी (जिस प्रकार) पुष्पों की संगति से देवताओं के सिर पर धारण किए जाते हैं[14], इसी प्रकार मूर्ख एवं असहाय राजा सुयोग्य मन्त्रियों की अनुकूलता से शत्रुओं द्वारा अजेय हो जाता है। जो राजा मन्त्री पुरोहित और सेनापति के कहे हुए योग्य सिद्धान्तों का पालन करता है, उसे आहार्यबुद्धि कहते हैं[15]। अचेतन पत्थर महापुरुषों से प्रतिष्ठित होकर देव बन जाता है तो मनुष्य की तो बात ही क्या है[16]? अर्थात मनुष्य विशिष्ट पुरुषों के संसर्ग से अवश्य ही महत्व को प्राप्त हो जाता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वंय राज्य का अधिकारी न होने पर भी विष्णु गुप्त चाणक्य के अनुग्रह से साम्राज्य पद को प्राप्त किया[17]।

मन्त्रियों की संख्या- मन्त्रियों की संख्या अनेक होती थी, सामान्य मन्त्रियों के अतिरिक्त बहुत से मुख्य मन्त्री भी होते थे[18]। सभी मन्त्रियों को मिलाकर मन्त्रिमण्डल बनता था मन्त्रिमण्डल को पद्मचरित में मन्त्रिवर्ग[19] कहा गया है। हरिवंश पुराण में भी मन्त्रियों की कोई निश्चित संख्या का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। राजा श्री धर्मा के बृहस्पति, बलि, नुमुचि और प्रहलाद ये चार मन्त्री थे[20]। इससे यह अनुमान होता है कि सामान्यत: राजा के चार ही मन्त्री हुआ करते थे। आदिपुराण से मन्त्रियों की संख्या प्राय: चार होने से समर्थन होता है[21]। ये चारों राज्य के चार चरणों के समान होते थे। इनकी उत्तम योजना के कारण राजा का राज्य समवृत्त (जिसके चारों चरण समान लक्षण के धारक हों) के समान विस्तार को प्राप्त होता था[22]। राजा आवश्यकतानुसार इन मन्त्रियों में से कभी तीन के साथ कभी दो के साथ, कभी एक के साथ कभी चारों के साथ मन्त्रणा करता था[23]। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा को केवल एक मन्त्री नहीं रखना चाहिए क्योंकि अकेला मन्त्री स्वतन्त्र होने से निरकुंश हो जाता है और कठिनता से निश्चय करने योग्य कार्यों मे मोह को प्राप्त हो जाता है[24]। अकेला व्यक्ति अपने को अनेक कार्यों में नियुक्त नहीं कर सकता है[25]। जिस प्रकार एक शाखा वाले वृक्ष से अधिक छाया नहीं हो सकती, उसी प्रकार अकेले मन्त्री से राज्य के महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं[26]। राजा को दो मन्त्री भी नही रखना चाहिए, क्योंकि दो मन्त्री आपस में लड़कर राज्य को नष्ट कर डालते हैं[27]। यदि दोनो मन्त्रियों का निग्रह किया जाता है तो वे दोनों मिलकर राजा को नष्ट कर देते हैं[28]। दो बलिष्ठ बैल जिस प्रकार अधिक भार ढोने में नियुक्त किए जाते है, उसी प्रकार[29] दो गुणी मन्त्रियों के रखने में कोई हानि नहीं है। इसी का समर्थन करते हुए सोमदेव कहते हैं यथोक्त गुण (सदाचार आदि) वाले एक या दो मन्त्रियों की नियुक्ति में कोई दोष नहीं है[30]। सामान्यतया राजा को तीन, पाँच या सात मन्त्री नियुक्त करना

चाहिए[31]। परस्पर में ईर्ष्या रखने वाले बहुत से मन्त्री राजा के समक्ष अपनी बुद्धि का उत्कर्ष प्रकट करते हैं (अपना अपना मत पुष्ट करते हैं) बहुत से अन्धों का समूह रुप को नहीं जान सकता, इसी प्रकार बहुत से गुणहीन मन्त्री यथार्थ निश्चय नहीं कर सकते[32]।

मन्त्रियों की योग्यता - मन्त्री को अर्थतत्वका जानने वाला[33], हितकर और प्रिय सम्मति देने वाला, अपने राज्य को सब प्रकार से सम्पन्न बनाने में तत्पर[34], इष्ट कार्य को करने वाला[35], पक्षपात की भावना से रहित[36], स्वामी के प्रति सदैव भक्ति रखने वाला, सदबुद्धि से युक्त[37], युक्ति संगतवचन बोलने वाला, सब दृष्टियों से हितकर संक्षिप्त तथा सारपूर्ण वचन बोलने वाला[38] तथा हिताहित के विचार में दक्ष[39] होना चाहिए। जो बुद्धिमान नहीं होते हैं, उनके द्वारा सोची गई योजनायें निश्चित रुप से विनाश को प्राप्त करती हैं[40]। वर्तमान तथा भविष्य में उपस्थित होने वाले कार्य को प्राप्त करती हैं स्वंय समझे बिना ही केवल दूसरों की बुद्धि और तर्कणा से जो व्यक्ति समझने का प्रयत्न करते हैं, उन मूढ़ो को अपने कार्य में सफलता नहीं मिलती है। बुरी सम्मति मानने के कारण वे उन सम्मति देने वालों के साथ नष्ट हो जाते हैं[41]। मन्त्रियों के विशेषण में एक विशेषण 'मन्त्रमार्गविद्' आता है[42] अर्थात् मन्त्री को मन्त्रमार्ग का ज्ञाता होना चाहिए। भरत और बाहुबली राजा समान बलशाली थे। उनका यदि युद्ध होता तो जनपद का क्षय होता, अतः हरिवंशपुराण के 11वें सर्ग में कहा गया है कि दोनों ओर के मन्त्रियों ने परस्पर सलाह कर कहा कि देशवासियों का क्षय न हो, इसलिए दोनों राजाओं में धर्मयुद्ध होना चाहिए[43]। भरत और बाहुबली दोनों ने मन्त्रियों की बात मान ली[44]। आदिपुराण अच्छे मन्त्री को सरल, दूरदर्शी, शीघ्र ही कार्य करने वाला, शास्त्र मार्ग के अनुसार चलने वाला[45], छल रहित, स्वच्छ हृदय को प्रकट करने वाला, अन्तरंग अनुराग को प्रकट करने वाला, सर्वस्वसमर्पणकारी, अपना गुप्त धन राजा के पास रखने वाला और उदार होना चाहिए[46]।

मन्त्रियों की योग्यता की परीक्षा - मन्त्रियों की परीक्षा चार प्रकार की उपधाओं (गुप्त उपायों) तथा जाति आदि गुणों से करना चाहिए[47]। चार उपधायें ये हैं,-

1- धर्मोपधा।　　2- अर्थोपधा।

3- कामोपधा।　　4- भयोपधा।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार हैं-

1. **धर्मोपधा** - धर्मोपधा से राजा पुरोहित को किसी नीच जाति के यहां यज्ञ करने तथा पढ़ाने के लिए नियुक्त करे। जब पुरोहित इस कार्य के लिए निषेध करे तो राजा उसको उसके पद से च्युत कर दे। वह पदच्युत पुरोहित गुप्वतर स्त्री पुरुष पुरुषों के माध्यम से शपथपूर्वक प्रत्येक अमात्य को राजा से भिन्न कराए। वह कहे - यह राजा बड़ा अधार्मिक है। हमें चाहिए कि उसके स्थान पर उसके ही वंशज किसी श्रेष्ठ पुरुष को, किसी धार्मिक व्यक्ति को, समीप के किसी सामन्त को, किसी जंगल के स्वामी को या जिसको भी हम एकमत होकर निश्चित कर लें, उसको नियुक्त करें। मेरे इस प्रस्ताव को सबने स्वीकार कर लिया है बताओ तुम्हारी क्या राय है ? पुरोहित की यह बात सुनकर आमात्य यदि उसे स्वीकार न करे तो उसे पवित्र हृदय वाला समझना चाहिए। इस प्रकार गुप्त धार्मिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को धर्मोपधा कहते हैं।

2. अर्थोपधा - अर्थोपधा से राजा किसी निन्दनीय या अपूज्य व्यक्ति का सत्कार करने के लिए सेनापति को आदेश दे । राजा की इस बात से जब सेनापति रुष्ट हो जाय तो राजा उसको भी पदच्युत कर दे । वह पदच्युत अपमानित सेनापति गुप्तभेदियों द्वारा अमात्य को धन का प्रलोभन देकर उन्हें पूर्वोक्त विधि से राजा के विनाश के लिए उकसाए। वह कहे - मेरी इस युक्ति को सभी ने स्वीकार कर लिया है । बताओ, तुम्हारी क्या सम्पति है ? सेनापति को यह बात सुनकर अमात्य यदि उसका विरोध करे तो समझ लेना चाहिए कि वह पवित्र हृदय वाला है । इस प्रकार गुप्त आर्थिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को अर्थोपधा कहते हैं ।

3. **कामोपधा**- कामोपधा से राजा किसी सन्यासिनी का वेष धारण करने वाली विशेष गुप्तचर स्त्री को अन्त:पुर में ले जाकर उसका अच्छा स्वागत सत्कार करे और फिर वह एक एक अमात्य के निकट जाकर कहे कि महामात्य महारानी जी पर आसक्त है । आपके समागम के लिए उन्होंने पूरी व्यवस्था कर दी है । इससे आपको यथेष्ट धन भी प्राप्त होगा । अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसे पवित्रचित्त समझना चाहिए। इस प्रकार गुप्त काम सम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य के हृदय में पवित्रता की परीक्षा को कामोपधा कहते हैं ।

4. **भयोपधा** - नौकाविहार के लिए एक अमात्य दूसरे अमात्य को बुलाए । इस प्रस्ताव पर राजा उत्तेजित होकर उन सबको दण्डित कर दे । तदन्तर राजा द्वारा पहले अपकृत हुआ कपटवेषधारी छात्र (छात्र के रुप में गुप्तचर) उस तिरस्कृत एवं दण्डित अमात्य के निकट जाकर उससे कहे- यह राजा बहुत ही बुरा है । इसका वध करके हम किसी दूसरे राजा को उसके स्थान पर नियुक्त करें । सभी अमात्यों को यह स्वीकृत है कहिए, आपकी क्या राय है ? अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसको शुचिचित्त समझना चाहिए। इस प्रकार गुप्तमय सम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य की शुचिता की परीक्षा को भयोपधा कहते हैं[48] ।

जाति आदि गुणों से तात्पर्य मन्त्री का स्वदेशोत्पन्ना, सत्कुलीन, अवगुण शून्य, निपुणसवार एवं ललितकलाओं का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, वाकपटु पगल्भ (दबंग) प्रतिवाद तथा प्रतीकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, मित्रता के योग्य, दृढ़, स्वामिभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान, निरभिमानी, स्थिरप्रकृति: प्रियदर्शी और द्वेषवृत्तिरहित होना है[49] । मन्त्री पद की प्राप्ति, राजा की प्रसन्नता व शस्त्रों से जीविका करना, इनमें से प्राप्त हुई एक एक वस्तु भी मनुष्य को उन्मत्त बना देती है । इन तीनों का समुदाय उपस्थित हो तो कहना ही क्या[50] ? अत:राजा को योग्यता देखकर मन्त्रियों की नियुक्ति करना चाहिए । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में से एक वर्ष का , स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन, विशुद्ध, निर्व्यसनी, अव्यवाभिचारी, समस्त व्यवहारों का ज्ञाता, युद्धविद्धा में प्रवीण तथा छलकपट से रहित व्यक्ति को मन्त्री बनाना चाहिए[51]। नीच कुल वाला मन्त्री राजा से द्रोह करके भी मोह के कारण किसी से लज्जा नहीं करता है[52] । कुलीन पुरुषों में विश्वासघात आदि का होना अमृत का विष होने के समान है[53]। जिस प्रकार नेत्र की सूक्ष्मदृष्टि उसके महत्व का कारण होती है, उसी प्रकार राजमन्त्री की भी यथार्थ दृष्टि उसको राजा द्वारा गौरव प्राप्त कराने में सफल होती है[54] ।

मन्त्रियों की नियुक्ति- गुप्तचर रूपी नेत्रों से युक्त राजा के मन्त्री ही निर्मल चक्षु है[55] । अत: योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति होना चाहिए । मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करता था । गद्यचिन्तामणि

के दशम लम्भ में राजा द्वारा महामात्र (महामन्त्री) की नियुक्ति का उल्लेख हुआ है[56]। उत्तरपुराण में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है- राजा मन्त्रियों की नियुक्ति करता और बढ़ाता है। मन्त्री अपने उपकारों से राजा को बढ़ाते हैं[57]।

नीतिवाक्यामृत के अनुसार (मन्त्री, सेनाध्यक्ष आदि) करण की नियुक्ति अनेक पुरुषों सहित तथा अस्थायी होना चाहिए[58]। अस्थायी करते समय स्वदेश व परदेश का विचार नहीं करना चाहिए।

मन्त्रियों के अर्थ - मन्त्रिगण राजा के प्रत्येक कार्य में सलाह दिया करते थे। राजा मय की पुत्री मन्दोदरी जब तारुण्यवती हो गई तब उसके योग्य वर की खोज के लिए राजा ने मन्त्रियों से सलाह की[59]। मन्त्र करने में निपुण मारीच आदि सभी प्रमुख मन्त्रियों ने बड़े हर्ष के साथ राजा को उचित सलाह दी[60]। राजा महेन्द्र की पुत्री अंजना जब विवाह के योग्य हुई उस समय महेन्द्र ने भी मन्त्रिजनों से योग्य वर बतलाने के लिए कहा और विचारविमर्श कर योग्य वर की तलाश की। यम नामक लोकपाल के द्वारा रावण की प्रशंसा किए जाने पर जब इन्द्र (इन्द्र नामक राजा) युद्ध के लिए उद्यत हुआ, तब नीति की यर्थाथता को जानने वाले मन्त्रियों ने उसे रोका[61]। राजा जब विभिन्न प्रकार के वाद विवादों का निर्णय करता था, उस समय मन्त्रिगण भी वादस्थल में उपस्थित रहते थे[62]। मृगांक आदि मन्त्रियों ने रावण को समझाया कि सीता को छोड़कर राम के साथ सन्धि करो[63]। नीतियुक्त बात कहने के कारण रावण उसकी बात टाल नहीं सका और उसने सन्धि के लिए दूत भेजा, परन्तु दृष्टि के संकेत से रावण ने अपना दुरभिप्राय समझा दिया[64]। इसके बाद पुन: मन्दोदरी ने रावण को समझाने के लिए मन्त्रियों को प्रेरित किया तब मन्त्रियों ने स्पष्ट कह दिया कि दशासन का शासन यमराज के शासन के समान है। वे अत्यन्त मानी और अपने आपको ही प्रधान मानने वाले हैं[65]। मन्त्रियों के इस कथन से ही उनकी विज्ञता सूचित होती है।

मन्त्रिगण हृदय से राजा के प्रति प्रेम धारण करने वाले होते थे। जब हनुमान दीक्षा लेने का विचार व्यक्त करते हैं तो मन्त्रि लोग शोक से व्याकुल हो जाते हैं और कहते हैं- देव। आप हम लोगों को अनाथ न करें[66]। राजा को अनुपस्थिति में या अन्य किसी आपत्ति में मन्त्रि लोग अन्त: पुर की यत्नपूर्वक रक्षा करते है। जब साहसगति विद्याधर ने सुग्रीव का वेष धारणकर लोगों को वास्तविक सुग्रीव के विषय में भ्रम में डाल दिया। तब मन्त्रियों ने सलाह की कि निर्मल गोत्र पाकर ही शीलादि आभूषण से विभूषित हुआ जाता है इसलिए इस निर्मल अन्त:पुर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए[67]।

हितकारी कार्य में प्रवृत्त करना और अहितकारी कार्य का निषेध करना मन्त्री के ये दो कार्य है[68]। मन्त्री को चाहिए कि वह परिपाक में पथ्यरूप वचन कहे। क्योंकि जो बुद्धिमान होते हैं वे अकार्य को कभी नहीं बतलाते हैं[69]। मन्त्री नीति का परित्याग न करने वाले, विपाक में रमणीय विद्वानों को हितकर कानों को रसायन के समान लगने वाले वचन कहकर विराम ले ले[70]।

बिना जाने या बिना प्राप्त किए हुए शत्रु सैन्य वगैरह का जानना या प्राप्त करना, जाने हुए कार्य का निश्चय करना, निश्चित कार्य को दृढ़ करना, किसी कार्य में सन्देह होने पर निवारण करना, एकोदेश प्राप्त हुए भूमि आदि पदार्थों का प्राप्त करना अथवा एकदेश जाने हुए कार्य के शेषभाग को जान लेना ये सब कार्य राजा को मन्त्री आदि की सलाह से सिद्ध करना चाहिए[71]।

मन्त्री को राजा के लिए दुख देना उत्तम है, किन्तु अकार्य को उपदेश देकर उसका विनाश करना उत्तम नहीं है[72] । जब बच्चा दूध नहीं पीता है तब माता उसके गाल पर थप्पड़ लगाती है[73], इसी प्रकार मन्त्री को भी राजा की भलाई के लिए भविष्य में हितकारक और तत्काल कठोर व्यवहार करना चाहिए। मन्त्री लोग राजा के दूसरे हृदय होते हैं, अत: उन्हें किसी के साथ स्नेहादि सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए[74]। राजा द्वारा किया हुआ निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह मन्त्रियों द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिए[75] । जो मन्त्री राजकार्य में सावधान रहते है, फिर भी उनका कार्यसिदध नहीं होता तो उनका कोई दोष नहीं है, राजा को पूर्वजन्म सम्बन्धी भाग्य का दोष है[76] ।

राजा और मन्त्री का पारस्परिक व्यवहार - मन्त्रियों के प्रति राजा बहुत सम्मान की भावना रखता था। एक स्थान पर मन्त्रणा के लिए बुलाए हुए मन्त्रियों से बातचीत करता हुआ राजा कहता है - हम (राजा) भी नीति में निपुण हो गए, यह आप ही लोगों की महिमा है । दिवस जो सब संसार को प्रकाशित करता है वह सूर्य का ही प्रताप है[77] । माता पुत्र को अपने कौशल से बढ़ाती है, चतुरता सिखाती है, अप्रमादी होकर रक्षा करती है, यही सब व्यवहार आप लोगों की बुद्धि भी हमारे साथ करती हैं[78] । जिसके आप (मन्त्रिगण)सदृश गुरु सब कार्यों की देखभाल करते हैं वह मैं (राजा) सुमेरु केसमान प्रयोजन (अत्यधिक कठिन कार्य) आ पड़ने पर भी व्याकुल होने वाला नहीं[79] । यदि अंकुशतुल्य आप जैसे गुरु सिर पर न होता गजसदृश होने के कारण पग पग पर विचलित होने वाले जो हम लोग है, उन्हें कुपथ पर ले जाने से कौन रोके[80] ? आप ही लोगों की बुद्धि के सहारे मेरा पराक्रम आगे बढ़ाकर शत्रुओं पर आक्रमण करता है[81] । इसके उत्तर में मन्त्री भी शिष्टाचारपूर्वक राजा से निवेदन करता है- आप ही के प्रमाद से हम ऋद्धि और बुद्धि(मति)के पात्र बने है । अतएव आप ही इस पृथ्वी पर हमारे गुरु, ईश (स्वामी) सुहृद और एक मात्र बन्धु हैं[82] । कार्य को समझने वाले और परम्परा को देखे हुए जो आप लोग हैं, उनके आगे नीतिशास्त्र का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाले मुझ जैसे व्यक्ति का लज्जित होना ही स्वाभाविक है । कार्य को समझने वाले के आगे शास्त्रज्ञ का बोलना अच्छा नहीं लगता है तथापि अच्छे अधिकार पर स्थित लोगों का धर्म है कि वे अपनी शक्ति पर प्रभु को सलाह दें। भूसी में पडे चावल की तरह कभी कभी बालक से भी थोड़ी सी अच्छी बात मिल जाती है[83] । इस प्रकार लम्बी बातचीत होती थी । अन्त में राजा हितकर वचन स्वीकार कर लेता था[84] ।

अमात्य और उनका महत्व – जो राजा द्वारा दिया हुआ दान सम्मान प्राप्त कर अपने कर्तवय पालन में उत्साह व आलस्य करने से क्रमश: राजा के साथ सुखी दुखी होते हैं, उन्हें अमात्य कहते हैं[85] । जब शतरंज का राजा मंत्री के बिना चतुंरग सेना सहित होकर भी उसका राजा नहीं हो सकता, तो वास्तविक राजा की तो बात ही क्या है[86]? अकेला राजा (अमात्य आदि की सहायता के बिना)कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है[87] । जिस प्रकार (रथ आदि का) एक पहिया नहीं चल सकता है[88], उसी प्रकार मन्त्री आदि की सहायता के बिना राज्यशासन नहीं चल सकता है । जिस प्रकार अग्नि ईंधन युक्त होने पर भी हवा के बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती[89] । उसी प्रकार मन्त्री के बिना बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी राज्यशासन करन में समर्थ नहीं हो सकता है । अमात्य को पद्मचरित में सचिव[90] तथा मन्त्रि[91] नाम से उल्लिखित किया है । यहाँ इन्हें मन्त्रकोविद[92] (मन्त्र ज्ञाता), महाबलवान्[93], (महाबला), नीति की यर्थाथता को जानने वाले (नय याथात्म्यवेदिना)[94],

सदभिप्राय से युक्त (धृतमानस:)[95], **सब कुछ जानने वाले**[96], **विद्वान**[97], **निर्भीक उपदेश देने वाले**[98], **निज और पर की क्रियाओं को जानने वाले**[99]. **प्रेम से भरे**[100], (राजा के)**परम अनुयायी**[101] **आदि विशेषणों से भूषित किया गया हैं ।**

अमात्यों का अधिकार क्षेत्र - अमात्यों के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत चार बातें आती हैं[102]। (1) आय, (2) व्यय, (3) स्वामिरक्षा, (4) तन्त्रपोषण ।

चतुरंग सेना को तन्त्र कहते हैं[103] ।

अमात्य के दोष- अमात्य के निम्नलिखित दोष हैं[104]

(1) भक्षण (राजकीय धन खाना), (2) उपेक्षण (राजकीय सम्पत्ति नष्ट करना),

(3) प्रज्ञाहीनता (बुद्धि नष्ट होना), (4) उपरोध (प्रभावहीनता), (5) प्राप्तार्थाप्रवेश (करादि से प्राप्त धन जमा न करना), (6) द्रव्यविनिमय (राजकीय बहुमूल्य अल्पमूल्य में निकालना) ।

अमात्य होने के अयोग्य पुरुष - राजा को (1)तीक्ष्वा (अत्यन्त क्रोधी) (2) बलवान पक्ष वाला (3) मलिन (अशुचि) (4)व्यसनी (5) नीचकुलवाला (6) हठी (7)अधिक व्यय करने वाला (8) परदेशी और (9) कृपण व्यक्ति को अमात्य नहीं बनाना चाहिए।

क्रोधी व्यक्ति दण्डित किए जाने पर या तो स्वंय मर जाता है या स्वामी को मार डालता हैं[105] । प्रबलपक्ष वाला व्यक्ति मन्त्री पद पर नियुक्त होकर नदीपुर के समान राजा रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देता हे[106] । जो आमदनी अल्प करता है और व्यय अधिक करता है वह राजकीय धन खा जाता हे[107] । थोड़ी आय वाला (अमात्य) दरिद्रता के कारण देश व राजकुटुम्ब को पीड़ित करता है[108] । विदेशी पुरुषों को धन के आय-व्यय का अधिकार और प्राणरक्षा करने का अधिकार नहीं देना चाहिए, क्योंकि वे राज्य में कुछ समय तक ठहरकर अपने देश को प्रस्थान कर जाते हैं और समय पाकर राजद्रोह करने लगते हैं[109]। अपने देशवासी पुरुषोद्वारा ग्रहण किया हुआ धन कुऐं में गिरी हुई (धनादि) वस्तु के समान थोड़े समय बाद प्राप्त हो सकता हैं[110] । अत्यन्त कृपण व्यक्ति जब धन ग्रहण कर लेता है, तब उससे धन वापिस लेना पाषाण से वल्कल (छाल) छीलने के समान कठिन है[111]। यदि थाली अन्न आदि का भक्षण करने लगे तो भोजन करने वाले को भोजन कैसे मिल सकता है[112] ? इसी प्रकार अमात्य आदि धन को हड़पने लगे तो राज्य का कार्य नहीं चल सकता है । जब कोई मनुष्य किसी कन्या से विवाह करने का इच्छुक होकर किसी अन्य व्यक्ति को (सन्देश आदि के साथ) उसके पास भेजता है और वह जाने वाला व्यक्ति उस कन्या से स्वयं विवाह कर लेता है तो उस भेजने वाले व्यक्ति का तप करना ही श्रेयस्कर है[113] । इसी प्रकार धनरक्षा के कार्य में नियुक्त अमात्य आदि स्वयं धन भक्षण करते हैं तो राजा को राज्य छोड़कर तप करना ही श्रेष्ठ है । कहने का तात्पर्य यह है कि जिस राजा के मन्त्री की बुद्धि धनग्रहण करने में आसक्त होती है, उस राजा का न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है, न उसके पास धन ही रह सकता है[114] ।

मन्त्रियों के दोष

(1) राजा की इच्छा के अनुसार अकार्य को कार्य के रुप में शिक्षा देना - जो मन्त्री राजा की इच्छा से उसकी आज्ञा के अनुसार चलने के उद्देश्य से अकार्य की कार्यरुप में शिक्षा देता है, वह राजा का शत्रु हैं[115] ।

(2) व्यसनता - जिस राजा का मन्त्री व्यसन (जुआ, मद्यपान, पर स्त्रीसेवन आदि) में फँसा हुआ है वह राजा पागल हाथी पर चढ़े हुए मनुष्य के समान शीघ्र नष्ट हो जाता है[116]।

(3) युद्धयोद्योग अथवा भूमित्याग का उपदेश देना - वह क्या मन्त्री या मित्र है जो (शत्रु द्वारा आक्रमण किए जाने पर) प्रथम ही (सन्धि आदि उपाय को छोड़कर) युद्ध करने अथवा भूमि का परित्याग करने का उपदेश देकर निश्चित रुप से महान् अनर्थ उत्पन्न करता है[117]।

(4) हितोपाय तथा अहितप्रतीकार न करना - जो मन्त्री अपने स्वामी की उन्नति के उपाय और दुखों के प्रतीकार को नहीं जानता है, केवल भक्ति दिखाता है, उसकी भक्ति से क्या लाभ है[118]?

(5) अकुलीनता : अकुलीन (मन्त्री आदि) अपनी अपकीर्ति से नहीं डरते हैं[119]। नीच कुल वाले (व्यक्ति) समय आने पर पागल कुत्ते के विष की तरह विरुद्ध हो जाते हैं[120]।

(6) स्वेच्छाचारिता - स्वेच्छाचारी (पुरुष) आपस की उचित सलाह नहीं मानते हैं[121]।

(7) व्यावहारिकता का अभाव - जिस ज्ञान के द्वारा दूसरों को समझाकर सन्मार्ग पर न लगाया जाय वह मन्त्री या विद्वान का ज्ञान घर में रखे हुए दीपक के समान व्यर्थ है[122]। जिसका शस्त्र अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है ऐसे शस्त्रविद्या में प्रवीण मन्त्री से क्या लाभ हो सकता है[123]? कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है। शस्त्र या शास्त्र व्यर्थ है जो विरोधी व्यक्तियों के आक्रमण को नहीं रोकता है[124]।

(8) मूर्खता - जो मनुष्य धार्मिक क्रियाकाण्डों का विद्वान नहीं है, उसको जिस प्रकार श्राद्धक्रिया कराने का अधिकारी नहीं है, उसी प्रकार राजनीतिविज्ञान से शून्य मुर्खमन्त्री को भी मन्त्रणा का अधिकार नहीं है[125]। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य देख नहीं सकता है, इसी प्रकार मुर्ख मन्त्री भी मन्त्र का निश्चय नहीं कर सकता[126]। यदि अन्धे मनुष्य को दूसरा अन्धा ले जाये तो वह सन्मार्ग को नहीं देख सकता[127], इसी प्रकार मूर्ख मन्त्री द्वारा मार्ग दिखाया गया मूर्ख राजा अभीष्ट स्थान को नहीं पा सकता है। मूर्ख मन्त्री से यदि कभी कार्यसिद्ध हो जाय तो वह काकतालीयवत् (अन्धे के हाथ बटेर) होती हैं[128]। मूर्ख मनुष्य जो कार्य करते हैं, उसमें उन्हें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है और फल थोड़ा मिलता हैं[129]। मूर्ख मनुष्य का शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किया जाता है[130]। मूर्ख मनुष्य को मन्त्रणा का ज्ञान घुणाक्षरन्याय के समान हो जाता है जो राजा मूर्ख मन्त्रियों को राज्यभार समर्पण करता वह अपने नाश के लिए की गई मन्त्रसिद्धि के समान अपना नाश कर डालता है[131]।

(9) विषमता - विषम (परस्पर ईर्ष्या के कारण मतवैभिन्न वाले) पुरुषों के समूह में एक सम्मति होना कठिन है[132]।

(10) शस्त्रोपजीविका - शस्त्रों से जीविका करने वाले (क्षत्रिय) को कलह के बिना खाया हुआ भोजन नहीं पचता[133]। अत: शस्त्रसंचालन करने वाले मन्त्रिपद के योग्य नहीं हैं[134]। क्षत्रिय को रोकने पर भी केवल कलह सूझता है[135]।

मन्त्रणा और उसका माहात्म्य - आचार्य विशालक्ष का कहना है कि एक ही व्यक्ति द्वारा सोचा विचारा हुआ मन्त्र सिद्धिदायक नहीं हो सकता। सभी राजकार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के होते हैं, उनके लिए मन्त्रियों की अपेक्षा होती है। न जाने हुए कार्य को जानना, जाने हुए कार्य

का निश्चय करना, निश्चित कार्य को दृढ़ करना और किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर विचारविमर्श द्वारा उस संशय का निराकरण करना, आंशिक कार्य को पूरी तरह विचारना इत्यादि सभी बातें मन्त्रियों के सहयोग से ही पूरी की जा सकती हैं, इसलिए विजिगीशु राजा को अत्यन्त बुद्धिमान और पर्याप्त अनुभवी व्यक्तियों के साथ बैठकर विचार करना चाहिए[136]। धनन्जय के अनुसार जिस कार्य में योजना में सज्जनों का सहयोग हो, दण्डनीति द्वारा जिसका रक्षण हो तथा उच्चस्थान पर गत शुभग्रहों की जिस पर दृष्टि हो वह योजना लक्ष्मी मन्दिर के प्रवेशद्वार के समान होती है। जो ऐसी योजना में मूढ़ है, उसे नीतिकार दिग्भ्रान्त ही कहते हैं[137]। प्रारम्भ न करने से, प्रारम्भ करके भी अनुभवहीनता के कारण, चातुरी होने पर भी स्थान परिवर्तन के कारण अवसर बीता कार्य अथवा यौवन पुन: हाथ नहीं आता। अतएव प्रवृत विषय पर अर्थसाधक अर्थ, अनर्थकारी अर्थ, अर्थबाधक अनर्थ और अनर्थकारी अनर्थ इन चार दृष्टियों से विचार करना चाहिए[138]।

मन्त्रणा करते समय ध्यान देने योग्य बातें – मन्त्रणा करते समय न बहुत थोड़ा बोलना चाहिए, न बहुत अधिक बोलना चाहिए, थोड़ा कहे जाने पर मूर्खो की समझ में नही आता, बहुत बोलना विशेषज्ञ विद्वानों को उद्वेजित कर देता है, अत: समुचित सुझावरुप अर्थ से परिपूर्ण वाणी का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी वाणी विद्वानों की युक्ति के समान होती है[139]। विचारणीय विषयों में प्रत्येक जो सामने आता है, उसको एक एक ही दृष्टि से ऐसा बैठाना चाहिए जो भविष्य में इष्टसाधक हो, जैसे कि सामने आये हुए ग्रास एक मुख से ही एक-एक करके लेने से पथ्य होते हैं अथवा एक साथ उपस्थित विचारणीय विषयों को अनेक अवयवों की दृष्टि से वैसे विचारना चाहिए जैसे विविध दृष्य भोगों को इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं[140]। जो व्यक्ति कार्य के प्रारम्भ में ही नीति से काम नहीं लेता है, उसके राज्यादिभोग सरस नहीं होते हैं, इसलिए विधाता ने लोगो के मुख में जिव्हा बनाई है, पेट में जिव्हा नहीं बनाई हैं[141]। यदि प्रतीक्षा की जा सकती हो तो समस्त आरब्ध कार्य को थोड़ा करके ही हाथ लगाना चाहिए, जैसे गाय परमप्रिय भोजन को एक बार में ही पूरा तथा जी भरकर खाकर बाद में धीरे धीरे जुगाली करती है[142]। कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसके अत्यन्त मित्र होते हों अथवा जिसके सर्वथा शत्रु ही होते हों, अतएव जिसका आरम्भ करने से मित्रता का अतिक्रमण न होता हो अथवा शत्रु समूह के साथ वैर का अपलाप न होता हो वही कार्य करना चाहिए[143]। मन्त्रणा पौरुष के पुट से व्याप्त तथा अर्थ में महान् होना चाहिए। बहुत वचन और थोड़े अर्थ वाली वाणी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि थोड़े मे दर्पण में भी बहुत बड़े पदार्थ की परछाई दिख जाती हैं[144]। मन्त्री को विश्वस्त होना चाहिए यदि मन्त्री फूट जाय तो पराजय का सामना करना पड़ सकता हैं[145]।

मन्त्रणा करने का स्थान – मन्त्रणा एकान्त स्थान में होनी चाहिए तथा दृढ़ता और गम्भीरता से युक्त होनी चाहिए[146]। मन्त्रणा करने के लिए अलग एकान्त गृह होता था, जिसे मन्त्रगृह कहते थे। यहाँ युवराज तथा मन्त्रियों से राजा बातचीत करता था[147]। कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा है- जिस स्थान पर बैठकर मन्त्रणा की जाय, वह चारों ओर से इस प्रकार बन्द होना चाहिए, जिससे वहाँ पक्षी तक न झाँक सके और कोई शब्द बाहर सुनाई न दे, क्योंकि अनुश्रुति है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्तमन्त्रणा को तोता और मैना ने सुनकर बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्ते और अन्य पशुपक्षियों के विषय में भी सुना जाता है। इसलिए राजा की आज्ञा के बिना कोई

भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में मन्त्रणा स्थल न जावे । यदि गुप्तमन्त्रणा के भेद को कोई फोड़ दे तो तत्काल ही उसको मरवा दे[146] । सोमदेव के अनुसार जो स्थान चारों तरफ से खुला हो तथा चारों तरफ से प्रतिध्वनि गुंजती हो ऐसे (पर्वत गुफा आदि स्थानो में) मन्त्रणा नहीं करना चाहिए[149]। जो व्यक्ति दिन या रात्रि में मन्त्रणा करने के योग्य स्थान की प्रतीक्षा किए बिना ही मन्त्रणा करता है[150], उसका गुप्त मंत्र प्रकाशित हो जाता है ।

मन्त्रणा के अयोग्य व्यक्ति - राजा ने जिनके बन्धु आदि कुटुम्बियों का अपकार किया है, उसे उन विरोधियों के साथ मन्त्र (गुप्त सलाह) नहीं करना चाहिए[151] । कोई भी व्यक्ति राजा की आज्ञा के बिना मन्त्रणा के समय बिना बुलाया हुआ उस स्थान पर न ठहरे[152] । सुना जाता है कि तोता, मैना ने तथा दूसरे पशुओं ने राजा की गुप्त मन्त्रणा को प्रकाशित कर दिया था[153] ।

मंत्रभेद (गुप्त मन्त्रणा के प्रकाशन) से हानि - गुप्त मंत्रणा के प्रकाशन (मन्त्रभेद) से ठत्पन्न संकट को कठिनाई से नष्ट किया जा सकता है[154] ।

मन्त्रभेद के कारण - इंगित (मुखचेष्टा) 2-आकार (शरीर की सौम्य या रौद्र आकृति) 3-मद 4-प्रमाद 5-निद्रा[155] तथा प्रतिध्वनि[156] से मन में रहने वाले गुप्त अभिप्राय को चतुर लोग जान लेते हैं ।

मन्त्रणा की सुरक्षा और उसका प्रयोग - जब तक कार्य सिद्ध न हो जाय तब तक अपने मन्त्र (गुप्त बातचीत) की रक्षा करनी चाहिए[157] । मन्त्रियों को मन्त्रणा के समय परस्पर में कलह करके वाद विवाद और स्वछन्द बातचीत नहीं करना चाहिए[158] । विचार निश्चित हो जाने पर शीघ्र ही कार्यरुप में परिणत करने का यत्न करना चाहिए, इसमें आलस्य नही करन चाहिए[159] । कर्त्तवयपालन (अनुष्ठान) के बिना केवल निश्चित विचार से (आलसी: विकयार्थी की तरह कोई लाभ नहीं होता है[160] । जिस प्रकार कि औषधि के ज्ञानमात्र से रोग की शान्ति नहीं होती[161] ।

पंञ्चांग मन्त्र - धनञ्जय ने पंचाग मन्त्र[162] का निर्देश किया है । ये पाँच अंग है-

(1) कार्य आरम्भ करने का उपाय । (2) पुरुष तथा द्रव्य सम्पत्ति ।
(3) देशकाल का विभाग । (4) विघ्नप्रतीकार ।
(5) कार्यसिद्धि[163] ।

(1) कार्य आरम्भ करने का उपाय - अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिये उसमें खाई, परकोटा और दुर्ग आदि के निर्माण करने के साधनों पर विचार करना और दूसरे देश में शत्रुभूत राजा के यहाँ सन्धि व विग्रह आदि के उद्देश्य से गुप्तचर व दूत भेजना आदि कार्यों के साधन पर विचार करना मन्त्र का प्रथम अंग हैं ।

(2) पुरुष तथा द्रव्य सम्पत्ति - यह पुरुष अमुक कार्य करने में निपुण है, यह जानकर उसे उस कार्य में नियुक्त करना तथा द्रव्यसम्पत्ति इतने धन से अमुक कार्य सिदध होगा । यह क्रमश: पुरुषसम्पत् तथा द्रव्यसम्पत् नाम का दूसरा मन्त्र का अंग है ।

(3) देश और काल - अमुक कार्य करने में अमुक देश का अमुक काल अनुकूल एवं अमुक देश और काल प्रतिकूल है, इसका विचार करना मन्त्र का तीसरा अंग हैं ।

(4) विघ्नप्रतीकार - आयी हुई विपत्ति के विनाश का उपाय चिन्तन करना । जैसे अपने

दुर्ग आदि पर आने वाले अथवा आए हुए विघ्नों का प्रतीकार करना यह मन्त्र का विघ्न प्रतीकार नाम का चौथा अंग है ।

(5) कार्यसिद्धि - उन्नति, अवनति और समवस्था यह तीन प्रकार की कार्यसिद्धि है । जिन समादि उपायों से विजिगीषु (जीतने का इच्छुक) राजा अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति या दोनों की समवस्था प्राप्त हो, यह कार्यसिद्धि नामकपाचवाँ अंग है[164] ।

उच्चपदाधिकारी

अठारह श्रेणियों के प्रधान - वरांगचरित में अठारह श्रेणियों के प्रधानों का अनेक[165] स्थानों पर उल्लेख हुआ है । कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन अठारह श्रेणियों के प्रधानों का नाम[166] इस प्रकार दिये गये हैं -

1-मंत्री, 2- पुरोहित, 3-सेनापति, 4- युवराज, 5-दौवारिक, 6-अन्तर्वंशिक, 7-प्रशास्ता, 8- समाहर्ता, 9-सन्निधता, 10-प्रदेष्टा, 11-नायक, 12-पौरव्यावहारिक, 13-कार्मान्तिक, 14-मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष, 15-दण्डपाल, 16-दुर्गपाल, 17-अन्तपाल, 18-आटविक।

मन्त्री - सामान्यतया मन्त्री के लिए[167], अमात्य[168] और मन्त्रि[169] शब्दों का प्रयोग होता था किन्तु विशेषतया मन्त्री और अमात्य दो पृथक पृथक पर होते थे वरांगचरित में मन्त्रिवर्ग और अमात्य को पृथक पृथक गिनाया है[170] । कौटिल्य और सोमदेव के वर्णन के आधार पर ज्ञात होता है कि अमात्य मन्त्रिपरिषद के सदस्य होते थे किन्तु उनको मन्त्रणा का अधिकार प्राप्त नहीं था । मन्त्रणा केवल सर्वगुणसम्पन्न, पुर्णरुपेण परीक्षित एवं विश्वसनीय मंत्रियों से की जाती थी । मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या तो बहुत होती किन्तु अन्तरंग परिषद में केवल तीन या चार मन्त्री होते थे और उन्हीं के साथ राजा गूढ़ विषयों पर मन्त्रणा करता था[171] । वरांगचरित में राजा धर्मसेन द्वारा अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नामक चार मन्त्रियों को मन्त्रणा हेतु बुलाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है[172] । मन्त्रियों में एक प्रधानमन्त्री (मन्त्रिमुख्य)[173] का भी पद होता था । बुद्धिमान मन्त्री के वाक्य कर्तव्य वस्तु के लिए कसौटी के समान होते थे[174] । प्रत्येक मन्त्री की सलाह मानना आवश्यक नहीं था, क्योंकि प्रत्येक पुरुष की मति भिन्न-भिन्न होती है । मन्त्री अपनी सम्मति को कहने का स्वामी है, परन्तु उसको करना, न करना स्वामी के अधीन है[175] ।

पुरोहित - पुरोहित को राज्य का आधाअंश माना गया है[176] । वैदिक काल से लेकर बाद तक उसका अस्तित्व पाया जाता है[177] । उसे राष्ट्र का रक्षक कहा गया है । वह राजपरिवार और उसके धार्मिक अंश के अतिरिक्त लौकिक विषयों पर भी अपना मत देना था वह राजा और प्रजा के बीच शक्ति का माध्यम था[178] । पुरोहित लोग चेष्टा से हृदय की बात समझने वाले और शकुन को जानने वाले होते थे[179] । किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित होने पर पुरोहित उसके कारण का विचार करता था[180], क्योंकि बिना विचार किए हुए कार्यों की सिद्धि न तो इस लोक में होती है और न परलोक में होती है ।

एक स्थान पर पुरोहित को दिव्यचक्षु और कार्य का ज्ञाता कहा गया है[181] । पुरोहित सपनों का फल जानने वाला भी होता था[182] । पुरोहित प्रयाण आदि के समय राजा के साथ रहता था तथा राजसभा में सम्मानित स्थान पाता था । सामरिक स्थलो पर सेनापति पुरोहित के साथ विचारविमर्श करता था[183] । मंगल कार्य के पहले पुरोहित राजा को आशीर्वाद देकर मंगल द्रव्य धारण कर

स्वस्तिवाचन करता था[184]। जब राजा क्रोधित होता था तो अनुकूल वचनों के द्वारा वह उसे शान्त करता था[185]। राजा जब इष्टदेवतादि से सिद्धि के लिए उपवासादि करता था तो पुरोहित भी उसका साथ देता था[186]।

शास्त्रपूजा, जिनेन्द्रपूजा तथा आर्शीर्वाद प्रदान करना पुरोहित के प्रधान कार्य थे और इन सबके द्वारा वह राजा को आनन्दित करता था[187]। जो कुलीन सदाचारी और छहवेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरक्त, छन्द व ज्योतिष) चारवेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग, कारणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग), ज्योतिष निमित्तज्ञान और दण्डनीतिविद्या में प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिविृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों के दूर करने में समर्थ हो ऐसे विद्वान पुरुष को राजपुरोहित राजगुरु बनाना चाहिए[188]। मन्त्री, पुरोहित हितैषी होने के कारण राजा के माता-पिता हैं, इसलिए उसे उनको किसी भी अभिलक्षित पदार्थ में निराश नहीं करना चाहिये[189]।

सेनापति-[190] सेनापति को सेनानी[191] और चमूनाथ[192] भी कहते थे। इसका विधिपूर्वक अभिषेक होता था[193]। सभा में मन्त्री पुरोहित, राज श्रेष्ठी तथा अन्य अधिकारियों के साथ सेनापति भी राजसभा में योग्य स्थान प्राप्त करता था[194]। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता था तो सेनापति सारी सेना का संचालन करता था और प्रत्येक स्थिति में राजा का साथ देता था। सेनापति के लिए प्राचीन काल में चमूचर[195], चमूपति[196], बलनायक[197], बलाग्रणी[198], महानायक[199], बलाध्यक्ष[200] तथा वाहिनीपति[201] शब्दों का भी प्रयोग होता था।

सेनापति के गुण - कुलीन, आचार व्यवहार सम्पन्न, विद्वान, अनुरागयुक्त, पवित्र, शौर्यसम्न्न, प्रभाववान्, बहुपरिवारयुक्त, समस्त नैतिक उपाय (साम, दाम, दण्ड, भेद) के प्रयोग में कुशल, समस्त वाहन, आयुद्ध, युद्ध लिपि, भाषा, व आत्मज्ञान का अभ्यस्त, समस्त सेना और सामन्तों द्वारा अभिमत (इष्ट) योद्धाओं से लोहा लेने की शक्ति से युक्त और मनोज्ञ, स्वामी द्वारा अपने समान सम्मानित व धन देकर प्रतिष्ठित किया हुआ, राजचिन्हों से युक्त और समस्त प्रकार के कष्ट और खेदों के सहन करने में समर्थ होना ये सेनापति के गुण हैं[202]।

सेनापति के दोष - जिसकी प्रकृति आत्मीयजनों व शत्रुओं से पराजित हो सके, अप्रभावी, स्वीकृत उपद्रवों से वश में किया जाने वाला, अभिमानी, व्यसनी, निरन्तर व्यय करने वाला, परदेशवासी, दरिद्र, सैनयापराधी, सबके साथ विरोध रखने वाला, दूसरे की निन्दा करने वाला, कठोरवचन बोलने वाला, अनुचित बात बोलने वाला, अपनी आय को अकेला खाने वाला, स्वच्छंद प्रकृति से युक्त, स्वामी के कार्य व आपित्तियों का उपेक्षक, युद्ध सहायक योद्धाओं का कार्यविघातक और राजहितचिन्तकों से ईर्ष्या रखने वाला व्यक्ति सेनापति के दोषों से युक्त होता है[203]।

सेनापति का कार्य - जब राजा युद्ध करने के लिए प्रस्थान करे उस समय उसका सेनापति आधी सेना सदा तैयार रखे, इसके पश्चात शत्रु पर चढ़ाई करे। जब राजा शत्रु के आवास की और प्रस्थान करे तब उसके चारों और सेना रहना चाहिए और डेरे में भी सेना रहनी चाहिए[204]। स्थायी शत्रुराजाओं को अन्य बंन्दी राजाओं से मिलाना सेनापति के अधीन है[205]।

युवराज - राजा प्रायः अपने औरस पुत्र को ही युवराज पद देता था। युवराज पद प्रदान

करते समय वद्ध महाराज उसके कत्तर्व्यमार्ग का उपदेश देते थे। युवराज धनमद या प्रभुतामद से अपने माता पिता या अन्य परिवार के व्यक्तियों की अवेहलना नहीं करता था। परिवार के साथ प्रजा को भी सन्तुष्ट बनाए रखने का कार्य युवराज करता था। राष्ट्र के महाजनों को अपमान तथा पीड़ा न पहुँचाने के कार्य से सदा दूर रहता था। विद्या, कर्म और शील से वह प्रजा का अनुरंजन करता था। इस प्रकार राजा के प्रत्येक कार्य में वह सहायक था[206]।

दौवारिक- दौवारिक से तात्पर्य राजमहल के निरीक्षक से हैं। प्राचीन काल में राजाप्रसाद में आने जाने वालों पर बड़ा ध्यान रखा जाता था। कौटिल्य का कहना है कि राजमहल की चौथी कक्षा में राजा की रक्षा दौवारिक हाथ में माला आदि लिए हुए करे[207]। राजमहल निरीक्षक की चार श्रेणियाँ थी। (1) प्रतीहार, (2) महाप्रतीहार (वर्ध. च. 2/64) (3) दौवारिक (वर्ध. च. 9/95) (4) महादौवारिक। पूर्व पूर्व की उपेक्षा उत्तरोत्तर पर अधिक अधिकारयुक्त था। प्रतीहार लोग राजसी ठाठबाट और दरबारी प्रबन्ध की रीढ़ थे।

प्रतीहारों के ऊपर महाप्रतीहार होते थे और उन महाप्रतीहारों में भी जो मुखिया था, उसका पद दौवारिक का था। ये प्रतीहार लोग राजकुल के नियमों और दरबार के शिष्टाचार में निष्णात होते थे। उसयुग में सामन्त, महासामन्त, मांडलिक, राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, सम्राट आदि विभिन्न कोटि के राजाओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के मुकुट और पद होते थे, जिन्हें पहचानकर प्रतीहार लोग दरबारियों को यथायोग्य सम्मान देते थे[208] चन्द्रप्रभचरित में आमदरबार में बैठे राजागणों का प्रधान दौवारिक के द्वारा आने की सूचना पाकर अन्दर (दीवाने खास में) प्रवेश करने का उल्लेख किया गया है[209]। नाम और कुल बतलाने के बाद ही अन्दर प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी[210]। आदिपुराण से ज्ञात होता है कि दूसरे देश से जो राजा और दूत वगैरह आते थे वे अपने आने का सन्देश महाद्वारपाल के द्वारा राजा से निवेदन करते थे[211]।

अन्तर्वंशिक - यह राजा की अंगरक्षक सेना का प्रधान होता था। राजा को चाहिए कि वंशपरम्परा से अनुगत, उच्चकुलेत्पन्न, शिक्षित, अनुरक्त, और प्रत्येक कार्य को भली भाँति समझने वाले पुरुषों को अपना अंगरक्षक नियुक्त करे, किन्तु धन सम्मानरहित विदेशी व्यक्ति को तथा एक बार पृथक होकर पुनः नियुक्त स्वदेशी व्यक्ति को राजा अपना अंगरक्षक कदापि नियुक्त न करे। राजमहल की भीतरी सेना राजा और रनिवास की रक्षा करें[212]

प्रशास्ता - प्रशास्ता सेना सम्बन्धी एक प्रधान अधिकारी था। श्री उदयवीर शास्त्री ने इसे कंटकशोधनाध्यक्ष लिखा है। श्री एन. एन. ला का मत है कि इस अधिकारी से उसी तीर्थका आशय है, जिसे महाभारत में कारागृहाधिकारी कहा गया हैं[213]।

समाहर्त्ता - यह राजकीय आय प्राप्त करने वाला सर्वोच्च अधिकारी था। आय प्राप्ति के अतिरिक्त यह जनपद के शासन सम्बन्धी विविध प्रकार के कार्यो का निरीक्षण भी करता था। समाहर्त्ता के आधीन बहुत से अधिकारी तथा विविध विभागों के अध्यक्ष काम करते थे[214]। अध्यक्षों में मुख्य निम्नलिखित है[215] -

आकाराध्यक्ष - खनिज विभाग का मुख्य अधिकारी।

पण्याध्यक्ष - व्यापार तथा क्रय विक्रय विभाग का अधिकारी।

कुपाध्यक्ष - जंगल विभाग का अधिकारी ।

आयुधागाराध्यक्ष - अस्त्र-शस्त्र विभाग का अधिकारी ।

यौवताध्यक्ष - तोल-माप विभाग का अधिकारी ।

मानाध्यक्ष - भूमि तथा समय की माप का अधिकारी ।

शुल्काध्यक्ष - कर विभाग का अधिकारी ।

सुत्राध्यक्ष - वस्त्र और कवच आदि विभाग का अधिकारी ।

सीताध्यक्ष - कृषि विभाग का अधिकारी ।

सुराध्यक्ष - आबकारी विभाग का अधिकारी ।

सुनाध्यक्ष - बूचड़खाने का अधिकारी ।

गणिकाध्यक्ष - वैश्याओं की व्यवस्था करने वाला अधिकारी ।

नावाध्यक्ष - नाव और जहाज विभाग का अधिकारी ।

गोध्यक्ष - पशु विभाग का अधिकारी ।

अश्वाध्यक्ष - घुड़शाला का अधिकारी ।

हस्त्यध्यक्ष - हाथी विभाग का अधिकारी ।

रथाध्यक्ष - रथ विभाग का अधिकारी ।

मुद्राध्यक्ष - मुद्रा विभाग का अधिकारी ।

विवीताध्यक्ष - गोचर भूमि का अधिकारी ।

लक्षणाध्यक्ष - टकसाल विभाग का अधिकारी ।

देवताध्यक्ष - देवालय विभाग का अधिकारी ।

सन्निधाता - कौटिल्य के अनुसर सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) को चाहिए कि वह कोषगृह, पण्यगृह (राजकीय विक्रेय वस्तुओं का स्थान), कोषागार (भण्डार गृह) कुप्यगृह (अन्नागार), शस्त्रागार और कारागार का निर्माण कराए[216] । उसे जनपद तथा नगर से होने वाली आय का ज्ञाता होना चाहिए । इस सम्बन्ध में उसे इतनी जानकारी होनी चाहिए कि यदि उससे सौ वर्ष पीछे की आय का लेखा जोखा पूछा जाय तो तत्काल ही वह उसकी समुचित जानकारी दे सके[217] । ए. एल. बाशम ने सन्निधाता और समाहर्ता के पदको सन्धिविग्राहक-के पद से अधिक महत्वपूर्ण माना है[218]।

प्रदेष्टा - प्रत्येक कण्टकशोधन नामक न्यायालय का न्यायधीश प्रदेष्टा कहलाता था, परन्तु यहाँ इस प्रकार के सब न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश से अभिप्राय है[219] ।

नायक - यह सेना का मुख्य संचालक था और आवश्यकतानुसार विविध प्रकार की छावनियाँ खाई कोट और अटारी आदि बनवाता था[220] ।

पौरव्यावहारिक - यह धर्मस्थीय नामक अदालतों का मुख्य न्यायाधीश था । मनुस्मृति में इसे धर्मवक्ता और मानसोल्लास में इसे धर्माधिकारी कहा है[221] । न्यायाधीश की नियुक्ति राजा करता था, लेकिन उसकी पदुच्युति के प्रकार के विषय में उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । उत्तरदायित्व के प्रश्न पर स्पष्ट है कि न्यायाधीश राजा के विधान के प्रति नहीं, शास्त्र के प्रति उत्तरदायी थे । राजा के शासन का स्वयं विधान शास्त्र करते थे । राज शासन का विधान शास्त्र के आधार पर ही हो सकता था, राजा की इच्छा पर नहीं[222] ।

कार्मान्तिक - यह अधिकारी खान, जंगलों और खेतों से मिलने वाले कच्चे पदार्थों का तैयार

माल बनाने वाले विविध प्रकार के कारखानों का प्रधान निरीक्षक तथा संचालक था। इसके अधीन बहुत से कर्मचारी थे[223]।

मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष – मन्त्रि परिषद का अध्यक्ष।

दण्डपाल – वरांगचरित में दण्डपाल से ही मिलते जुलते दो शब्द दण्डनाथ[224] और दण्डनायक[225] आये हैं तथा प्रसंगानुसार इन्हें युद्ध के लिए तैयार होने तथा गुमे हुए युवराज को खोजने के लिए कहा गया है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार इसका काम सेना की स्थिति सम्पादित करना तथा सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना एवं उसके लिए सब भाँति का प्रबन्ध करना है[226]। ए. एल. बाशम के अनुसार दण्डपाल स्वयं राजपाल भी होते थे[227]।

दुर्गपाल - दुर्गों का अध्यक्ष।

अन्तपाल - राज्य की सीमा के दुर्गों का संरक्षण करने वाला अधिकारी अन्तपाल कहा जाता था। जनपद की सीमा पर अन्तपाल की अध्यक्षता में द्वारभूत स्थानों का निर्माण होता था[228]।

आटविक - यह जंगलों तथा जंगली जातियों की देखरेख करने वाला प्रधान अधिकारी था। सम्भवत: इसी के लिए वरांगचरित में अटवीश्वर[229] शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत होने पर भली भाँति इसके वश में करने या नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था।

श्रेणियों का महत्व – प्राचीन भारत में राजा कानून का निर्माता नहीं था, वह केवल दण्डकर्त्ता के रूप में धर्म सम्बन्धी नियमों का पालन और व्यवस्था कराता था। भिन्न-भिन्न श्रेणियों और जातियों के लोग स्वयं अपने लिए नियम बनाते थे। कृषि, उद्योग धन्धे, वाणिज्य और व्यवहार के क्षेत्र में संगठित श्रेणियाँ स्थानीय स्वशासन का उपभोग करती थी। वशिष्ट ने इस रोचक प्रकरण में बतलाया है कि लेखों की प्रमाण सामग्री का विरोध होने पर स्थानीय श्रेणियों की बात का विश्वास मानना चाहिए[230] (16/15)।

स्थपति - आजकल के इंजीनियर के समान तकनीकी ज्ञान में कुशल व्यक्ति को स्थपति कहा जाता था। यह पुल बाँधने आदि का उपाय करता था[231]।

राजश्रेष्ठी - राजश्रेष्ठी एक प्रमुख पद था जो बुद्धि और वैभव से युक्त किसी वणिक को दिया जाता था। राजा कभी-कभी तन्त्र (अपने राष्ट्र की रक्षा करना) और अवाय (परराष्ट्र से सम्बन्ध का विचार करना) इन दोनों को बड़ा भारी भार राजश्रेष्ठी को सोंपकर निर्द्वन्द धर्म और काम पुरुषार्थ का अनुभव करता था[232]। वरांगचरित में इसे प्रधान श्रेष्ठी कहा गया है। (वरांगचरित 11/57)।

पीठमर्द[233] - विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नायक के बहुदूरव्यापी चरित में नायक के सामान्य गुणों से कुछ न्यून गुण वाले नायक के सहायक को पीठमर्द कहा है[234]। जैसे रावण के सुग्रीव।

अन्त:पुर के अधिकारी – अन्त:पुर की शुद्धता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था और इस हेतु दासी, भृत्य के रूप में बौने, कुबड़े, वृद्धपुरुष तथा स्त्रियों में धात्री और परिचारिकायें नियुक्त होती थीं। अन्त:पुर में एक महामात्य की नियुक्ति की जाती थी, जिसे अन्त:पुरमहत्तर कहते थे। इसके अतिरिक्त कंचुकी भी नियुक्त किया जाता था[235]। अन्त:पुर की स्त्रियों में रहकर अंगरक्षा का कार्य करने वाले वृद्ध व्यक्ति को कंचुकी कहा जाता था[236]। कंचुकी को सौविदल्ल[237] भी कहा जाता था।

नैमित्तिक – ग्रहों के शुभोदय आदि का निरूपण करने वाला अधिकारी, जो राजा के प्रयाण वगैरह का समय बतलाता था[238] ।

भाण्डागारिक[239] – कोष्ठागार अथवा भाण्डागार में नियुक्त अधिकारी ।

पौर[240] – पौर शब्द का अर्थ सामान्यतया नगरवासी किया जाता है, किन्तु वस्तुतः पौर तथा जनपद परिभाषिक शब्द हैं और इन नामों की हमारे देश में सुसंगठित संस्थायें थीं । इनका मुख्य कार्य व्यवस्था सम्बन्धी था । इन्हें तत्कालीन भारतवर्ष का व्यवस्थापक मण्डल कहा जा सकता है[241] । डॉ. जायसवाल ने इन संस्थाओं के व्यवस्था सम्बन्धी सम्मिलित कार्य मुख्यतया निम्नलिखित बतलाए हैं –

(1) युवराज की नियुक्ति पर विचार ।

(2) राजा का अभिषेक करना, अयोग्य व्यक्ति को राजा न बनने देना और अन्यायी राजा को सिंहासन से उतारना ।

(3) प्रधानमंत्री को निर्वाचित करना तथा उसके व्यवहार पर दृष्टि रखना ।

(4) राजनीति सम्बन्धी विषयों का विचार तथा विशेष अवस्थाओं में असाधारण करों की स्वीकृति ।

महत्तर[242] – ग्राम अथवा शहर के बड़े लोगों को महत्तर कहा जाता था । ग्राम के मुखिया लोगों को ग्राममहत्तर और शहर के प्रधान पुरुषों को पौरमहत्तर कहने की परिपाटी प्राचीन साहित्य में मिलती है ।

गृहपति – चक्रवर्ती की निधियों और रत्नों में शामिल होने वाला राज्य का अंगभूत अधिकारी[243] ।

ग्राममुख्य – गाँव का मुखिया ।

लेखवाह[244] – (पत्रवाहक) एक स्थान से दूसरे स्थान पर सन्देश भेजने के लिए राजा लोग लेखवाह (पत्रवाहक) रखा करते थे । उन्हें उस समय भी भाषा में लेखहारि[245] कहा करते थे । ये लोग मस्तक पर लेख को धारण करते थे, इस कारण इन्हें मस्तकलेखक भी कहा गया है[246]।

लेखक – पत्र को पढ़ने, लिखने आदि के लिए लेखक नियुक्त किए जाते थे । राजा पृथ्वीधर के यहाँ सन्धिविग्रह को अच्छी तरह जानने वाला[247] एवं लिपियों को जानने में निपुण लेखक था[248]।

भोजक[249] – प्रान्तों के शासक ।

गोष्ठमहत्तर[250] – गोपों का मुखिया ।

पुररक्षक[251] – कोतवाल ।

पालक[252] – रक्षक ।

धर्मस्थ[253] – धर्माधिकारी ।

आयुधपाल[254] – आयुधशाला की रक्षा करने वाला अधिकारी ।

याममहत्तर[255] –

अधिकारियों की नियुक्ति – जो व्यक्ति जिस कार्य में कुशल हो, उसे उस कार्य में नियुक्त करना चाहिए[256] । ब्राह्मण, क्षत्रिय व सम्बन्धियों को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए[257] । ब्राह्मण अपनी जाति स्वभाव के कारण ग्रहण किया हुआ धन बड़ी कठिनाई से देता है[258]। जो राजा अपने उपकारी पुरुष को अधिकारी पद पर नियुक्त करता है वह पूर्वकृत उपकार राजा के समक्ष प्रकट कर समस्त राजकीय धन हड़प लेता है[259] । क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध होकर तलवार दिखलाता है[260] । सम्बन्धी

तीन प्रकार के होते हैं - श्रौत, मौख्य और यौन। कुलक्रमागत अथवा सहपाठी को श्रौत कहते हैं। मौखिक वार्तालाप के कारण जो मित्र हुआ हो वह मौख्य और राजा के भाई आदि यौन बन्धु है[261]। सम्बन्धी बन्धुपने के गर्व से दूसरे अधिकारी को तुच्छ समझकर स्वयं समस्त धन हड़प लेते है[262]। राजा यदि मान्य पुरुष को अधिकारी बनाए तो वह अपने को राजा द्वारा पूज्य समझकर निडर व उच्छृंखल होता हुआ राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता है व राजकीय धन का अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करता है[263]। पुराना सेवक अधिकारी होने पर अपराध करने पर भी निडर रहता है[264]। अत: पुराने सेवक को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए। बाल्यकाल में राजा के साथ खेला हुआ व्यक्ति अतिपरिचय के कारण (अभिमानवश) राजा के समान आचरण करता है[265]। क्रूर हृदय वाला पुरुष अधिकारी बनकर समस्त अनर्थ उत्पन्न करता है[266]। शकुनि (दुर्योधन का मामा) और शकटाल (नन्द राजा का मंत्री) ये दोनों क्रूर हृदय वाले व्यक्ति के उदाहरण हैं[267]। मित्र को अधिकारी बनाने से राजकीय धन और मित्रता की क्षति होती है[268]। राजा ऐसे किसी भी व्यक्ति को नियुक्त न करे, जिसे अपराधवश कड़ी सजा देने पर पछताना पड़े[269]। वही व्यक्ति अधिकारी पद के योग्य है जो अपराध करने पर सरलता से दण्डित किया जा सके[270]। वार्तालाप आदि के द्वारा जिसके साथ मैत्री हो गई हो, उसे किसी पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए[271]। इस प्रकार निम्नलिखित व्यक्ति अधिकारी पद पर नियुक्ति के अयोग्य हैं -

(1) ब्राह्मण, क्षत्रिय और सम्बन्धी। (2) राजमान्य पुरुष।
(3) पुराना सेवक। (4) राजा का बाल्यकालीन मित्र।
(5) क्रूर हृदय वाला व्यक्ति। (6) मित्र।
(7) अपराधवश जिसे कड़ी सजा देने पर पछताना पड़े।

अधिकारियों का राजा के प्रति व्यवहार - जो अधिकारी स्वामी के प्रसन्न होने पर भी किसी प्रकार का अभिमान नहीं करता है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है[272]। राजा को उन मंत्री आदि अधिकारियों से कोई लाभ नहीं हैं, जिनके होने पर भी उसे कष्ट उठाकर अपने आप राजकीय कार्य करना पड़े[273]। सम्पत्ति अधिकारियों का चित्त विकारयुक्त करती है, यह सिद्धपुरुषों का वचन है[274]। सभी अधिकारी अत्यन्त धनाढ्य होने पर भविष्य में स्वामी के वशवर्ती नहीं होते हैं अथवा कठिनाई से वश में होते हैं या स्वामी के पद की प्राप्ति के इच्छुक होते हैं[275]। जो अधिकारी देश को पीड़ित नहीं करता वह अपनी बुद्धिपटुता और उद्योगशीलता द्वारा राष्ट्र के पूर्वव्यवहार को विशेष उन्नतिशील बनाता है, उसे स्वामी द्वारा धन व प्रतिष्ठा मिलती है[276]। स्वामी के प्रसन्न रहने से ही सेवक लोक कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते है, किन्तु जब बुद्धि और पुरुषार्थ गुण होंगे तभी वे सफलता प्राप्त कर सकते हैं[277]। शास्त्रवेत्ता विद्वान पुरुष भी जिन कर्त्तव्यों से परिचित नहीं हैं, उनमें मोह प्राप्त करता है[278]। असह्य संकट को दूर करने सिवाय दूसरा कोई भी कार्य स्वामी से बिना पूछे नहीं करना चाहिए[279]। सेवक को प्राणनाशिनी तथा लोगों से वैरविरोध उत्पन्न करने वाली एवं पाप में प्रवृत्त करने वाली स्वामी की आज्ञा को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की आज्ञा का पालन करना चाहिए[280]। जो सेवक कृतघ्नता के कारण अपने स्वामी के राजपद की कामना करते हैं उनका विनाश होता है[281]। चित्रगत राजा का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। राजा में क्षात्रतेज महान् देवता रूप से विद्यमान रहता है[282]।

राजा का अधिकारियों के प्रति कर्त्तव्य - राजा के समीप जाने पर कौन सज्जन नहीं हो जाता है[283]? अत: राजा को अधिकारियों की परीक्षा करना चाहिए। जिस प्रकार घास का बोझा

वहनकर उसका भक्षण करने वाला हाथी सुखी नहीं हो सकता[284], उसी प्रकार मंत्री आदि सहायकों के बिना स्वयं राजकीय कार्य को वहन करने वाला सुखी नहीं हो सकता है। क्षुद्रप्रकृति वाले कार्य में नियुक्त पुरुष सैन्धव जाति के घोड़ों के समान विकृत हो जाते हैं[285]। जिस प्रकार बिलावों से दूध की रक्षा नहीं हो सकती है, उसी प्रकार अधिकारियों (नियोगियों) से (राज कोष की) रक्षा नहीं हो सकती[286]। अत: राजा को सदा उनकी परीक्षा करते रहना चाहिए।

फुटनोट

1. क्षत्रचूड़ामणि 10/11
2. क्षत्रचूड़ामणि 1/35
3. क्षत्रचूड़ामणि 1/45
4. गद्यचिन्तामणि प्रथमलम्भ पृ. 63
5. गद्यचिन्तामणि प्र. लम्भ पृ. 37 - 38
6. गद्यचिन्तामणि पृ. 68
7. आदि पुराण 4 /161
8. वही 18/14
9. वही 3/251
10. आदिपुराण 4/189
11. उत्तरपुराण 62/208
12. वही 68/112
13. उत्तरपुराण 70/17
14. नीतिवाक्यामृत 10/2
15. वही 10/1
16. वही 10/3
17. वही 10/4
18 पद्यचरित 113/6
19. वही 8/487
20. हरिवंशपुराण 20/4
21. आदिपुराण 4/191
22. वही 4/192
23. आदिपुराण 4/194
24. नीतिवाक्यामृत 10/67
25. वही 10/81
26. वही 10/82
27. वही 10/68-69
28. वही 10/70
29. वही 10/79
30. नीतिवाक्यामृत 10/77
31. नीतिवाक्यामृत 10/7
32. वही 10/78
33. वरांगचरित 2/14
34. वही 11/56
35. वही 11/57
36. वही 12/16
37. वही 16/52
38. वही 20/26
39. वरांगचरित 21/65
40. वही 12/20
41. वरांगचरित 12/19
42. हरिवंशपुराण 20/4
43. हरिवंशपुराण 11/80
44. वही 11/81
45. आदिपुराण 44/120
46. वही 29/168
47. उत्तरपुराण 55/7
48. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् (अनुवाचस्पति गैरोला) प्रकरण 5 अध्याय 9 पृ. 31-33
49. वही प्रकरण 4 अध्याय 8 पृ. 28
50. नीतिवाक्यामृत 10/104
51. वही 10/5
52. वही 10/8
53. वही 10/17
54. वही 10/100
55. हरिवंशपुराण 50/11
56. गद्यचिन्तामणि दशम् लम्भ पृ. 382
57. उत्तरापुराण 70/17
58. नीतिवाक्यामृत 18/48
59. पद्यचरित 8/12
60. वही 8/16
61. वही 8/487
62. वही 11/65
63. वही 66/8

64. वही 66/13
65. वही 73/25
66. वही 113/5
67. वही 74/65
68. उत्तरपुराण 68/115
69. वर्धमानचरित 6/71
70. वही 4/44
71. नीतिवाक्यामृत 10/23
72. वही 10/53
73. वही 10/54
74. वही 10/55
75. वही 10/56
76. वही 10/57
77. चन्द्रप्रभचरित 12/58
78. वही 12/59
79. चन्द्रप्रभचरित 12/60
80. चन्द्रप्रभचरित 12/61
81 वही 12/62
82. चन्द्रप्रभचरित 12/68
83. वही 12/69-71
84. वही 12/111
85. नीतिवाक्यामृत 18/5
86. वही 18/1
87. वही 18/2
88. वही 18/3
89. नीतिवाक्यामृत 18/4
90. पद्मचरित 113/4
91. वही 66/2, 73, 22, 816
92 वही 8/16
93. वही 8/17
94. वही 8/487
95 वही 15/36
96. वही 15/26
97 वही 15/31
98. वही 66/3
99. वही 73/23
100 वही 113/4
101. वही 113/6
102. नीतिवाक्यामृत 18/4
103. वही 18/12
104. वही 18/47
105. वही 18/14
106. वही 18/15
107. वही 18/16
108. नीतिवाक्यामृत 18/17
109. वही 18/18
110. वही 18/19
111. वही 18/20
112. वही 10/108
113. वही 10/107
114 वही 10/106
115. वही 10/52
116 वही 10/9
117. नीतिवाक्यामृत 30/1
118 वही 10/12
119. वही 10/15
120. वही 10/16
121. वही 10/74
122 वही 10/18
123. वही 10/13
124 वही 10/20
125 वही 10/89
126. वही 10/90
127. वही 10/91
128. वही 10/92
129. वही 10/121
130. वही 17/15
131. नीतिवाक्यामृत 10/97
132 वही 10/72
133 वही 10/103
134 वही 10/101
135 वही 10/102
136. कौटिलीय अर्थशास्त्रं 1/14
137. द्विसंधान महाकाव्य 11/4
138. द्विसंधान महाकाव्य 11/3
139. वही 11/23
140. द्विसंधान 11/5
141. वही 11/7

142. वही 11/6
143. वही 11/8
144. वही 11/14
145. वही 11/26146. वरांगचरित 12/24
147. चन्द्रप्रभचरित 12/57
148. कौटिलीय अर्थ
149. नीतिवाक्यामृत 10/26
150. वही 10/29
151. नीतिवाक्यामृत 10/31
152. वही 10/32
153. वही 10/33
154. वही 10/34
155. नीतिवाक्यामृत 10/35
156. वही 10/27
157. वही 10/28
158. वही 10/49
159. वही 10/42
160. वही 10/43
161. वही 10/144
162. द्विसंधान महाकाव्य 11/2
163. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 1/14
164. डॉ. एम एल. शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ. 97
165. वरांगचरित 14/71, 19/18, 19/25, 18/114, 14/75, 11/63
166. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 1/11
167. चन्द्रप्रभचरित 16/24
168. वही 1/83
169. वही 12/57
170. वरांगचरित 11/57
171. डॉ.एम.एल.शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ. 90
172. वरांगचरित 2/24
173. चन्द्रप्रभचरित 12/111
174. वर्धमानचरित 7/54
175. वही 4/47
176. वरांगचरित 8/4
177. ऋग्वेद 7/60/12 वरांगचरित 30/95
178. हरिहरनाथ त्रिपाठी : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका पृ. 147-148
179. आदिपुराण 45/141
180. वही 34/28
181. वही 34/29
182. वही 47/333-334
183. वही 32/14
184. वही 28/60
185. वही 34/87
186. वही 32/85-86
187. वही 30/120-121
188. नीतिवाक्यामृत 11/1
189. वही 11/2
190. वरांगचरित 8/4
191. हरिवंशपुराण 18/10
192. वही 23/92
193. वही 51/12-13
194. आदिपुराण 5/7
195. वही 38/207
196. वही 8/225
197. वही 32/1
198 वही 32/39
199. वही 15/15
200 वही 31/20
201. चन्द्रप्रभचरित 7/57
202. नीतिवाक्यामृत 12/1
203 नीतिवाक्यामृत 12/2
204 वही 30/96
205. वही 30/77
206. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ. 524
207 चतुर्थ्यों मन्त्रिभि: दौवारिकैश्च प्रासपाणिभि: ।। कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 1/20
208. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 44
209. चन्द्रप्रभचरित 11/2
210. वही 17/57
211. आदिपुराण 8/106, 35/44

212. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 1/20
213. भगवान दास केला : कौटिल्य की शासनप्रद्धति पृ. 77, 78
214. भगवानदास केलां: कौटिल्य की शासनपद्धति पृ. 78
215. वही पृ. 78-80
216. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 2/5
217. वही 2/5
218. ए. एल. बाशम अद्भुत भारत पृ. 98
219. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति पृ. 81
220. वही पृ. 82
221. मनु. 8/20 मानसौल्लास 2/2/93
222. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 3/1
223. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति पृ. 83
224. वरांगचरित 17/10
225. वही 15/2
226. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति पृ. 83
227. अद्भुत भारत पृ. 102
228. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 2/1
229. वरांगचरित 28/67
230. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्द सभ्यता पृ. 36
231. आदिपुराण 32/27
232. वही 46/72
233. वही 22/26
234. साहित्य दर्पण 3/39
235. वरांगचरित 15/54, 15/36
236. आदिपुराण 8/128
237. गद्यचिन्तामणि पृ. 72 प्रथम लम्भ
238. आदिपुराण 8/134
239. वही 5/182
240. चन्द्रप्रभचरित 4/52
241. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति पृ. 8
242. आदिपुराण 26/127
243. आदिपुराण 11/57
244. पद्मचरित 26/123
245. वही 19/1
246. वही 19/4
247. वही 37/3
248. वही 37/4
249. वरांगचरित 11/57, 15/2
250. चन्द्रप्रभचरित 13/41
251. आदिपुराण 46/356
252. वही 38/206
253. वही 24/3
254. वही 24/3
255. चन्द्रप्रभचरित 4/52
256. नीतिवाक्यामृत 18/60
257. वही 18/22
258. वही 18/23
259. वही 18/34
260. वही 18/24
261. नीतिवाक्यामृत 18/26-2
262. वही 18/25
263. वही 18/32
264. वही 18/33
265. वही 18/35
266. वही 18/36
267. वही 18/37
268. वही 18/38
269. वही 18/31
270. वही 18/21
271. वही 18/30
272. नीतिवाक्यामृत 18/40
273. वही 18/41
274. वही 18/45
275. वही 18/46
276. वही 18/59
277. वही 18/61
278. वही 18/62
279. वही 18/63
280. वही 24/63
281. वही 10/162
282. वही 31/66
283. वही 11/34
284. वही 18/48
285. वही 18/43
286. वही 18/44

सप्तम अध्याय

कोष एवं दुर्ग

कोष की उपयोगिता - कोष ही राजाओं का प्राण है[1] । इस लोक में पर्याप्त सम्पत्ति संकलित करने से धर्म, अर्थ, काम सम्भव हो सकेंगे । यहाँ धर्म संचय करने से परलोक में तीनों निभ जायेंगे। काम पुरुषार्थ के द्वारा दोनों लोको में सबका विभाग होगा, अत: वही करना चाहिए, जिससे दोनों लोकों में तीनों पुरुषार्थों का साधन हो सके[2] । राजा दशरथ के पास इतनी सम्पत्ति थी कि उनकी दानशीलता को याचक नहीं सम्हाल सके[3] । वे निर्मल तथा पर्याप्त यशरूपी धन को संचित करने के लिए व्यवसायियों से भरे बाजारों, खनिक क्षेत्रों, अरण्यों, समुद्री तीरों पर स्थित पत्तनों, पशुपालकों की बस्तियों, दुर्गों तथा राष्ट्रों में गुणों की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति को बढ़ाते थे[4]। वादीभसिंह के अनुसार दरिद्रता जीवों का प्राणों से न छुटा हुआ मरण है[5] । मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारे पिता और पितामह द्वारा संचित बहुत धन विद्यमान है, क्योंकि वह धन अपने हाथ से संचित धन के समान उदात्तचित्त मनुष्य के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न नहीं करता अथवा करे तो भी आय से रहित धन अविनाशी नहीं हो सकता है । निरन्तर उपभोग होने पर पर्वत भी क्षय हो जाता[6] । निर्धनता से बढ़कर मर्मभेदक अन्य वस्तु नहीं हो सकती है। निर्धनता शस्त्र के बिना की हुई हृदय की शल्य है, अपनी प्रशंसा से रहित हास्य का कारण है, आचरण के विनाश से रहित उपेक्षा का कारण है, पित्त के उद्रेक के बिना ही होने वाला उन्माद सम्बन्धी अन्धपन है और रात्रि के अविभवि के बिना ही प्रकट होने वाली अमित्रता का निमित्त है । दरिद्र का न वचन जीवित रहता है, न उसकी कुलीनता जागृत रहती है, न उसका पुरुषार्थ देदीप्यमान रहता है, न उसकी विद्या प्रकाशमान रहती है, न शील प्रकट रहता है, न बुद्धि विकसित रहती है, न उसमें धार्मिकता की सम्भावना रहती है, न सुन्दरता देखी जाती है, न विनय प्रशंसनीय होती है, न दया गिनी जाती है, निष्ठा भाग जाती है, विवेक नष्ट हो जाता है अथवा क्या नष्ट नहीं होता अर्थात सब कुछ नष्ट हो जाता है । इसके विपरित धन का संचय रहने पर दोनों लोकों के योग्य पुरुषार्थ भी प्रार्थना किए बिना स्वयं आ जाता है । अत: धन के लिए यत्न करना चाहिए[6] । यही अभिप्राय छत्रचूड़ामणि में भी व्यक्त किया गया है[7] । पिता के द्वारा कमाया हुआ बहुत सा धन विद्यमान रहे, फिर भी पुरुषार्थी जनके लिए अन्योपार्जित द्रव्य से निर्वाह करने में दीनता प्रिय नहीं लगती । यदि स्वस्वाभिक धन आयरहित होता हुआ खर्च होता है तो बहुत होता हुआ भी नष्ट हो जाता है । प्राणियों को निर्धनता से बढ़कर कोई दूसरा हार्दिक दु:खदायक नहीं है । गरीब का प्रशंसनीय गुण प्रकट नहीं रहता । निर्धन के विद्यमान ज्ञान भी शोभायमान नहीं होता । निर्धनता से ठगाया गया दरिद्र पुरुष किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और चाह के अभिप्रायपूर्वक लक्ष्मीवानों के भी मुख को देखता है ।

नीतिवाक्यामृत के अनुसार कोषविहीन राजा पौर और जनपद को अन्याय से ग्रसित करता है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रशून्यता हो जाती है[8]। जो राजा सदा कौड़ी-कौड़ी जोड़कर भी अपने कोश की वृद्धि नहीं करता, उसका भविष्य में कल्याण कैसे हो सकता है9 ? कोश ही राजा कहा

जाता है, न कि राजा का शरीर[10]। जिसके हाथ में धन है, वह जयशील होता है[11]। निर्धन को उसकी पत्नी भी छोड़ देती है, अन्य की तो बात ही क्या है[12]? पुरुष कुलीन और सदाचारी होने से ही मनुष्य को श्रेष्ठ या सेवायोग्य नहीं समझते हैं, बल्कि धन के कारण ही उसे श्रेष्ठ मानते हैं[13]। जिसके पास प्रचुर धन विद्यमान है, वही महान् और कुलीन कहलाता है। जो आश्रितों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता है, उसकी निरर्थक कुलीनता और बड़प्पन से कोई लाभ नहीं है[14]। उस तालाब के विस्तीर्ण होने से क्या लाभ है, जिसमें पर्याप्त जल नहीं, इसी प्रकार कुलीनता आदि से बड़ा होने पर भी यदि कोई दरिद्र है तो उसका बड़प्पन व्यर्थ है[15]। जो मनुष्य अपने मूलधन की व्यापार आदि द्वारा वृद्धि नहीं करता है और उसे व्यय करता है, वह सदा दु:खी होता है[16]। धनी लोगों की यति लोग भी चाटुकारी करते हैं[17]। अत: गृह में आई हुई सम्पत्ति का कभी भी किसी कारण से तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है उस समय की तिथि व नक्षत्र शुभ और ग्रह कलिष्ठ माने जाते हैं[18]। जिस प्रकार हाथी से हाथी बाँधा जाता है, उसी प्रकार धन से धन कमाया जाता है[19]। दरिद्र मनुष्यसे धन लेना मरे हुए को मारने के समान कष्टदायक है[20]। संसार में कौन ऐसा मनुष्य है जो धनहीन होने पर लघु न हो[21]।

कोष का लक्षण – जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तंत्र (चतुरंग सेना) की वृद्धि करता है और उसको सुसंगठित करने के लिए धनवृद्धि करता है, उसे कोश कहते हैं[22]। कोष के लिए आदिपुराण में 'श्रीगृह' शब्द आया है। मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न चक्रवर्ती के श्रीगृह में उत्पन्न होते हैं[23]।

कोषाधिकारी – (1) आदायक (आय जमा करने वाला) (2) निबन्धक (हिसाब लिखने वाला) (3) प्रतिबन्धक (वस्तुओं पर राजकीय मुहर लगाने वाला) (4) नीवीग्राहक (राजकीय द्रव्य को कोष में जमा करने वाला और (5) राजाध्यक्ष – उक्त चारों की देखरेख करने वाला पुरुष ये पाँच कोषाधिकारी (करण) हैं[24]। आमदानी में उपयुक्त खर्च करने के पश्चात् बची हुई और जाँच पड़ताल पूर्वक कोषागार में जमा की हुई सम्पत्ति को नीवी कहते हैं[25]।

कोषविहीन राजा की स्थिति – पुरुष का पुरुष दास नहीं है, अपितु पुरुष धन का दास है[26]। जो राजा अपने राज्य में धनसंग्रह नहीं करता और अधिक धन व्यय करता है, उसके यहाँ सदा अकाल रहता है[27] क्योंकि नित्य स्वर्ण का व्यय होने पर मेरु भी नष्ट हो जाता है[28]। जो राजा सैनिकों का भरणपोषण करने के लिए समय पर (धान्यादिका) संग्रह नहीं करता है, उसके राज्य कर्मचरियों को अत्यधिक आनन्द होता है (क्योंकि ये लोग धान्यादि खरीदकर उसे तेज भाव में बेच देते हैं और बहुत सा धन हड़प लेते हैं) तथा राजा का विशाल खजाना नष्ट हो जाता है[29]।

आय और व्यय – द्रव्य (सम्पत्ति) की उत्पत्ति के साधन (कृषि, व्यापार, कर आदि) को आय कहते हैं[30]। स्वामी की आज्ञानुसार धन व्यय करना व्यय है[31]। जिस प्रकार मुनि कमण्डलु में जल शीघ्रता से ग्रहण होता है, परन्तु उसका व्यय (टोंटी से) धीरे धीरे होता है, उसी प्रकार आय अधिक और व्यय कम करना चाहिए[32]। जो मनुष्य आय का विचार न कर अधिक व्यय करता है, वह कुवेर (वैश्रमण) के समान (असंख्य धन का स्वामी) होकर भी श्रमण (भिक्षुक) के समान आचरण करता है[33]। राजा नीवीग्राहक (राजकीय धन को कोष में जमा करने वाला) से उस पुस्तक (वही, रजिस्टर) को जिसमें राजकीय द्रव्य के आय, व्यय का हिसाब लिखा है,

लेकर अच्छी तरह जाँच पड़ताल कर आय-व्यय को विशुद्ध करे[34] । जब आय-व्यय करने वाले अधिकारियों में विवाद हो जाय तब राजा जितेन्द्रिय व राजनीति प्रधान पुरुषों से परामर्श कर उसका निश्चय करें[35] ।

राजकोय आय के साधन - कर - जिस राज्य में दूसरे देश की वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाता है तथा जहाँ के राजकर्मचारी बलात् थोड़ा मूल्य देकर व्यापरियों से वस्तुयें छीन लेते हों वहाँ अन्य देशों से माल आना बन्द हो जाता है[36] । क्योंकि लकड़ी की हांडी में एक ही बार पदार्थ पकाया जाता है[37] । समुद्र यदि प्यासा हो तो संसार में जल कहाँ से हो सकता है[38] ? इसी प्रकार राजा के अधिक कर बढ़ाने से राज्य की श्रीवृद्धि नहीं होती है[39] । जो राजा व्यापरियों से थोड़ा भी अधिक धन लेता है, उसे महान् हानि होती है[40] । राजा ने जिनको पहले करमुक्त किया है, उनसे पुन: कर न लेकर वह उनको अनुगृहीत करे[41] । न्याय से सुरक्षित (जहाँ योग्य कर लिया जाता है और व्यापारियों के क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओं से व्याप्त नगरी राजाओं के मनोरथपूर्ण करती है । कहने का तात्पर्य यह कि राजा को प्रजा से देशानुरूप[43] कर ग्रहण करना चाहिए ।

2. अधिकारियों से प्राप्त धन -

(1) नित्यनिरीक्षण (सदा जाँच पड़ताल करना),

(2) कर्मविपर्यय (उच्चपदों से साधारण पदों पर नियुक्त करना)

(3) प्रतिपत्तिदान (छत्र, चमर आदि बहुमूल्य वस्तुयें भेंट में देना इन तीन उपायों से राजा राज्यधिकारियों से (रिश्वत द्वारा संचित) धन प्राप्त कर सकता है[44] । केवल एक बार धोया हुआ वस्त्र जिस प्रकार स्निग्धता (चिकनाई) को नहीं छोड़ता है[45], उसी प्रकार अधिकारी लोग भी पके हुए फोड़े के समान (बिना ताडन, बन्धन आदि किए) गृह में रखे हुए (रिश्वत के) धन को नहीं बतलाते हैं[46] । अधिकारियों को बार-बार ऊँचे पदों से पृथक करके साधारण पदों पर नियुक्त करने से राजाओं को (उनके द्वारा गृहीत) धन मिल जाता है[47] । अधिकारियों में आपसी कलह होने पर राजाओं को खजाने के मिलने के समान महालाभ होता है[48] । अधिकारियों की सम्पत्ति राजाओं का दूसरा कोश है[49] ।

3. व्यापारियों से प्राप्त धन - जब व्यापारी लोग बर्तनों आदि के व्यापार में मूलधन से अधिक धन कमाते हों तब राजा को व्यापारियों के मूलधन से दूना धन देकर अधिक धन जब्त कर लेना चाहिए[50] ।

4. अन्य देश के राजाओं से प्राप्त धन - विजय प्राप्त होने पर अन्य देश के राजा लोग उपहार के रूप में धन देते थे[51] । इस प्रकार उपहारस्वरूप रत्नों का समूह[52], क्षौम (रेशमी वस्त्र), अंशुक, दुकृत्म, चीनी वस्त्र[53], हाथी, तुरूष्क, कम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वनायुज, गान्धार और वापि आदि देश में उत्पन्न कुलीन घोड़े[54], केशर, अगरु, कपूर, स्वर्ण, मोती[55], औषधियों का समूह, गोशीर्षचन्दन[56] आदि वस्तुयें प्राप्त होती थीं ।

कोषवृद्धि के उपाय - राजा को चाहिए कि अपने समस्त देश में किसानों द्वारा भली भाँति खेती कराए और धान्य आदि का संग्रह करने के लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश ले । ऐसा होने पर उसके भण्डार आदि में बहुत सी सामग्री इकट्ठा हो जायगी और उसका देश भी पुष्ट होगा[57] । जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए दूध दुहा जाता है,

उसी प्रकार राजा को भी अधिक कष्ट न देने वाले करों से प्रजा से धन वसूल करना चाहिए[58]। जिस राजा के कारण प्रजा कर के भार से अधिक दु:खी रहती है, उस राजा के स्थान पर किसी न्यायपूर्ण राजा के बैठने की सम्भावना रहती है[59]।

आचार्य सोमदेव ने राजा की कोषवृद्धि के निम्नलिखित चार उपाय[60] बतलाए हैं-

(1) राजा विद्वान् ब्राह्मण और व्यापारियों से उनके द्वारा संचित किए हुए धन में से क्रमश: धर्मानुष्ठान, ज्ञानानुष्ठान और कौटुम्बिक पालन के अतिरिक्त जो धनराशि शेष बचे उसे लेकर अपनी कोशवृद्धि करे।

(2) धनाद्य पुरुष, सन्तानहीन धनाढ्य विधवायें, धर्माध्यक्ष आदि ग्रामीण अधिकारी वर्ग, वेश्याओं का समूह और पाखण्डी लोगों के धन पर कर लगाकर उनकी सम्पत्ति का कुछ अंश लेकर अपने कोश की वृद्धि करे।

(3) अचल, सम्पत्तिशाली, मन्त्री, पुरोहित और अधीनस्थ राजा लोगों की अनुनय और विनय करके उनके घर जाकर उनसे धन याचना करे और उस धन से अपनी कोष वृद्धि करे।

(4) सम्पत्तिशाली देशवासियों की प्रचुर धनराशि का विभाजन करके उनके भली भाँति निर्वाह योग्य छोड़कर अवशिष्ट धन को उनसे प्रार्थनापूर्वक शान्ति के साथ लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

संचय करने योग्य पदार्थ – समस्त संग्रहों में अन्न संग्रह उत्तम माना गया है, क्योंकि वह प्राणियों के जीवन निर्वाह का साधन है और उसके कारण मनुष्यों को सम्पूर्ण प्रयास करने पड़ते हैं। जिस प्रकार भक्षण किया हुआ धान्य प्राणरक्षा कर सकता है, उस प्रकार मुख में रखा हुआ बहुमूल्य सिक्का नहीं कर सकता है[61]। समस्त धान्यों में कोदों (कोद्रव) चिरस्थायी होते हैं (अत: उनका संग्रह करना चाहिए) पुरानी धान्य देकर नवीन धान्य के द्वारा आय बढ़ाना चाहिए और पुरानी धान्य व्यय करते रहना चाहिए[62]। समस्त रसों में नमक का संग्रह उत्तम है, क्योंकि नमक के बिना सब रसों से युक्त भोजन भी गोबर के समान लगता है[63]।

कोषवृद्धि के कारण – राजा अधिक धान्य की उपजवाले बहुत से ग्राम जो कि उसकी चतुरंग सेना की वृद्धि के कारण हैं, किसी को न दे[64]। बहुत सा गोममुक्त, स्वर्ण और शुल्क द्वारा प्राप्त धन भी कोषवृद्धि का कारण है[65]।

कोष के गुण - कोष के निम्नलिखित[66] गुण हैं।

(1) जिसमें अधिक मात्रा में सोना चाँदी हो।

(2) जिसमें व्यवहार में चलने वाले सिक्कों का अधिक संग्रह हो।

(3) जो व्यय करने में अधिक समर्थ हो।

अर्थ और उसकी महत्ता – जिससे सभी प्रयोजन सिद्ध हों, उसे अर्थ कहते हैं[67]। अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्ति की रक्षा और रक्षित धन की वृद्धि करना अर्थानुबन्ध है[68]। जो मनुष्य सदा अर्थानुबन्ध से धन का अनुभव करता है (धन के संचय में प्रवृत्ति करता है) वह धनाढ्य हो जाता है[69]। धर्म और काम पुरुषार्थ का मूलकारण अर्थ है[70]। जिस गृहस्थ के यहाँ खेती, गाय, भैंस और शाकतरकारी के लिए सुन्दर बाग तथा घर में मीठे पीनी का कुआँ होता है, उसे संसार सुख प्राप्त होता है[71]। (गाय, भैंस आदि) जीवधन की देखभाल न करने वाले व्यक्ति की बहुत बड़ी हानि

तथा मानसिक सन्ताप होता है एवं भूखा प्यासा रखने से पापबन्ध होता है। बूढ़े, बालक, रोगी एवं कमजोर पशुओं का अपने बान्धवों के समान पोषण करना चाहिए[73]। तादात्विक, मूलहर एवं कदर्य को संकट सुलभ हैं74। जो मनुष्य कुछ भी विचार न कर कमाए हुए धन का व्यय करता है, उसे तादात्विक कहते हैं[75]। जो व्यक्ति अपने पिता और पितामह की सम्पत्ति को अन्याय से (कुव्यसनों से) भक्षण करता है, उसे मूलहर कहते हैं[76]। जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को कष्ट में पहुँचाकर धन का संचय करता है, उसे लोभी कहते हैं[77]। तादात्विक और मूलहर मनुष्यों का भविष्य में कल्याण नहीं होता है[78]। लोभी का संचित धन राजा, कुटुम्बी और चोर इनमें से किसी एक का है[79]। अत: मनुष्य को अपनी आय के अनुरूप व्यय करना चाहिए[80]।

अर्थलाभ के तीन भेद – अर्थलाभ तीन प्रकार का होता है - (1) नवीन (2) भूतपूर्व (3) पैतृक[81]।

राजग्राह्य धन – राजा कोष बढ़ाता हुआ (न्यायोचित उपायों द्वारा) प्राप्त धन का उपयोग करे[82]। जो राजा अपनी प्रजा को सब प्रकार कष्ट देता है, उसका कोष रिक्त हो जाता है[83]। अत: राजा को इस प्रकार धनग्रहण करना चाहिए, जिससे प्रजा को पीड़ा न हो और उसके धन की क्षति न हो[84]। राजा यकायक मिले हुए धन को कोष में स्थापित कर उसकी वृद्धि करें[85]।

दुर्ग

दुर्ग की परिभाषा : जिसके पास प्राप्त होकर या जिसके सामने युद्ध के लिए बुलाए गए शत्रु लोग दु:ख अनुभव करते हैं अथवा जो दुष्टों के उद्योग द्वारा उत्पन्न होने वाली आपत्तियाँ नष्ट करता है, उसे दुर्ग कहते हैं[86]।

दुर्ग का महत्त्व – दुर्ग राजा और उसकी सेना वगैरह के बचाव के उत्तम आश्रय स्थल थे, उन्हें शत्रु द्वारा अलंघनीय[87] कहा गया है। किले में सुरक्षित राजा पर विजय प्राय: चारों ओर से उसका आवागमन रोककर[88] की जाती थी। शत्रु द्वारा आक्रान्त होने[89] के साथ-साथ कभी-कभी शत्रु पर आक्रमण करने के लिए[90] भी दुर्ग का आश्रय लेना पड़ता था। राजा कुण्डलभण्डिल दुर्गमगढ़ का अवलम्बन कर सदा राजा अनरण्य की भूमि को उस तरह विराधित करता रहता था जैसे कुशील मनुष्य कुल की मर्यादा को विराधित करता रहता है[91]। वर्धमान चरित के चौथे सर्ग से ज्ञात होता है कि विशाखनन्दी ने विश्वनन्दी के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करने की इच्छा से उसके वन को भंयकर दुर्ग बना दिया[92]। इस प्रकार दुर्ग का महत्व दो दृष्टियों से था -

(1) आक्रमण से रक्षा।

(2) शत्रु पर आक्रमण कर उस पर विजय प्राप्त करना।

दुर्ग रचना – दुर्ग के चारों ओर कोट तथा गहरी परिखा (खाई) होती थी। चारों ओर नाना प्रकार के यन्त्रों से उसे घेरा जाता था तथा शूरवीरों का समूह उसकी रक्षा करता था उसके बीच-बीच में पताकायें फहरा दी जाती थी[93]।

आचार्य सोमदेव ने दुर्गरचना के लिए निम्नलिखित बातें[94] आवश्यक बतलाई हैं -

(1) दुर्ग की जमीन विषम (ऊँची नीची) और पर्याप्त अवकाश वाली हो।

(2) दुर्ग ऐसे स्थान पर बनाया जाय जहाँ स्वामी के लिए घास, ईंधन और जल बहुतायत से प्राप्त हो सकें, किन्तु शत्रु के लिए इनका अभाव हो।

(3) जहाँ पर अनेक प्रकार के धान्य और रसों (घी, तेल आदि) का संग्रह हो।
(4) जहाँ पर धान्य और रसों का प्रवेश तथा निकासी हो ।
(5) जहाँ वीर पुरुष निवास करते हों ।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त दुर्ग यथार्थ रूप से दुर्ग है । शेष दुर्ग तो वन्दिशाला के समान है।

दुर्ग के भेद - दुर्ग दो प्रकार[95] के होते हैं - (1) स्वाभाविक (2) आहार्य ।

(1) स्वाभाविक दुर्ग - स्वयं उत्पन्न हुए युद्धोपयोगी और शत्रु द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य पर्वत, खाई आदि विकट खानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं ।

(2) आहार्य दुर्ग - कृत्रिम उपायों के द्वारा बनाए हुए दुर्ग को अहार्यदुर्ग कहते हैं । दुर्गों के प्रकारान्तर से अन्य दो भेद प्राप्त होते हैं - (1) पर्वतीय दुर्ग (2) निम्न दुर्ग । पर्वतीय दुर्गों के लिए गिरीदुर्ग तथा अन्य के लिए निम्नदुर्ग शब्द का प्रयोग होता था[96] । किन्हीं विशेष अवसरों पर राजा लोग पहाड़ी दुर्गों (गिरि दुर्गों) का आश्रय कर शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध उठ खड़े होते थे[97] । ऐसी दशा में शत्रु को पकड़ना या वश में करना बहुत बड़ी सफलता मानी जाती थी[98] । क्योंकि यह कठिन कार्य था । इस प्रकार स्पष्ट है कि गिरि दुर्ग का विशेष महत्व था । क्षेयपुरी नगर का वर्णन करते हुए गद्यचिन्तामणि में कहा गया है - 'यह पहाड़ी दुर्ग है, यह समझकर कल्याण के अभिलाषी मनुष्य इस नगर की सेवा करते हैं[99] ।

दुर्ग जीतने के उपाय - दुर्ग जीतने के निम्ननलिखित उपाय हैं[100] ।

(1) अधिगमन - सामादि उपायपूर्वक शत्रु दुर्ग पर शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य प्रविष्ट कराना ।

(2) उपजाप - विविध उपाय द्वारा शत्रु के आमात्य आदि अधिकारियों में भेद करके शत्रु के प्रतिद्वन्द्वी बनाना ।

(3) चिरानुबन्ध - शत्रु के दुर्ग पर सैनिकों का चिरकाल तक घेरा डालना ।

(4) अवस्कन्द - शत्रु दुर्ग के अधिकारियों को प्रचुरसम्पत्ति और मान देकर वश में करना।

(5) तीक्षणपुरुष प्रयोग - घातक गुप्चरों की शत्रु राजा के पास भेजना ।

दुर्गन होने से हानि - प्राचीन काल में दुर्ग राजाओं की सुरक्षा के सुदृढ़ साधन थे, जो यथास्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकों से भरे रहते थे[101] बलवान शत्रु का मुकाबला दुर्गों का आश्रय कर किया जा सकता था, क्योंकि अपने स्थान पर स्थित खरगोश भी हाथी से बलवान् हो जाता है[102] । दुर्गविहीन देश किसके तिरस्कार का स्थान नहीं होता है[103] ? अर्थात् सभी के तिरस्कार का पात्र होता है । दुर्गशून्य राजा का समुद्र के मध्य जहाज से गिरे हुए पक्षी के समान कोई आश्रय नहीं है[104] ।

दुर्ग की सुरक्षा के उपाय - जिसके हाथ में राजमुद्रा न दी गई हो अथवा जिसकी भले प्रकार परीक्षा न की गई हो, ऐसे व्यक्ति को अपने दुर्ग में प्रवेश नहीं देना चाहिए[105]। इतिहास से ज्ञात होता है कि हूणदेश के नरेश ने अपने सैनिकों की विक्रययोग्य वस्तुओं को धारण करने वाले व्यापारियों के वेष में दुर्ग में प्रविष्ट कराया और उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवाकर चित्रकूट देश पर अपना अधिकार कर लिया[106] । किसी शत्रु राजा ने काँची नरेश की सेवा के बहाने भेजे हुए शिकार खेलने में प्रवीण होने से तलवार धारण करने में अभ्यस्त सैनिकों को उसके देश में भेजा, जिन्होंने दुर्ग में प्रविष्ट होकर भद्र नाम के राजा को मारकर अपने स्वामी की कांची देश का अधिपति बनाया[107]।

फुटनोट

1. नीतिवाक्यामृत 21/5
2. द्विसंधान महाकाव्य 2/18
3. वही 2/4
4. वही 2/13
5. क्षत्रचूड़ामणि 3/5
6. गद्यचिन्तामणि - द्वितीय लम्भ पृ. 124
7. छत्रचूड़ामणि 3/4-8
8. नीतिवाक्यामृत 21/5
9. 21/4 (वही)
10. नीतिवाक्यामृत 21/7
11. वही 21/8
12. वही 21/9
13. वही 21/10
14. वही 21/11-12
15. वही 21/13
16. नीतिवाक्यामृत 26/20
17. वही 27/47
18. वही 29/94
19. वही 29/95
20 वही 11/38
21. वही 17/55
22. वही 21/1
23. आदिपुराण 37/85
24. नीतिवाक्यामृत 18/51
25. वही 18/52
26. वही 17/54
27. वही 8/6
28. वही 8/5
29. वही 8/4
30. नीतिवाक्यामृत 18/8
31. नीतिवाक्यामृत 18/9
32. वही 18/7
33. वही 18/10
34. वही 18/53
35. वही 18/54
36. वही 8/11
37. वही 8/12
38. वही 8/7
39. वही 8/7
40. वही 19/14
41. वही 19/18
42. वही 19/21
43. वही 26/42
44. नीतिवाक्यामृत 18/55
45. वही 18/58
46. वही 18/56
47. वही 18/57
48. वही 18/66
49. वही 18/67
50. वही 18/65
51. आदिपुराण 29/25
52. वही 32/182
53. वही 30/103
54. वही 30/105-105, 30/107-108
55. वही 31/61
56. वही 32/98
57. वही 42/177-178
58. आदिपुराण 16/254
59. वही 29/26
60. नीतिवाक्यामृत 21/24
61. वही 18/68-69
62. वही 18/71
63. वही 18/72
64. नीतिवाक्यामृत 19/22
65. वही 19/23
66. वही 21/2
67. वही 2/1
68. वही 2/3
69. वही 2/2
70. वही 3/17

71. वही 8/3
72. वही 8/8
73. वही 8/9
74. वही 2/6
75. वही 2/7
76. वही 2/8
77. वही 2/9
78. वही 2/10
79. वही 2/11
80. वही 26/44
81. नीतिवाक्यामृत 29/103
82. वही 21/3
83. वही 19/17
84. वही 29/101
85. वही 18/64
86. नीतिवाक्यामृत 20/1
87. आदिपुराण 28/92
88. वही 31/139
89. पद्मचरित 43/28
90. वही 43/28
91. वही 26/40
92. वर्धमानचरित 4/62-63
93. वर्धमानचरित 4/75
94. नीतिवाक्यामृत 20/3
95. वही 20/2
96. आदिपुराण 29/76
97. हरिवंशपुराण 43/162
98. वही 20/17
99. गद्यचिन्तामणि षष्ठ लम्भ पृ. 261
100. नीतिवाक्यामृत 20/4
101. उत्तरपुराण 54/24
102. क्षत्रचूड़ामणि 2/64
103. नीतिवाक्यामृत 20/4
104. वही 20/5
105. वही 20/7
106. वही 20/8
107. वही 20/9

❑❑❑

अष्टम अध्याय

बल अथवा सेना

सेना की परिभाषा :- जो शत्रुओं का निवारण करके धन-दान मधुरभाषण द्वारा स्वामी को सभी अवस्थाओं में शक्ति प्रदान करती है, उसका कल्याण करती है, उसे सेना कहते हैं[1]।

सेना के भेद - चतुरंग बल - प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः चतुरंग बल का उल्लेख हुआ है[2]। चतुरंग बल के अन्तर्गत निम्नलिखित सेना आती है :-

1. हस्ति सेना। 2. अश्वसेना।
3. रथ सेना। 4. पदाति सेना।

1. हस्ति सेना - योद्धाओं के वाहन होकर जाने वाले हाथी के ऊपर के सीने के झूल तथा होदे विशेष सुशोभित होते थे तथा उन पर श्वेत चँवर होते थे। युद्ध में लिप्त हाथियों के शरीर कवचों से ढके होते थे। महावत जब उन्हें हाँकते थे तब वे एक दूसरे से भिड़ जाते थे। तथा सन्नाह (कवच) के कारण शरीर में कही भेद्य स्थान न मिलने के कारण लोहे से मढ़े हुए उनके विशाल दांत एक दूसरे के मुखों में पूरे के पूरे धँस जाते थे। तोमर आदि शस्त्रों के आघात से हाथियों का शरीर फट जाता था, घावों में से रक्त की मोटी धारायें निकलती थीं, किन्तु वे मदवाले होकर शत्रुओं का घात करते थे। महान् योद्धाओं के द्वारा भारी गदायें, विशाल परिध तथा अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली शक्तियों के आघात से परिजात हाथी अपने महावतों को भी परास्त कर देते थे। रोष के कारण हाथी एक दूसरे के दांतों को उखाड़ लेते थे और उन दाँतों को उन्हीं के ऊपर मार देते थे[3]।

जल प्रदेश को हस्तिसेना के द्वारा सुगमता से पार किया जाता था पानी को पार करके व्यूह रचना से चलते हाथियों का समूह ऐसा लगता था, मानों सेना के जाने के लिए पुल ही बना दिया गया हो[4]। नीतिवाक्यामृत के अनुसार सेना में हाथी प्रधान अंग माने जाते हैं। अपने अव्यवों (अंगों) के द्वारा वे अष्टायुद्ध (चार पैर, दो दाँत, पूंछ और सूँड़ एवं अस्त्र वाले) होते हैं[5]। राजाओं की विजय के प्रधान कारण हाथी होते हैं। एक हाथी भी युद्ध में हजारों प्रहारों से व्यथित न होकर हजारों योद्धाओं से युद्ध करता है[6]। हाथी जाति, कुल, वन और प्रचार के कारण ही प्रधान नहीं माने जाते हैं, अपितु शरीर, बल, शौर्य, शिक्षा और युद्धोपयोगी (कर्त्तव्यशीलता आदि) सामग्री से प्रमुख माने जाते हैं[7]। अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राणों का हरण करने वाले ही होते हैं[8]। हाथियों के निम्नलिखित[9] गुण होते हैं :-

1. सुखपूर्वक जाना। 2. आत्मरक्षा।
3. शत्रु के नगर को तोड़ना फोड़ना। 4. शत्रु के व्यूह का नाश करना।
5. जल में पुल बांधना।
6. बोलना छोड़कर अपने स्वामी के लिए सभी प्रकार के आनन्द उत्पन्न करना।

2. अश्वसेना - अश्वसेना अपनी वेगशीलता के लिए प्रख्यात रही है। इसकी वेगशीलता का धनञ्जय ने बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है - पूरी की पूरी चंचल अश्वसेना का वेग वायु के समान था, चित्त वेगमय था, शरीर चित्रमय था तथा चित्र और शरीर एकमेक हो जाने के कारण वह अश्वारोहियों की प्रेरणा से जल राशि को पार कर गई थी[10]।

आचार्य सोमदेव के अनुसार अश्वबल सेना का चलता फिरता (जङ्गम भेद है[11]। जिस राजा के पास अश्वसेना प्रधानता से विद्यमान है, उस पर युद्धरूपी गेंद से क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी प्रसन्न होती है और दूरवर्ती शत्रु भी निकटवर्ती हो जाते हैं। इसके द्वारा वह आपत्ति में समस्त मनोरथ प्राप्त करता है। शत्रुओं के सामने जाना, वहाँ से भाग जाना, उन पर आक्रमण करना, शत्रुसेना को छिन्न छिन्न कर देना ये कार्य अश्वसेना द्वारा सिद्ध होते हैं[12]। जो विजिगीषु जात्यश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर आक्रमण करता है उसकी विजय होती है तथा शत्रु उस पर प्रहार नहीं कर सकता[13]। जात्यश्व के 9 उत्पत्तिस्थान है[14]। (1) तर्जिका (2) स्वस्थलाणा (3) करोखरा (4) गाजिगाणा (5) केकाणा (6) पुष्टाहारा (7) गाह्वारा (8) सादुपारा (9) सिन्धुपारा।

3. रथसेना - जब धनुर्विद्या में प्रवीण योद्धा रथारूढ़ होकर (शत्रु पर) प्रहार करते हैं तब राजाओं के लिए क्या असाध्य रह जाता है[15] ? अर्थात् कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता है। रथों के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की हुई शत्रुसेना आसानी से जीत जाती है[16]। रथों पर सवार योद्धाओं के सिर पर मुकुट बंधा रहता था। वे अपने शरीर को कवच द्वारा सुरक्षित रखने का यत्न करते थे तथा उनका प्रमुख अस्त्र धनुष, बाण होता था[17]। रथ अनेक प्रकार की चित्रकारी से विभूषित होते थे[18]। उन पर उत्तम रत्न तथा सोने का जड़ाव होता था तथा हिलती हुई चमकती हुई छोटी-छोटी ध्वजाओं की शोभा अनुपम होती थी[19]।

4. पदाति सेना - हस्ति, अश्व तथा रथमय सेना के आगे पदातिसेना चलती थी[20]।

5. सप्ताङ्ग सेना - हरिवंशपुराण में हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं का उल्लेख मिलता है[21]। 38 वें सर्ग में भगवान् नेमिनाथ के जन्मोत्सव के समय देव, वृषभ, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेना के आने का वर्णन प्राप्त होता है। सबसे पहले देवों की सेना थी, इसने सात कक्षाओं का विभाग किया था और गोल आकार बनाया था। यह स्वाभाविक पुरुषार्थ से युक्त थी और शस्त्र धारण किए हुए थी[22]। इसके पश्चात् वेग में वायु को जीतने वाली घोड़ों की सेना थी। तदनन्तर बैलों की वह सेना चारों ओर खड़ी थी, जो सुन्दर मुख, सुन्दर अण्डकोश, नयनकमल, मनोहर कांदोल, पूँछ, शब्द, सुन्दर शरीर, सारना, स्वर्णमय खुर और सींगों से युक्त था। चन्द्रमा के समान उसकी उज्जवल कान्ति थी[23]। वृषभसेना के पश्चात् बलयाकार रथसेना सुशोभित थी[24]। इसके पश्चात् विशालकाय हाथियों की सेना थी। हाथियों की सेना के बाद गन्धर्वों की सेना सुशोभित थी। इसने मधुर मूर्च्छना, कोमल वीणा, उत्कृष्ट बांसुरी, ताल का शब्द और सातों प्रकार के स्वरों से संसार के मध्यभाग को पूर्ण कर दिया था। यह सेना, देव, देवाङ्गनाओं से सुशोभित और सबको आनन्दित करने वाली थी। गन्धर्वों की सेना के बाद उत्कृष्ट नृत्य करने वाली नर्तकियों की वह सेना थी जो नितम्बों के भार से मन्द-मन्द गमन कर रही थी, समस्त रसों को पुष्ट करने वाली थी तथा वलयों से सुशोभित होने के कारण देवों के मनों को आकर्षित कर रही थी। प्रत्येक सेना में सात-सात कक्षायें थी। प्रथम कक्षा में चौरासी हजार घोड़े, बैल आदि थे। दूसरी तीसरी आदि कक्षाओं में ये क्रमशः दूने-दूने थे[25]।

आदिपुराण में हाथी, घोड़ा, रथ, गन्धर्व, नर्त्तकी, पियादे और बैल के रूप में सात प्रकार की सेना का उल्लेख किया गया है[26]। विशेषकर, हस्ति, अश्व, रथ और पदाति सेना[27] अधिक काम करती थी।

षडङ्ग सेना - चक्रवर्ती की सेना के हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, देव और विद्याधर ये छह[28] अंग थे। पैदल सैनिकों की अपेक्षा रथसेना का गौरव अधिक होता था29। संख्या में पैदल सेना अधिक होती थी, क्योंकि स्त्रियाँ भी युद्ध में चतुर होने के कारण योद्धाओं के समान आचरण करती थी[30]।

उत्तरपुराण में षडङ्ग सेना का उल्लेख किया गया है[31]। इस सब सेना की शोभा स्वामी से होती थी[32]। स्वामी की सफलता, असफलता की नीति पर बहुत कुछ सेना की सफलता, असफलता निर्भर थी। सैनिक लोग कूट-युद्ध करने में भी निपुण होते थे[33]। सैनिकों का यह विश्वास था कि युद्ध करने में एक तो सेवक का कर्त्तव्य पूरा हो जाता है, दूसरे यश की प्राप्ति होती है और तीसरे शूरवीरों की गति प्राप्त होती है[34]। मन्त्रिगण अभ्युदय प्राप्त अनेक मित्रों से युक्त होने के कारण महान् और अजेय पराक्रम के धारक राजा से युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं समझते थे, क्योंकि बलवान् के साथ युद्ध करने का कोई कारण नहीं है।

धनञ्जय के अनुसार जो राजा छह प्रकार के अन्तरंग शत्रु[36] (काम, क्रोध, मान, लोभ, हर्ष तथा मद) को जीत लेता है, उसकी छह प्रकार की सेना उसे नहीं छोड़ती है[37]। द्विसन्धान महाकाव्यके संस्कृत टीकाकार नेमिचन्द्र ने छह प्रकार की सेना के अन्तर्गत मौल, भृतक, श्रेण्य, अरण्य, दुर्ग तथा मित्र सेना को माना है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने एक श्लोक भी इसी आशय का उद्धृतकिया है[38]। कोटिल्य ने दुर्गबल को न गिनाकर उसके स्थान पर अमित्रबल गिनाकर छह संख्या की पूर्ति की है साथ ही एक सातवें प्रकार की सेना, जिसे उन्होंने औत्साहिक बल कहा है, का अलग से कथन किया है[39]।

1. **मौलबल** - मूल स्थान अर्थात् राजधानी की रक्षा के लिए जितनी सेना की अपेक्षा हो उसके अतिरिक्त सेना को युद्ध में ले जाना चाहिए अथवा मौलबल के विद्रोह कर देने की सम्भावना हो तो उसको युद्ध आदि कार्यों में साथ ले जाना चाहिए या मुकाबले में आये हुए शत्रु पर मौल बल के अनुराग की सम्भावना जान पड़े तो उसका साथ ले जाना चाहिये अथवा शत्रु किसी शक्तिशाली सैन्य को लेकर युद्ध करने के लिए आया है तब भी मौलबल को साथ ले जाना चाहिए या दूरदेश, दीर्घकालीन युद्ध क्षय-व्यय की अवस्था में भी मौलबल को साथ रखना चाहिए। स्वामिभक्त शत्रु के दूत मेरी सेना में भेद डालने का यत्न करेंगे, ऐसी सम्भावना होने पर तथा दूसरी सेनाओं पर पूरा विश्वास न होने की स्थिति में भी मौलबल को युद्ध करना चाहिए, क्योकि मौलबल अत्यन्त स्वामिभक्त होने के कारण फोड़ा नहीं जा सकता है। अन्य सेनाओं के प्रधान पुरुषों का नाश हो जाने पर यदि विजिगीषु की सेना के क्षेत्र छोड़कर भाग जाने का भय हो तो मौलबल को युद्धक्षेत्र में साथ ले जाना चाहिए।

2. **भृतक बल** - यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि मौलबल की अपेक्षा मेरा भृतकबल अधिक है अथवा शत्रु का मौलबल थोड़ा तथा अविश्वासी है अथवा शत्रु का भृतकबल कमजोर या न होने के बराबर है अथवा इस समय शत्रु के साथ तुष्णी युद्ध करना पड़ेगा, अथवा थोड़े ही श्रम से कार्य सम्पन्न हो जायगा अथवा युद्ध का गन्तव्य देश दूर नहीं है, समय भी थोड़ा ही लगेगा और अधिक क्षय, व्यय की सम्भावना नहीं है, अथवा शत्रु के गुप्तचर मेरी सेना में बहुत कम प्रवेश कर सकेंगे और वे भी भेद न डाल सकेंगे, यदि उन्होंने भेद डाल दिया तो अपनी विश्वस्त सेना को काबू में न डाल सकूँगा अथवा शत्रु के थोड़े ही कार्यों की क्षति करना है तो ऐसी स्थिति में एवं ऐसे अवसरों पर भृतकबल को साथ लेकर उसको युद्ध में जाना चाहिए।

3. श्रेणीबल – यदि विजिगीषु को यह विश्वास हो कि मेरे पास श्रेणीबल इतना अधिक है कि उसको राजधानी की रक्षा में लगाया जा सकता है और शत्रु के साथ युद्ध करने के समय भी उसको साथ लिया जा सकता है अथवा सफर कम है, मुकाबले की सेना भी प्राय: श्रेणीबल के साथ युद्ध करने योग्य है अथवा शत्रु तृष्णीयुद्ध (मन्त्र) अथवा प्रकाशयुद्ध (व्यायाम) से मुकाबला करना चाहता है अथवा दण्ड से डरा हुआ होने के कारण शत्रु अपनी सेना को किसी प्रकार दूसरे राजा के अधीन करके युद्ध करने की सोच रहा है, ऐसी स्थिति में एवं ऐसे अवसरों पर श्रेणीबल को साथ लेकर युद्ध करना चाहिए।

4. अरण्यबल – यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि गन्तव्यस्थान को बताने के लिए पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होगी अथवा आटविक सेना शत्रु की युद्धभूमि में लड़ने योग्य आयुधों की शिक्षा में निपुण है अथाव विजिगीषु की आज्ञा बिना ही आटविक सेना शत्रु सेना के साथ युद्ध में प्रवृत्त हो सकेगी, जैसे एक बिल्वफल को दूसरे बिल्वफल के साथ टकराकर फोड़ा जाता है वैसे ही शत्रु सेना से आटविकसेना ही मुठभेड़ करने में समर्थ है अथवा शत्रु भी आटविक सेना को लेकर ही युद्धभूमि में उतर रहा है अथवा शत्रु के अल्प अनिष्ट के लिए अरण्य सेना ही उपयुक्त होगी। ऐसी स्थितियों एवं ऐसे अवसरों पर आटविक (अरण्य) सेना को लेकर ही युद्ध करना चाहिए।

5. मित्रबल – यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि उसका मित्रबल इतना मजबूत है कि वह राजधानी की रक्षा करने में और शत्रु पर चढ़ाई करने में भी समर्थ है अथवा सफर भी कम है, तृष्णीयुद्ध की अपेक्षा वहाँ प्रकाशयुद्ध ही अधिक होगा, जिससे क्षय, व्यय की कम सम्भावना है अथवा शत्रु सेना या शत्रु के देश में सभी आटविक सेना या मित्रसेना को पहिले अपनी मित्र सेना से भिड़ाकर फिर अपनी सेना से लड़ाऊँगा अथवा इस युद्धादि कार्य में मित्र का तथा अपना समान प्रयोजन है, इस कार्य की सिद्धि मित्र के हाथ में है अथवा अपने समीपस्थ अन्तरंग मित्र का अवश्य ही उपकार करना है अथवा अपने मित्र से द्रोह रखने वाली सेना (दूष्य सेना) को शत्रु सेना के साथ भिड़ाकर मरवा डालूँगा, ऐसे अवसरों या ऐसी स्थिति में मित्रसेना को युद्ध में साथ ले जाना चाहिए[40]।

6. दुर्गबल – दुर्ग के अन्तर्गत रहने वाली सेना।

द्विसन्धान महाकाव्य के टीकाकार नेमिचन्द्र के अनुसार राजधानी की सेना को मौल तथा पैदल सेना को भृतक कहते हैं। श्रेणीबल के इन्होंने अठारह भेद किए हैं – सेनापति, गणक, राजश्रेष्ठी, दण्डाधिपति, मन्त्री, महत्तर, तलवर, चारवर्ण, चतुरंग सेना, पुरोहित, आमात्य और महामात्य। जंगल में रहने वाली सेना आरण्य, धूलि कोटपर्वतादि पर स्थित सेना दुर्गसेना तथा सुहृत् सेना मित्र सेना कही जाती है[41]।

नीतिवाक्यामृत में सेना के छह भेद बतलाए गए हैं –

1. मौलबल – वंशपरम्परा से चली आई प्रामाणिक, विश्वासपात्र पैदल सेना।
2. भृत्य बल – सामान्य सेवक।
3. भृत्यक बल – अधिकारी सेना।
4. श्रेणीबल।
5. मित्रबल।
6. आटविक।

इन छह प्रकार की क्रमश: पहले-पहले की सेना को युद्ध में लगाना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त सातवें प्रकार की औत्साहिक सेना भी होती है, जो विजिगीषु की

विजययात्रा के साथ शत्रु राष्ट्र को नष्ट करने के लिए उसकी सेना में मिल जाती है । क्षात्रतेज, शस्त्रविद्या में निपुणता शौर्य तथा (स्वामी के प्रति) अनुराग ये औत्साहिक सेना के गुण है[42] । राजा मौलबल के अविरोधपूर्वक उत्साही सेना को दान-सम्मान के द्वारा अनुगृहीत करे[43] । मौल सेना आपत्ति में साथ देती है, दण्डित किए जाने पर भी द्रोह नहीं करती तथा शत्रुओं द्वारा फोड़ी नहीं जा सकती है[44] ।

सेना की गणना – गणना की दृष्टि से सेना के आठ[45] भेद किए जाते थे – (1) पत्ति (2) सेना (3) सेनामुख (4) गुल्म (5) वाहिनी (6) पृतना (7) चमू और (8) अनीकिनी ।

पत्ति – जिसमें एक रथ, एक हाथी, पाँच प्यादे और तीन घोड़े होते हैं, वह पत्ति कहलाती है ।

सेना – तीन पत्ति की एक सेना होती है ।
सेनामुख – तीन सेनाओं का एक सेनामुख होता है ।
गुल्म – तीन सेनामुखों का एक गुल्म होता है ।
वाहिनी – तीन गुल्मों की एक वाहिनी होती है ।
पृतना – तीन वाहिनियों की एक पृतना होती है ।
चमू – तीन पृतनाओं की एक चमू होती है ।
अनीकिनी – तीन चमू की एक अनीकिनी होती है ।

अक्षोहिणी – अनीकिनी की गणना के अनुसार दस अनीकिनी की एक अक्षोहिणी होती है । इस प्रकारण अक्षोहिणी में रथ इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर, हाथी इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर, पदाति एक लाख नौ हजार तीन सौ पचास, घोड़े पैसठ हजार छः सौ चौदह होते हैं[46] । हरिवंशपुराण के अनुसार जिसमें नौ हजार हाथी, नौलाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ सौ करोड़ पैदल सैनिक हो उसे एक अक्षौहिणी कहते हैं[47] । जरासन्ध के पास इस प्रकार की अनेक अक्षौहिणी सेना थी[48] ।

सैनिक प्रयाण – किसी विशेष अवसर पर नगर से बाहर निकलती हुई सैना की शोभा महानन्दी के समान होती थी[49] । सेना की रक्षा के लिए सेनापति को नियुक्त किया जाता था[50] । सबसे पहले घोड़ों का समूह जाता था उसके पीछे रथ चलता था, हाथियों का समूह बीच में जाता था और पैदल सैनिक सब जगह चलते थे । चतुरंगणी सेना के साथ देव और विद्याधर चलते थे[51] । इस क्रम में अन्यत्र व्यतिक्रम दृष्टिगोचर होता है । 36वें पर्व में सबसे आगे पैदल सैनिक, उससे कुछ दूर घोड़ों का समूह, उससे कुछ दूर हाथियों का समूह, सेना के दोनों और रथों का समूह तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देवों के चलने का उल्लेख किया गया है[52] । शत्रु समूह के पराक्रम को नष्ट करने वाला तथा दूसरे के द्वारा अलंघनीय चक्ररत्न और शत्रुओं को दण्डित करने वाला दण्डरत्न चक्रवर्ती की सेना में सबसे आगे रहता था[53] । दण्ड रत्न को आगे कर सेनापति सबसे आगे जाता था । आगे चलने वाला दण्डरत्न सब मार्ग को राजमार्ग के समान विस्तृत और सम करता जाता था । इस प्रकार सेना स्खलित न होती हुई जाती थी[54] । राजाओं और सैनिकों के साथ उनकी स्त्रियां भी जाती थी[55] ।

चन्द्रप्रभचरित से ज्ञात होता है कि प्रयाण के समय पटह की ध्वनि की जाती थी, जिससे समस्त सैनिकों को चलने की सूचना प्राप्त हो जाती थी[56] । पुर के बाहर गोपुर से निकलते समय

घोड़ों की कसामसी देखने योग्य होती थी। हाथियों के महावतों को (द्वार के कारण) सिर झुकाकर निकलना पड़ता था तथा पताकायें (केतु) झुका झुकाकर निकाली जाती थी[57]। घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूलि से आकाश छिप जाता था[58]। घोड़े इतने शक्तिशाली होते थे कि उन्हें दोनों हाथों से रास कसकर रोका जाता था[59]। हस्तिपद (महावत) की डिण्डिम ध्वनि से लोग सचेत होकर इधर-उधर हट जाते थे। मस्त हाथी कुपित और निडर दृष्टि डालते हुए चले जाते थे[60]। रथों के पहियों से पृथ्वी खुरचकर ऐसी लगने लगती थी मानों उसे जोत डाला गया हो[61]। रथों के शब्द से दिशायें बहिरी हो जाती थी[62]। लोहे का कवच पहिनने के कारण नीले रंग की दिखाई पड़ने वाली सेना राजा के आस-पास रहती थी[63]। मौलबल को राजा मध्य में रखता था और आटविक सेना को सबसे आगे रखता था। मध्य में प्रबल सेना सहित सामन्तों को रखा जाता था[64]। राजा के पीछे युवराज, युवराज के पीछे अन्य कोई बड़ा राजा चलता था और चतुरंग सेना से युक्त अन्य राजा लोग राजा को घेरकर चलते थे[65]। रनिवास भी साथ चलता था[66]। भार ढ़ोने के लिए कुलियों[67] (वैवधिकों) ऊँटों[68] तथा बैलगाड़ियों[69] का प्रयोग किया जाता था। राजा श्री वर्मा की सेना का एक ऊँट हाथी से डरकर कर्णकटु शब्द करता हुआ, लम्बी गर्दन किए बोझा फेंककर भागा और इस तरह नट के समान उसने हास्यरस की अवतारणा[70] की। सेना के प्रस्थान करने पर भीड़-भाड़ में जनता को हानि भी उठानी पड़ती थी। वीरनन्दी ने उसका सच्चा चित्र खींचा है - एक ग्वालिन जा रही थी। अचानक हाथी के आ जाने से डर के मारे वह हिल उठी। सिर पर मे बड़ा भारी दही का पात्र (मटका) गिरकर फूट गया। क्षण भर खड़ी-खड़ी वह इस हानि के लिए सोच करती रही और उसके बाद सड़क पर से लौट गई[71]। हाथी की फुफकार से बिचककर राह में बैल भागे तो शकट (छकड़े) के दोनों धुरे टूट गए। बड़े लाभ के लिए घुमते हुए बनिए के घी के घड़े उसके मन के साथ ही फूट गए[72]।

सैनिक प्रयाण के समय देशवासी आपस में चर्चा करते थे - यह प्रभु का सुन्दर अन्तःपुर है, यह मदोन्मत्त हाथियों की घटा है, यह तेज घोड़ा है, यह ऊँट है, यह देदीप्यमान गणिका है और यह मार्ग में राजाओं की पंक्ति से घिरा हुआ पुत्रसहित प्रजापति है[73]। इससे स्पष्ट है कि गणिकायें भी साथ में चला करती थी। मार्ग में धान्य वगैरह कूटकर साफ करते हुए किसान गौरस वगैरह भेंट करते थे[74]।

सैन्य शिविर - बहुत सारा रास्ता पार करने के बाद विश्राम के लिए बीच में शिविर लगाए जाते थे। शिविर के चारों और दूष्यकुटी[75] (तम्बू) और विस्तृत पटमण्डप[76] बनाए जाते थे। तम्बुओं के चारों और कटीली बाडियाँ लगाई जाती थी[77]। स्कन्धावर (शिविर) के बाहर अनेक आवास (डेरे) बने होते थे, जहां पर घोड़ों के पलान आदि (पर्याणादि) लटका दिए जाते जाते थे[78]। शिविर में प्रवेश करने के लिए एक बड़ा दरवाजा (महाद्वार) बनाया जाता था[79]। शिविर में एक बड़ा बाजार लगाया जाता था, जिसकी तोरण और ध्वजा आदि से अच्छी सजावट की जाती थी[80]। राजा का आँगन रथ, घोड़े, हाथी, सामन्त, कर्मचारी (नियोगी), द्वारपाल तथा अन्य अनेक निधियों से भरा रहता था, जिसे देखकर राजा को भी कुछ-कुछ आश्चर्य होता था[81]। राजा के सिन्निवेश की रचना स्थपति करता था[82]। जिस समय आवस्थों (तम्बुओं) में मनुष्य की भीड़ का क्षोभ शान्त हो जाता था घोड़ों का समूह जल पीकर पटमण्डप में इच्छानुसार घास खाने लगता था, हाथी के समूह सरोवर

में स्नान कराकर वन में बाँध दिए जाते थे, उस समय सेना ऐसी जान पड़ती थी मानों सदैव से वहां रह रही हो83। इस प्रकार जहां राजा पड़ाव डालता था वहाँ एक छोटा नगर सा बस जाता था। कपड़ों से राजा का निवास, वेश्याओं के डेरे तथा दुकानों से शोभित बाजार बनाया जाता था84। राजाधिराज पद्मनाभ के मन्दिर, घुड़साल, वेश्याओं के डेरे और बाजार आदि को देखकर पीछे आने वाली प्रजा ने समझा कि यही हमारे रहने का स्थान है[65]। राह में चलने से थके हुए परिचित पुरुषों के सत्कार के लिए पटमय निवास (कनातों) के द्वार पर खड़ी हुई वेश्यायें सैनिकों को वहाँ की रहने वाली जान पड़ीं[66]।

सेना को ऐसे स्थान पर ठहराया जाता था, जहाँ बाँस, लकड़ी तथा जल सुलभता से मिल सके[67]। सेनापति पहले से ही जाकर ऐसी जगह देख लेता था[68]। शीघ्र ही आगे गए हुए सेवक उस भूमि को साफ कर सब और निर्मित कपड़ों के सामान्य डेरे (पटमण्डप) तथा राजाओं के ठहरने योग्य बड़े-बड़े तम्बुओं से युक्त कर देता था और प्रत्येक डेरे पर पहिचान के लिए अपने-अपने चिन्ह खड़े कर दिए जाते थे[89]। ऊँट के ऊपर से हथियारों का बोझा उतारो। इस जमीन को साफ करो, ठण्डा पानी लाओ, महाराज के रहने की इस जगह से डेरे को उखाड़कर इसके चारों तरफ कनात (काण्डपट) लगाकर उसे फिर सुधारो, यहाँ से रथ को हटाओ और घोड़े को बाँधो, बैलों को जंगल में ले जाओ, तू घास के लिए जा, इत्यादि रूप से अधिकारी सेवकों को आज्ञा देते थे[90]।

युद्ध कालीन स्थिति – शत्रु सेना का जब आक्रमण होता था तब वह समस्त देश को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती थी[91]। वह शिष्ट नागरिकों का भी अपमान करती हुई आगे बढ़ती थी[92]। विशेषकर उसका लक्ष्य राजधानी पर अधिकार करना होता था, क्योंकि शत्रुओं की सेना से भयभीत प्रजा हरणकिए धन से बचे हुए बहुमूल्य पदार्थों तथा पुत्र कलत्र आदि के साथ राजधानी में आ जाती थी[93]। युद्ध के समय कभी-कभी राजधानी चारों और से घिर जाती थी और नगर में घास, फूस, ईंधन और पानी का पहुँचना दुर्लभ हो जाता था। विजय प्राप्ति के लिए सेना की व्यूह रचना होती थी। व्यूह रचना के कारण सेना की पंक्ति को किसी दिशा से तोड़ना बहुत कठिन होता था। सैन्य संचालन में राजा का महत्त्वपूर्ण योग होता था। जिस ओर सैनिकों का उत्साह शान्त दिखाई देता था उस ओर पुरस्कार आदि के द्वारा राजा उन्हें उत्तेजित कर देता था तथा कहीं शिथिलता दिखाई दी तो उसे साम, दान आदि उपायों से शान्त किया जाता था[94]। राजा के समस्त राजपुत्र भी सैन्य संचालन में योग देते थे[95]। जो सेना अत्यधिक बलशाली और साहसी होती थी तथा जिसके राजा का कोष विशाल होता था, उसको जीतना कठिन होता था96।

युद्ध करते समय नायक अपनी सारी शक्ति को दाव पर लगा देते थे। उनके मन में यह भावना रहती थी कि हमारे ग्राम, आकर (खनिज क्षेत्र), पुर तथा जितने भी देश हैं तथा दोनों सेनाओं के पास जो भी सम्पत्ति है वह उसी की हो जाय जो संग्राम के बाद बचा रहे[97]। युद्ध में अनेक देश तथा भाषा वाले सैनिक भाग लेते थे[98]। योद्धाओं में युद्ध करते समय आज्ञापालन, कृतज्ञता और स्वाभिमान ये तीन भावनायें प्रमुख रूप से होती थी। कुछ लोग अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए ही लड़ना चाहते थे[99]। कुछ सोचते थे देश, ग्राम, नगर तथा आकरों का शासन देकर तथा उत्तम वस्त्र, आभूषण, पान आदि देकर जिस राजा ने हमें ही नहीं, हमारी स्त्री तथा बच्चों

का सम्मानपूर्वक भरणपोषण किया, उस अप्रतिम शासनकारी के सामने मान में उद्धृत शत्रुओं के सिरों को काटकर चढ़ा देंगे और इस प्रकार उनके ऋण से उऋण हो जायेंगे[100]। अन्य स्वाभिमानी यौद्धाओं में कुछ ऐसे होते थे जिनको शत्रु राजा अथवा सेना ने कष्ट दिया था तथा अपमान किया था[101]। वे सोचते थे - जो अत्यन्त दयाहीन हैं, न्यायपथ से दूर हैं, हमारे देश का विनाश करके जिन्होंने स्वजनों को लूटा है उनके शरीर को गदाओं से चूर्ण कर युद्ध स्थल में सुखा देंगे[102]।

सेना के विविध कर्मचारी - सेना में अनेक प्राकर के कर्मचारी रहते थे, जिनमें हथनियों को सजाकर लाने वाले[103], खच्चरियों की जीन कसने वाले[104], स्त्रियों की पालकी ले जाने वाले (कार्यवाह)[105], घोड़ों पर पर्याणक (जीन) बाँधने वाले[106], दासियों को बुलाने वाले[107], अंगरक्षक[108], सेना के आगे जाकर निवास की व्यवस्था करने वाले, भोजनशाला में नियुक्त कर्मचारी, गोरक्षक, कंचुकी, बाद का कार्य करने वाले, देश के अधिकारियों के पास सन्देश ले जाने वाले, हस्तिपालक, अश्वपालक, गोपालक, उष्ट्रपालक, पुजारी, अभिषेककर्त्त, आर्शीवादिदाता और नैमित्तिक[109] नाम प्रमुख है।

युद्ध - युद्ध चार प्रकार के होते थे[110]।

(1) दृष्टि युद्ध (2) मल्ल युद्ध (3) जल युद्ध (4 शस्त्र युद्ध।

प्रथम तीन युद्ध धर्मयुद्ध कहलाते थे। शस्त्र युद्ध में विभिन्न उपाय प्रयोग में लाये जाते थे। यहां तक कि कूटयुद्ध भी होता था। कूटयुद्ध करने वाले सवारी सहित, प्रताप से उग्र तथा युद्ध में सहसा और शीघ्र आगे जाने वाले होते थे[111]। शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की व्यूह रचना की जाती थी, जिनमें चक्रव्यूह[112] दण्डव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह, असंहतव्यूह[113] तथा मकरव्यूह[114] प्रधान थे। सेनायें राजा से न तो बहुत दूर जाती थी और न स्वछन्दता पूर्वक इधर-उधर ही घूमती थी[115]। इस प्रकार उनका अनुशासन कायम रहता था। इस अनुशासन में बलाध्यक्ष का बहुत बड़ा योग रहता था[116]। राजा जिन सुभटों (शूरवीरों) की हाथियों के पैरों की रक्षा के लिए नियुक्त करता था वे अनेक राजाओं के साथ युद्ध करते थे और हाथियों के चारों ओर विद्यमान रहते थे[117]। ऐसे लोग सिर पर टोप तथा शरीर पर कवच धारण करते थे और हाथ में तलवार उठाये रहते थे[118]। युद्ध के समय तामसास्त्र (चन्द्रप्रभचरित 6/103) तपनास्त्र (चन्द्रप्रभचरित6/104), शर शक्ति, चक्र, कुन्त (चन्द्रप्रभचरित6/101) भुजगास्त्र, गरूडास्त्र, वह्नास्त्र, अब्दास्त्र (बारूणास्त्र) अचलास्त्र (पर्वतास्त्र), कुलिशास्त्र (वज्रास्त्र), उद्यमास्त्र, तन्द्रास्त्र (मोहनास्त्र), पवनास्त्र, पयोधरास्त्र, सिद्धयस्त्र, विघ्नविनायकास्त्र (चन्द्रप्रभचरित6/105), असि (चन्द्रप्रभचरित15/110), शिलीमुख (चन्द्रप्रभचरित15/125) प्रास (चन्द्रप्रभचरित15/125) अर्धचन्द्र[119] (बाण), मुद्‌गर (चन्द्रप्रभचरित15/127), गदा (चन्द्रप्रभचरित15/128), वज्रमुष्टि, परशु, (चन्द्रप्रभचरित15/125) शंकु (चन्द्रप्रभचरित15/130) आदि शस्त्रों का व्यवहार किया जाता था।

सैन्य शक्ति का उपयोग - राजा को अपनी प्रभूतशक्ति का उपयोग शरणागतों की रक्षा के लिए करना चाहिए, निरपराध प्राणियों की हत्या में नहीं करना चाहिए[120]। जो मनुष्य निहत्थे व्यक्ति पर शस्त्रप्रहार करता है अथवा अशास्त्रज्ञ से विवाद करता है वह पंचमहापातकों (स्त्रीवध, बालवध, ब्राह्मणवध, गोवध व स्वामीवध) के कटुकफल भोगता है[121]। जिस प्रकार नौका के बिना केवल भुजाओं से समुद्र पार करने वाला मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार कमजोर पुरुष

बलिष्ठ पुरुष के साथ युद्ध करने से शीघ्र नष्ट हो जाता है[122]। जो जार से उत्पन्न हो, जिसके देश का पता मालूम न हो, लोभी, दुष्ट हृदय युक्त, जिससे प्रजा ऊब गई हो, अन्यायी, कुमार्गगामी, व्यसनी, अमात्य, सामन्त सेनापति आदि जिसके विरूद्ध हों ऐसे शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए[123]। जब विजिगीषु बुद्धियुद्ध द्वारा जीते जाने में असमर्थ हो तब उसे शस्त्रयुद्ध करना चाहिए[124]। बुद्धिमानों की बुद्धियाँ जिस प्रकार शत्रु के उन्मूलन में समर्थ होती हैं, उस प्रकार वीरपुरूष द्वारा प्रेषित बाण समर्थ नहीं होते हैं[125]। धनुधारियों के बाण निशाना साधकर चलाए जाने पर भी प्रत्यक्ष में वर्तमान लक्ष्यभेद करने में असफल हो जाते हैं, परन्तु बुद्धिमान पुरुष बुद्धिबल से बिना देखे हुए पदार्थ भी भली-भांति सिद्ध कर लेता है[126]। अनुश्रुति है कि माधव के पिता ने दूरवर्ती स्थान में स्थित होने पर भी कामन्दकी (नामक वेश्या) के प्रयोग से अपने पुत्र माधव के लिए मालती प्राप्त कर ली[127]। इस प्रकार कुशल बुद्धि वालों की बुद्धि ही अमोघ अस्त्र है[128]। जिस प्रकार वज्र के प्रहार से ताड़ित पहाड़ पुनः उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि द्वारा जीते हुए शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं करते हैं[129]। जब युद्ध भूमि में दीपक की ज्वाला में पतंग की तरह अपना विनाश निश्चित हो तब बिना सोचे विचारे ही युद्ध के लिए प्रयाण कर देना चाहिए[130]। जब मनुष्य दीर्घायु होता है तब भाग्य के बल से निर्बल होने पर भी बलिष्ठ शत्रु को मार डालता है[131]।

युद्ध कालीन राजकर्तव्य – राजा को प्रतिग्रह के बिना युद्ध में नहीं जाना चाहिए[132]। राजचिन्ह आगे कर पश्चात् राजा से अधिष्ठित प्रधान सैन्य सुसज्जित कर युद्ध के लिए तैयार करना व स्थापित करना प्रतिग्रह है[133]। प्रतिग्रह युक्त बल भले प्रकार युद्ध के लिए उत्साहित होता है[134]। युद्ध के अवसर पर सेना के पीछे दुर्ग व जल सहित पृथ्वी रहने से उसे काफी जीवन सहारा रहता है[135]। क्योंकि नदी में पहले वाले पुरुष को तटवर्ती मनुष्य का दर्शन उसकी प्राणरक्षा का साधन होता है। युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय तो वह अपनी प्राणरक्षा कर सकती है। राजा को चाहिए कि वह अपनी शक्ति को न जानकर शत्रु से साथ युद्ध न करे। अपनी शक्ति को न जानकर शत्रु से युद्ध करना शिर से पर्वत तोड़ने के समान है[136]। जिस प्रकार बड़े हुए मृणाल तन्तुओं से दिग्गज भी वश में किया जाता है, उसी प्रकार सैन्य द्वारा शक्तिशाली व्यक्ति शत्रु को परास्त कर देता है[137]। राजा अकेला अनेकों के साथ युद्ध न करे, क्योंकि मदोन्मत्त जहरीला साँप बहुत सी चीटियों द्वारा भक्षण कर लिया जाता है[138]। राजा समान शक्ति वाले के साथ युद्ध न करे। समान शक्ति वाले के साथ युद्ध करने पर निश्चित रूप से मरण होता है और विजय में सन्देह रहता है[139]। कच्चे घड़े यदि परस्पर टकराये तो दोनों नष्ट हो जाते हैं। अधिक शक्ति वाले के साथ भी युद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि बड़ों के साथ युद्ध करना हाथी के साथ युद्ध करने वाले पैदल सैनिक के समान है[140]। संग्राम भूमि से भागने वाले शत्रु जो पकड़ लिए गये हो, उन्हें वस्त्रादि से सम्मानित कर छोड़ देना चाहिए[141]।

युद्ध की रीति – युद्ध शास्त्र की शिक्षा के अनुसार युद्ध न कर शत्रु द्वारा किये जाने वाले प्रहारो के अभिप्रायानुसार युद्ध करना चाहिए[142]। जब शत्रु व्यसनों अथवा आलस्य में फँसा हो तब सैन्य भेजकर उसके नगर का घेरा डालना चाहिए[143]। सर्वसाधारण के आने जाने योग्य स्थान में सेना का पड़ाव डालने व स्वयं ठहरने से प्राण रक्षा नहीं हो सकती है[144]। अतः अपना पड़ाव ऐसे स्थान पर डालना चाहिए जो मनुष्य की ऊँचाई बराबर ऊँचा हो, जिसमें थोड़े आदमियों का प्रवेश, घूमना तथा निकास हो, जिसके आगे विशाल सभी मण्डप के लिए स्थान हो[145]।

व्यूह रचना - सेना, बुद्धि, भूमि, ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु द्वारा किया जाने वाला युद्ध का उद्योग और सैन्यमण्डल का विस्तार ये सुसंगठित सैन्यव्यूह की रचना के कारण हैं[146]। अच्छी तरह से रचा हुआ भी व्यूह तब तक स्थिर रहता है, जब तक शत्रु की सेना दृष्टिगोचर नहीं होती है[147]। प्राचीन काल में अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना की जाती थी। इनमें से कतिपय व्यूहों का विवरण हरिवंशपुराण में इस प्रकार प्राप्त होता है-

चक्रव्यूह - इसमें चक्राकार रचना की जाती थी। चक्र के एक हजार आरे होते थे। एक-एक आरे में एक-एक राजा स्थित होता था, एक-एक राजा के सौ-सौ हाथी, दो-दो हजार रथ, पाँच-पाँच हजार छोड़े और सौलह-सौलह हजार पैदल सैनिक होते थे। चक्र की धारा के पास छह हजार राजा स्थित होते थे और उन राजाओं के हाथी, घोड़ा आदि का परिमाण पूर्वोक्त परिमाण से चौथाई भाग प्रमाण था। पाँच हजार राजाओं के साथ में प्रधान राजा उसके मध्य में स्थित होता था। कुल के मान को धारण करने वाले धीर-वीर पराक्रमी पचास-पचास राजा अपनी-अपनी सेना के साथ चक्रधारा की सन्धियों पर अवस्थित होते थे आरों के बीच-बीच के स्थान अपनी-अपनी विशिष्ट सेनाओं से युक्त राजाओं सहित होते थे। इसके अतिरिक्त व्यूह के बाहर भी अनेक राजा नाना प्रकार के व्यूह बनाकर स्थित होते थे[148]।

गरूडव्यूह - चक्रव्यूह को भेदने के लिए गरूड़ व्यूह की रचना की जाती थी। उदात्त रण में शूरवीर तथा नाना प्रकार के अस्त्र शास्त्रों को धारण करने वाले पचास लाख योद्धा उस गरूड़ के मुख पर खड़े किये जाते थे। प्रधान राजा उसके मस्तक पर स्थित होते थे। मुख्य राजा के रथ की रक्षा करने के लिए अनेक राजा उनके पृष्ठरक्षक माने जाते थे। एक करोड़ रथों सहित एक राजा गरूड़ के पृष्ठ भाग पर स्थित होता था। उस राजा की पृष्ठ रक्षा के लिए अनेक रणवीर राजा उपस्थित होते थे। बहुत बड़ी सेना के साथ एक राजा उस गरूड़ के दायें पंख पर स्थित होता था और उनकी अगल बगल की रक्षा के लिए चतुर शत्रुओं को मारने वाले सैकड़ों प्रसिद्ध राजा पच्चीस लाख रथों के साथ स्थित होते थे। गरूड़ के बायें पक्ष का आश्रय ले महाबली बहुत से योद्धा अथवा राजागण युद्ध के लिए खड़े होते थे। इन्हीं के समीप अनेक लाख रथों से युक्त शस्त्र और अस्त्रों में परिश्रम करने वाले राजा स्थित होते थे। इनके पीछे अनेक देशों के राजा साठ-साठ हजार रथ लेकर स्थित होते थे। इस प्रकार ये बलशाली राजा गरूड़ की रक्षा करते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ मुख्य राजा के कुल की रक्षा करते थे[149]।

केतुरचना - प्रत्येक राजा के रथ पर उसकी विशिष्ट ध्वजा होती थी, जिससे वह पहचाना जाता था। हरिवंशपुराण में गरूड़ ध्वज[150] वृषकेतु[151] (बैल चिन्ह से अंकित पताका), ताल ध्वज[152] बानर ध्वज[153] हाथी ध्वज[154], सिंह ध्वज[155], कदली ध्वज[156], हरिणध्वज[157] शुंशुमाराकृतिध्वज[158], पुष्करध्वज[159] (कमल की ध्वजा) तथा कलशध्वज[160] इस प्रकार अनेक ध्वजाओं का उल्लेख मिलता है।

कूटयुद्ध - दूसरे शत्रु पर आक्रमण कर वहां से सैन्य लौटाकर युद्ध द्वारा जो अन्य शत्रु का घात किया जाता है, उसे कूटयुद्ध कहते हैं[161]।

तृष्णीयुद्ध - विषप्रदान घातक पुरूषों को भेजना, एकान्त में शत्रु के पास जाना व भेदनीति इन उपायों द्वारा जो शत्रु का घात किया जाता है उसे तृष्णीयुद्ध कहते हैं[162]।

श्रेष्ठ सेना - सारहीन अधिक सेना की अपेक्षा सारयुक्त थोड़ी सेना उत्तम है[163]। जब सारहीन सेना नष्ट हो जाती है तो शत्रु सारयुक्त सेना का भी नाश कर देता है[164]। सैनिकों के प्रति व्यवहार- जो युद्ध में सबसे अधिक पराक्रम दिखलाता था, उसे राजा 'वीराग्रणी'' पद पर नियुक्त करता था[165]। ऐसे व्यक्ति को वीरपट्ट बाँधा जाता था[166]। जो अत्यधिक वीर सैनिक राजाओं के साथ युद्ध करते थे, उन्हें पैदल सेना का नायक (पत्तिनायक) और इस प्रकार के जो वीर घुड़सवार होते थे उन्हें घुड़सवार सेना का नायक बना दिया जाता था[167]। राजा को चाहिए कि जिस योद्धा में शूरवीरपने की सम्भावना हो, उसके विषय में जानकारी प्राप्त कर उसका भी सम्मान करना चाहिए।

जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्य सिद्ध कर दिया है, उसकी तो बात ही क्या है[168]? राजा सामन्तों को भी प्रसन्नता सूचक उपहार देकर सन्तुष्ट करे। राजा पद्मनाभ ने भीमराज को चमकदार कपड़े, सुभीम को मणिकङ्कण, महासेन को मुकुट, सेन को मोतियों की माला, चित्राङ्क को चूड़ामणि, परन्तप को स्वर्ण का यज्ञोपवीत, कण्ठराजा को रत्न को कण्ठी, सुकुमण्डल को कुण्डल तथा भीमरथ को अनर्थ (कीमती) मणि देकर प्रसन्न किया तथा अन्य राजाओं को भी यथायोग्य कवच, घोड़ा, रथ तथा हाथी देकर सन्तुष्ट किया[169]।

राजा को सैनिकों की देखरेख स्वयं करना चाहिए। जो राजा स्वयं अपनी सेना की देखभाल न कर दूसरों से कराता है, वह धन और तन्त्र (सेना) से रहित हो जाता है[170]। राजा किसी अकेले व्यक्ति को सैन्याधिकारी न बनाए। ऐसा व्यक्ति शत्रु द्वारा फोड़े जाने के अपराधवश अपने स्वामी के प्रतिकूल होकर महान् अनर्थ करता है[171]।

सैनिकों का कर्त्तव्य - सैनिकों को चाहिए कि वे युद्ध क्षेत्र में स्वामी को छोड़कर न जाय। युद्ध में स्वामी को छोड़कर जाने वाले सैनिक का ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण नहीं होता है[172]। पैदल, पालकी (दोला) पर सवार अथवा घुड़सवार (व्यक्ति) शत्रु की भूमि में प्रवेश न करें[173]। युद्ध में अपने स्वामी से आगे जाने वाले सैनिक को अश्वमेघ यज्ञ के समान फल मिलता है[174]।

सेना के राजविरूद्ध होने के कारण - स्वयं सैनिकों की देखरेख न करना, उनके वेतन में से कुछ अंश हड़प जाना, वेतन विलम्ब से देना, विपत्ति में सहायता न करना एवं विशेष अवसरों पर सैनिकों का सम्मान न करना, इन सब कारणों से सेना राजविरूद्ध हो जाती है[175]।

युद्ध में जीत न होने का कारण - जिसके पास थोड़े समय ठहरने वाली सेना है, वह युद्ध में नहीं जीत सकता है[176]।

जय पराजय के सूचक शकुन - तत्कालीन जनता शकुनों में विश्वास करती थी। शुभाशुभ सपनों के द्वारा ही जय-पराजय की सूचना मिल जाती थी। चन्द्रप्रभचरित में सियारी का बाई और शब्द करना, बायीं ओर गधे का मृदु शब्द करना, भारद्वाज पक्षी का परिक्रमा करना, सिरनी के वृक्ष पर कौआ बोलना, सहसा हाथियों के कपोलों से मद झरना, जय का सूचक[177] तथा दायीं ओर सिपाहियों का बोलना, बार-बार छींक आना, साँप का राह काट जाना, कटिले वृक्ष पर बैठकर कौए का कर्कश शब्द करना, घोड़ों की पूँछों में जलन होना, गधे का आर्त शब्द करना, प्रतिकूल हवा चलना, मन उदास होना व आकाश से रूधिर की वर्षा होना पराजय का सूचक माना गया है[178]।

पराजय के बाद की स्थिति - पराजित होने या शत्रु के तेज से अभिभूत होने पर राजागण बड़ी विपत्ति में पड़ जाते थे[179]। कुछ अनुगामी बनकर उपायन (भेंट) ले जाकर बड़े राजा की

सेवा में उपस्थित होते थे[180] । कुछ महागर्व रूपी हाथी पर चढ़कर अपनी शोर्य के मद में भरी हुई सेना के साथ बलशाली राजा के शस्त्रों की अग्नि शिखा में भस्म हो जाते थे[181] । कुछ प्रतापी राजा की सेना के द्वारा दले मले जाने के भय से स्त्री और पुत्रादि को छोड़कर अपने शरीर की रक्षा को ही बहुत मानते हुए जंगल में भाग जाते थे[182] । बहुत से भयविह्वल हो कठोर धारा वाले कुठार को कंठ से लगाकर शरण में आ जाते थे[183] । कुछ दर्पहीन होकर वाहन, धन, धान्य और सम्पूर्ण रत्न भेंट में देकर अपनी जान बचाते थे[184] । बड़े राजाओं की राज सभा में ऐसे राजाओं की भीड़ लगी रहती थी। द्वारपालों के द्वारा अपना नाम और कुल कहलाकर फिर भीतर जाकर वे वृथ्वी पर सिर रखकर प्रणाम करते थे[185] ।शत्रुओं के हाथ जुड़वाकर, उनका मान मिटाकर तथा उनसे सारांशस्वरूप रत्नादि लेकर उनका राज्य वापिस कर दिया जाता था[186] । किसी कारण जब प्रतापी राजा का शासन *शिथिल पड़ जाता था तब समस्त मण्डल स्वतन्त्र हो जाते थे, क्योंकि आलस्य सभी की अवनति* या तिरस्कार कर कारण होता है[187] ।

शत्रुविजय - अपने शत्रु के कार्यों की प्रबलता और उसके विचार को जानकर प्रतीकार करना चाहिए[188] । इस प्रकार उत्तम उपायों से प्रसिद्ध मनुष्य कार्य को पूर्ण करने में रूकावट रहित होते हैं[189] । शत्रु यदि अत्यन्त छोटा भी हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। आंख में पड़ी हुई धूलि के कण के समान उपेक्षा किया हुआ शत्रु भी पीड़ा देने वाला हो जाता है । काँटा यदि अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसे बलात् निकाल देना चाहिए, क्योंकि पैर में लगा काँटा यदि निकल नहीं जाता तो वह अत्यन्त दु:ख देने वाला हो जाता है[190] । जिस प्रकार दुष्ट सर्पों को मन्त्र के बल से उठाकर बामी में डाल देते हैं, उसी प्रकार भोग विलासी राजाओं को बलवान राजा मन्त्र के जोर से उखाड़कर किले में डाल देते हैं[191] । जिस प्रकार वृक्ष की शाखाओं के अग्रभाग की रगड़ से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वत का विघात करने वाली होती है, उसी प्रकार भाई आदि अन्तरंग प्रकृति से उत्पन्न हुआ कोप राजा का विघात करने वाला होता है[192] । सजातीय लोग परस्पर के विरूद्ध आचरण से अंगारे के समान जलते रहते हैं और वे ही लोग अनुकूल रहकर नेत्रों को आनन्दित करते हैं[193] । तेजस्वी पुरुष बड़ा होने पर भी अपने सजातीय लोगों द्वारा रोका जाता है[194]। प्रणाम करने वाला शत्रु स्वामी के मन को उतना अधिक दु:खी नहीं करता है, जितना कि अपने को झूठमूठ चतुर मानने वाला और अभिमान से प्रणाम नहीं करने वाला भाई करता है[195] । अत: बाह्यमण्डल के समान अन्तर्मण्डल को भी[196] वश में करना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष ऋण, घाव, अग्नि और शत्रु के बाकी रहे हुए थोड़े से भी अंश की उपेक्षा नहीं करते हैं[197] ।

महाकवि असग का भी कहना है कि परिपाक में पथ्य को चाहने वाला शत्रु की बढ़ी हुई वृद्धि को जरा भी नहीं चाहता । शत्रु और रोग दोनों को यदि थोड़ेकाल तक सहसा बढ़ते रहने दिया जाय तो वे थोड़े ही काल में प्राणों के ग्राहक हो जाते हैं[198] । बहुत भारी तिरस्कार करने वाले विरूद्ध शत्रु पर भी जो पौरुष नहीं करता है वह पीछे अपनी स्त्री के मुखरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कलंक को देखता है[199] । अर्थात् स्त्रियों के समक्ष उसे लज्जित होना पड़ता है । जो उदारबुद्धि हैं वे एक क्षण के लिए भी तेज को नहीं छोड़ते हैं[200] । तेजस्वियों का कोई भी बाल बांका नहीं कर सकता । जो सिंह मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थलों के विदारण करने में अतिदक्षता रखता है, यदि उसकी आँख निद्रा से मुँद जाये तो भी उसकी सटा (गर्दन के बल) को गीदड़ नष्ट नहीं कर सकते

है[201]। जो राजा दैव और बलप्रयोग से रहित है, उसे शत्रु जीतकर राजधानी के साथ-साथ राज्य को ले लेते हैं[202]।

आचार्य सोमदेव के अनुसार (शत्रु विनाश के) उपाय को जानने वाले व्यक्ति के सामने हीन और महान् शक्ति वाले शत्रु नहीं ठहर सकते हैं। जिस प्रकार नदी का पूर तटवर्ती तृण व वृक्षों को एक साथ उखाड़कर फैंक देता है, उसी प्रकार शत्रुविनाश के उपायों को जानने वाला विजिगीषु भी अनेक सफल उपायों से महाशक्तिशाली व हीनशक्ति युक्त शत्रुओं को परास्त कर देता है[203]। शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाने के सिवाय कोई दूसरा शत्रुसेना को नष्ट करने वाला मन्त्रनहीं है[204]। अत: जिस शत्रु पर (राजा) चढ़ाई करे उसके कुटुम्बियों को अवश्य ही अपने पक्ष में मिलाकर शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रेरित करे। काँटे से काँटा निकालने की तरह शत्रु द्वारा शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। जिस तरह बैल से बैल फोड़े जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं, उसी प्रकार शत्रु से शत्रु लड़ाने पर दोनों का अथवा एक का नाश होता हैं। अपराधी शत्रु पर विजय प्राप्त करने में क्षमा या उपेक्षा कारण नहीं, किन्तु विजिगीषु का कोष व सैन्यशक्तिरूप तेज ही कारण है। जिस प्रकार छोटा सा पत्थर शक्तिशाली होने के कारण घड़े को फोड़ने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार विजय का इच्छुक सैन्यशक्ति युक्त होने के कारण महान् शत्रु को नष्ट करने की क्षमता रखता है[205]। महापुरुष दूरवर्ती शत्रु से भयभीत होते हैं, परन्तु शत्रु के निकट आ जाने पर अपनी वीरता दिखलाते हैं। जिस तरह कोमल जलप्रवाह विशाल पर्वतों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार कोमल राजा भी महाशक्तिशाली शत्रु राजाओं को नष्ट कर देता है[206]। प्रियवादी पुरुष मोर के समान अभिमानी शत्रु रूपी सर्पों को नष्ट कर देता है[207]। शत्रु पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, शत्रु पर विश्वास करना अजाकृपाणीय न्याय के समान घातक है[208]। शत्रु के राष्ट्र में प्रविष्ट होने पर अपनी सेना को विशेष परिभ्रमण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे खेदखिन्न सेना शत्रु द्वारा सरलता से जीती जा सकती है[209]। बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किए जाने पर मनुष्य को या तो अन्यत्र चला जाना चाहिए अथवा उससे सन्धि कर लेना चाहिए, अन्यथा उसके कल्याण का कोई उपाय नहीं है[210]। अपनी शक्ति को बिना सोचे समझे पराक्रम करने से सभी की हानि होती है[211]। शत्रु पर आक्रमण करने से ही वह वश में नहीं होता, अपितु युक्ति के प्रयोग द्वारा ही वह वश में किया जा सकता है[212]। बलवान की शरण लेकर जो उससे उद्दण्डता का व्यवहार करता है, उसकी तत्काल मृत्यु होती है[213]। जो शत्रु आश्रयहीन है अथवा दुर्बल आश्रय वाला है, उससे युद्ध कर उसका विनाश कर देना चाहिए[214]। यदि कारणवश शत्रु से सन्धि हो जाय तो अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए उसका धन छीन ले या उसे इस तरह शक्तिहीन करे, जिससे वह पुन: सिर न उठा सके[215]। अपने ही कुल का पुरुष राजा का स्वाभाविक (सहज) शत्रु है[216] (क्योंकि वह ईर्ष्यावश राजा के पतन की बात सोचता है)। जिसके साथ विरोध उत्प न किया गया है तथा जो स्वयं आकर विरोध करता है, ये दोनों राजा के कृत्रिम शत्रु हैं[217]। दूरवर्ती मित्र और निकटवर्ती शत्रु होता है, यह शत्रु मित्र का सर्वथा लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य ही मित्रता और शत्रुता के कारण है, दूरपना और निकटपना कारण नहीं है[218]। दो बलवानों के मध्य घिरा हुआ शत्रु दो सिंहों के मध्य में फँसे हुए हाथी के समान सरलता से जीता जा सकता है[219]।

वीरनन्दि के अनुसार मदादि छह अन्तरंग शत्रुओं पर जो राजा शासन कर लेता है, वह पृथ्वी का शासन करता है[220]। नाश को प्राप्त कराने वाले व्यसनों से युक्त अथवा भाग्यहीन शत्रु सरलता

से जीता जा सकता है[221] । बुद्धिमान् पुरुष अच्छी तरह सोच विचार कर ही कार्य करता है अथवा कार्यारम्भ नहीं करता है, क्योंकि जल्दी काम करना पशुओं का धर्म है मनुषयों का नहीं । यदि पशु और मनुष्य दोनों अविवेक पूर्वक कार्य करने लगे तो दो सींगों को छोड़कर दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा[222] ? जब तक शत्रु आक्रमण नहीं करते तब तक मनुष्य स्वर्ण के समान भारी रहता है । वही जब शत्रुओं से तोला जाता है तब तत्क्ष्ण तृण के समान हलका होकर गिर जाता है[223] । जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुष को सदा नीति और प्रराक्रम रूपी वृक्षों को पकड़े रहना चाहिए । इनको छोड़कर फल सिद्धि का दूसरा कारण नहीं है[224] । अधिक भाग्य सम्पत्ति की इच्छा रखने वाले को अपने से छोटे या बराबर वाले के साथ विरोध करना चाहिए, बलवान के साथ नहीं[225] । मैं बलवान हूँ यह अहंकार भी सब जगह सुखदायी नहीं होता । बादल को लांघने की कामना करने वाले सिंह का अधिक उछलना ही उसकी मृत्यु का कारण होता है[226] । न्याय और पराक्रम से युक्त व्यक्ति सब जगत को जीत लेता है[227] । पृथ्वी का भोग निश्चित रूप से खड्ग के बल से किया जाता है, परम्परा की दुहाई देकर नहीं[228] । रोग की तरह उदयकाल में ही जिसकी चिकित्सा कर दी जाती है वह शत्रु अपने वश में रहता है[229] । जो शत्रुओं पर (बिना कारण) अपराध लगाकर आक्रमण करके उन्हें मारना चाहता है, वह स्वयं अन्य के द्वारा अभियुक्त होकर विनष्ट हो जाता है । वायु से धौंकी गई अग्नि जैसे औरों को जलाती है, उसी प्रकार स्वयं भी जलती है[230] ।

संक्षेप में शत्रुविजय के उपायों को निम्नलिखित रूपों में व्यक्त किया जा सकता हैं -

1. उपायज्ञ होना । 2. शत्रु की उपेक्षा न करना ।
3. बाह्य और अन्तर्मण्डल को वश में करना ।
4. नीति और पराक्रम से युक्त होना ।
5. शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना ।
6. कोष व सैन्यशक्ति को बढ़ाना ।
7. प्रियवादी होना । 8. शत्रु पर विश्वास न करना ।
9. अपनी शक्ति का विचार कर अपने से बलवान के साथ विरोध न करना ।
10. क्षय आन्तरिक शत्रु (काम क्रोधादि) पर विजय प्राप्त करना ।
11. सोच-विचार कर कार्य करना ।

शत्रु विजय के विषय में वरांगचरित में विस्तृत रूप से विचार किया गया हैं । शत्रु राजा को जब यह विदित होता था कि उसका विरोधी दुर्बल है अथवा समराङ्गण से भाग गया है तो वह प्राय: अश्व, रथ गज सेना, देश तथा धन को प्राप्त करने की इच्छा से उस पर आक्रमण कर देता था[231] । ऐसा राजा से युद्ध भी करना पड़ता था । इसके अतिरिक्त दुष्ट, अनिष्टतम सामन्त राजा तथा अटवीश्वरों[232] (वनाधिपतियों) को वश में करना पड़ता था । जो नीतिमार्ग का आचरण करते हैं वे नीतिबल से शत्रुओं को जीत लेते हैं । इसके विपरीत नीतिमार्ग के प्रतिकूल आचरण करने वाले बलवान् पुरुष भी अपने साधारण शत्रुओं के द्वारा जीत लिए जाते हैं[233] । प्रमाद नहीं करने वाला सर्वशक्ति सम्पन्न को जीत सकता है । जो किसी कार्य में लग जाने पर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता है उसकी अप्रमादी पर भी विजय होती है । शीघ्रकारी को नीतिमान् के आगे झुकना पड़ता है और जिसके पक्ष में भाग्य होता है, उसके विरूद्ध नीतिमान् भी सिर पीटता रह जाता है[234] । युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व घोषणा करा दी जाती थी कि राजा अपने बन्धुओं सहित शत्रु से युद्ध करने

के लिए कटिबद्ध है, वे अपने अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में हैं। जिन लोगों को राजसम्मान प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा जो अपने राज्य का गौरव बढ़ाने के लिए सम्पत्ति का मोह छोड़ सकते हैं तथा जिन्हें अपने पौरुष का अभिमान है, वे शीघ्र महाराज की सेवा में उपस्थित हों[235]। इस प्रकार की घोषणा राजा की आज्ञा से बड़े ठाठ-बाट से सारे नगर में की जाती थी। इसके साथ-साथ विशाल भेरी भी बजाई जाती थी तथा हाथी के मस्तक पर आरूढ़ व्यक्ति इस घोषणा को सब जगह घोषित करते थे[236]। राजनीति का यह मूल मन्त्र है कि अपने से प्रबल शत्रु के साथ किसी भी प्रकार का वैर न करे। समान बल वाले के साथ भी शत्रुता करना दोषपूर्ण है। यदि अपने से हीन शत्रु पर देशकाल का विचार करके आक्रमण किया जाये तो सफलता प्राप्त होती है[237]। चाणक्य ने भी कहा है - बलवान् राजा को चाहिए कि वह दुर्बल राजा से झगड़ा कर ले। अपने से बड़े या बराबर वाले के साथ झगड़ा न करे। बलवान् के साथ किया गया विग्रह वैसा ही होता है जैसे गज सैन्य से पदाति सैन्य का मुकाबला। कच्चा बर्तन कच्चे बर्तन के साथ टकराकर टूट जाता है, इसलिए बराबर वाले के साथ भी लड़ाई नहीं करना चाहिए[238]।

ऊपर हीन शत्रु पर आक्रमण करते समय देशकाल का विचार करने की सलाह दी गई है। कौटिल्य ने देश और काल की व्याख्या निम्नलिखित की हैं -

देश - देश पृथ्वी को कहते हैं। हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त पूर्व - पश्चिम दिशाओं में एक हजार योजन फैला हुआ और पूर्व पश्चिम की सीमाओं के बीच का भूभाग चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता हैं। उस चक्रवर्ती क्षेत्र में जंगल, आबादी, पहाड़ी इलाका, जल, स्थल, समतल और ऊबड़ खाबड़ आदि विशेष भाग होते हैं। इन भू-भागों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाये जिससे अपनी बलवृद्धि में निरन्तर विकास होता रहे। जिस स्थान पर अपनी सेना की कवायद के लिए सुविधा तथा शत्रुसेना की कवायद के लिए असुविधा हो, वह उत्तम देश, जो इसके सर्वथा विपरीत हो वह अधम देश और जो अपने तथा शत्रु के लिए एक समान सुविधा-असुविधा वाला हो वह मध्यम देश कहलाता है[239]।

काल - काल के तीन विभाग हैं, सर्दी, गर्मी और वर्षा। काल का यह प्रत्येक भाग रात, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर तथा युग आदि विशेषताओं में विभक्त है। समय के इन विशेष भागों में अपनी शक्ति को बढ़ाने योग्य कार्य करना चाहिए। जो ऋतु अपनी सेना के व्यायाम के लिए अनुकूल हो वह उत्तम ऋतु, जो इसके विपरीत हो वह अधम ऋतु और जो सामान्य हो, वह मध्यम ऋतु कहलाती है[240]।

यात्राकाल - विजिगीषु राजा भली भाँति तैयार होकर आवश्यकतानुसार सेना के तिहाई या चौथाई भाग को अपनी राजधानी, अपने पार्ष्णि और अपने सरहदी इलाकों की रक्षा के लिए नियुक्त कर यथेष्ट कोष तथा सेना को साथ लेकर शत्रु पर विजय करने के लिए अगहन मास में युद्ध के लिए प्रस्थान करें, क्योंकि इस समय शत्रु का इस समय पुराना अन्न संचय समाप्ति पर होता है, नई फसल के अन्न को संग्रह करने का वही समय होता है और वर्षा के बाद किलों की मरम्मत नहीं हुई रहती है। यही समय है, जबकि वर्षाऋतु से उत्पन्न फसल और आगे हेमन्तऋतु में पैदा होने वाली फसल दोनों को नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार हेमन्त ऋतु की पैदावार को

और आगे बसन्त ऋतु की पैदावार को नष्ट करने के लिए उपयुक्त युद्ध प्रयाण काल चैत्र मास में है। यात्रा का यह दूसरा समय है। इसी प्रकार बसन्त की पैदावार और आगे होने वाली वर्षाकाल की फसल को नष्ट करने का उपयुक्त समय ज्येष्ठ मास में हैं, क्योंकि इस समय घास, फूस, लकड़ी, जल आदि सभी क्षीण हुए रहते हैं और इसीलिए शत्रु अपने दुर्ग की मरम्मत नहीं कर पाता है। यात्राकाल का यह तीसरा अवसर है[241]।

उचित देश – जो देश अत्यन्त गर्म हो, जहाँ यवस (पशुओं की खाद्य सामग्री), ईंधन तथा जल की कमी हो वहां हेमन्त ऋतु में युद्ध के लिए प्रस्थान करना चाहिए। जिस देश में लगातार वर्फ पड़ती हो या वर्षा होती हो, जहां बड़े-बड़े तालाब और घने जंगल हो वहाँ ग्रीष्मम ऋतु में युद्ध के लिए जाना चाहिए। जो अपनी सेना के कवायद करने के लिए उपयुक्त और शत्रु सेना के लिए अनुपयुक्त हो ऐसे देश पर वर्षा ऋतु में आक्रमण करना चाहिए। जब किसी दूसरे देश के आक्रमण में अधिक समय लग जाने की सम्भावना हो तब अगहन और पौष इन दो महीनों में यात्रा करनी चाहिए। मध्यकालीन यात्रा चैत्र, वैसाख के बीच करना चाहिए। जहाँ अल्पकालिक यात्रा हो वहाँ ज्येष्ठ मास में प्रस्थान किया जाना चाहिए। जब कभी शत्रु पर आपत्ति आयी हुई दिखाई दे तब समय की उपेक्षा किये बिना चढ़ाई कर देना चाहिए[242]।

फुटनोट

1. नीतिवाक्यामृत 22/1
2. पद्मचरित 27/47, बरांगचरित 2/58-59, द्विसंधान महाकाव्य 16/8
3. वही 17/11-14
4. वह द्विसंधान महाकाव्य 14/30
5. नीतिवाक्यामृत 22/2
6. वही 22/3
7. वही 22/4
8. वही 22/6
9. वही 22/7
10. द्विसंधान महाकाव्य 11/31
11. नीतिवाक्यामृत 22/7
12. वही 22/8
13. वही 22/9
14. वही 22/10
15. नीतिवाक्यामृत 22/11
16. वही 22/12
17. वरांगचरित 17/74
18. वही 2/58
19. वही 17/16
20. वही 17/18
21. हरिवंशपुराण 8/133
22. वही 38/22
23. वही 38/24
24. वही 38/25
25. हरिवंशपुराण 38/26-29
26. आदिपुराण 13/16
27. वही 24/13
28. वही 29/6
29. वही 31/73
30. वही 44/99
31. उत्तरपुराण 58/110, 64/29
32. वही 74/34
33. वही 5/58
34. वही 68/587
35. वही 75/639-642
36. कामन्दकीय नीतिसार 1/57
37. द्विसंधान महाकाव्य 2/11

38. द्विसंधान महाकाव्य टीका 2/11
39. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 9/2
40. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 9/2
41. द्विसंधान महाकाव्य टीका 2/11
42. नीतिवाक्यमृत 22/13
43. वही 22/14
44. वही 22/5
45. पद्मवंशपुराण 56/3, 4, 5
46. पद्मवंशपुराण 56/6-12
47. हरिवंशपुराण 50/76
48. वही 50/75
49. आदिपुराण 8/142-143
50. वही 28/56
51. वही 39/2
52. वही 36/3-5
53. वही 28/2
54. आदिपुराण 26/91-92
55. वही 29/19, 108
56. चन्द्रप्रभचरित 13/35
57. वही 13/37
58. वही 13/12
59. वही 13/9
60. वही 13/14
61. वही 13/19
62. वही 13/20
63. वही 13/22
64. वही 4/47
65. वही 15/22-25
66. वही 13/24
67. वही 13/31
68. वही 13/28
69. वही 13/29
70. वही 13/28
71. चन्द्रप्रभचरित 13/30
72. वही 13/29
73. वर्धमानचरित 7/81-82
74. वही 7/80
75. आदिपुराण 27/129
76. वही 27/130
77. वही 27/133
78. वही 27/134
79. वही 27/135
8. वही 27/137
81. वही 27/142-148
82. वही 27/150
83. वही 27/151
84. चन्द्रप्रभचरित 14/46, 44
85. चन्द्रप्रभचरित 14/46
86. वही 14/47
87. वर्धमानचरित 6/67
88. वही 7/91
89. वही 7/92
90. व्रही 7/96-97
91. वरांगचरित 16/46
92. वही 18/3
93. वही 16/47
94. वही 18/3
95. वर्धमानचरित 16/31
96. वही 16/38
97. वरांगचरित 18/75
98. वही 17/18
99. वही 17/19
100. वही 17/20-21
101. वही 17/19
102. वरांगचरित 17/23
103. अदिपुराण 27/119
104. वही 8/120
105. वही 8/121
106. वही 8/122
107. वही 8/123
108. वही 20/245

109. वही 8/124-135
110. आदिपुराण 36/204
111. वही 44/138
112. वही 44/111
113. वही 31/76
114. वही 44/109
115. वही 32/42
116. वही 31/20
117. वही 31/74
118. वही 36/14
119. वही 15/126
120. नीतिवाक्यामृत 26/69
121. वही 27/33
122. वही 27/66
123. नीतिवाक्यामृत 29/30
124. वही 30/4
125. वही 30/5
126. वही 30/6
127. वही 30/7
128. वही 30/8
129. वही 30/9
130. वही 30/14
131. वही 30/15
132. वही 30/18
133. वही 30/19
134. वही 30/20
135. वही 30/21
136. नीतिवाक्यामृत 30/22-24
137. वही 30/37
138. वही 30/48
139. वही 30/68
140. वही 30/69
141. वही 30/76
142. वही 30/88
143. वही 30/89
144. वही 30/99
145. वही 30/98
146. वही 30/86
147. वही 30/87
148. हरिवंशपुराण 50/102110
149. वही 50/113-129
150. वही 52/5
151. वही 52/6
152. वही 52/7
153. वही 52/8
154. वही 52/10
155. वही 52/12
156. वही 52/13
157. वही 52/16
158. हरिवंशपुराण 52/18
159. वही 52/20
160. वही 52/22
161. नीतिवाक्यामृत 30/90
162. वही 30/91
163. वही 30/16
164. वही 30/17
165. आदिपुराण 32/74
166. वही 44/17
167. वही 31/75
168. वही 44/33
169. चन्द्रप्रभचरित 15/15-19
170. नीतिवाक्यामृत 22/18
171. वही 30/92
172. नीतिवाक्यामृत 30/95
173. वही 30/100
174. वही 30/94
175. वही 22/17
176. वही 32/24
177. चन्द्रप्रभचरित 15/27-30
178. वही 15/32-34

179. वही 12/2
180. वही 5/52
181. वही 4/56
182. वही 4/54
183. वही 4/55
184. चन्द्रप्रभचरित 4/57
185. वही 17/57
186. वही 4/58
187. वही 16/23
188. क्षत्रचुड़ामणि 10/12
189. वही 10/23
190. आदिपुराण 34/24-25
191. वही 29/17
192. वही 35/18
193. वही 34/55
194. वही 34/42
195. वही 35/84
196. वही 34/40
197. आदिपुराण 34/46
198. वर्धमानचरित 6/61
199. वही 4/71
200. वही 7/42
201. वही 8/39
202. वही 4/86
203. नीतिवाक्यामृत 10/153-154
204. वही 30/53
205. नीतिवाक्यामृत 30/54-60
206. वही 10/127
207. वही 10/29
208. वही 10/141
209. वही 30/52
210. वही 26/2
211. वही 26/23
212. वही 26/24
213. वही 27/67
214. वही 29/31
215. वही 29/32
216. वही 29/33
217. वही 29/34
218. वही 29/35
219. वही 29/64
220. चन्द्रप्रभचरित 12/14
221. चन्द्रप्रभचरित 12/39
222. वही 12/102-103
223. वही 12/88
224. वही 12/72
225. वही 12/47
226. वही 12/35
227. वही 5/23
228. वही 12/31
229. वही 12/65
230. वही 12/38
231. वरांगचरित 20/15
232. वही 28/67
233. वही 16/44
234. वरांगचरित 16/45
235. वही 16/76-77
236. वरांगचरित 16/78
237. वरांगतचरित 16/53
238. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् (चाणक्य प्रणीत सूत्रम्) 55-58
239. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 9/1 पृ. 725
240. वही 9/1 पृ. 725-726
241. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 9/1 पृ. 727
242. वही 9/1 पृ. 727-728

❑❑❑

नवम अध्याय

न्याय एवं प्रशासन व्यवस्था

न्याय की आवश्यकता - दुष्टों का निग्रह करना और शिष्टों का पालन करना यह राजाओं का धर्म नीतिशास्त्रों में बतलाया गया है। स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणों से यदि राजा ही नीति मार्ग का उल्लंघन करता है तो प्रजा भी उसकी प्रवृत्ति करती है। अतः राजा को चाहिए कि उसका दायां हाथ भी यदि दुष्ट हो तो उसे काट दे[1]। उसके पृथ्वी के रक्षा करते समय अन्याय यह शब्द ही सुनाई न दे और प्रजा बिना किसी प्रतिबन्ध के अपने-अपने मार्ग में प्रवृत्ति करे[2]। दुराचार करने वालों को वश में करने के लिए दण्ड को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है क्योंकि जिस प्रकार टेढ़ी लकड़ी आग लगाने से ही सीधी होती है, उसी प्रकार दुराचारी दण्ड से ही सीधे होते हैं[3]। इस प्रकार दुराचारियों का दुराचार रोकने के लिए और सदाचारियों की रक्षा के लिए न्याय की आवश्यकता पड़ी।

न्यायाधीश - ग्राम व नगर में मुकदमों का निर्णय कराने के लिए लोग राजा के पास जाते थे[4]। क्योंकि ऐसा माना जाता था कि राजा द्वारा किया हुआ निर्णय निर्दोष होता है। इस प्रकार न्याय सम्बन्धी मामलों में राजा सर्वोपरि होता था। जो राजाज्ञा अथवा मर्यादा का अतिक्रमण करता था, उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। राजा के बाद न्याय के क्षेत्र में दूसरा स्थान धर्माध्यक्ष या न्यायधीश का होता था। धर्माध्यक्ष को राजसभा में राजा को प्रसन्न करते हुए वादी प्रतिवादी के विवाद का निर्णय इस ढंग से करना चाहिए कि उसके ऊपर उलाहना न आए और उक्त दोनों में से कोई एक दोषी ठहराया जाय। धर्माध्यक्ष अपने स्वामी का पक्ष लेकर सत्य - असत्य बोलने वाले वादी के साथ लड़ाई झगड़ा न करे[5]। जनता को चाहिए कि परस्पर विवाद होने पर वह न्यायाधीश वगैरह से विवाद की समाप्ति करा लें, क्योंकि अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने वाली युक्तियाँ अनन्त होती है[6]।

सभ्य - सभा के सदस्य को सभ्य कहते थे। सभ्य सूर्य के समान पदार्थ को जैसा का तैसा प्रकाशित करने वाली प्रतिभा से युक्त होना चाहिए[7]। जिन्होंने राजशासन सम्बन्धी व्यवहारों का शास्त्र द्वारा अनुभव नहीं किया हो और न सुना हो, जो राजा से ईर्ष्या व वाद-विवाद करते हों, वे राजा के शत्रु हैं, सभ्य नहीं है। जिस राजा की सभा में लोभ व पक्षपात के कारण झूँठ बोलने वाले सभापद होंगे वे निस्सन्देह मान व धन की क्षति करेंगे[8]। जो सभ्य छल, कपट, बलात्कार व वाक्याचुर्य द्वारा वादी की स्वार्थहानि करते हैं, वे अधम हैं[9]।

न्यायिक उत्तरदायित्व - वहाँ पर वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं है, जहाँ सभापति स्वयं विरोधी हो। सभ्य और सभापति में असामं जस्य होने पर विजय नहीं हो सकती है। जिस प्रकार से बकरे मिलकर कुत्ते को जीत लेते हैं[10], उसी प्रकार बहुत से सभ्य मिलकर न्यायाधीश को प्रभावित करते हैं। जहाँ पर मिथ्या विवाद खड़ा हो, वहाँ निर्णय करने के लिए (सभ्यपुरुषों को) विवाद नहीं करना चाहिए[11]।

सभायें - हरिवंशपुराण में कुछ सभाओं का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से उस समय की सभाओं की एक झाँकी प्राप्त होती है। प्रमुख सभाओं का परिचय निम्नलिखित है -

(1) **विजयदेव की सभा** - जम्बूद्वीप की पूर्व दिशा में विजयद्वार के रक्षक विजयदेव के नगर में बीच के भवन में चमर और सफेद छत्रों से युक्त उसका सिंहासन है। उस पर वह पूर्वाभिमुख हो बैठता है। उसके उत्तरदिशा में छह हजार सामानिक देव बैठते हैं तथा आगे और दो दिशाओं में छह पट्टदेवियाँ आसन ग्रहम करती हैं। पूर्व दक्षिण दिशा में आठ हजार उत्तम पारिषद देव बैठते हैं, मध्यपरिषद के दश हजार देव दक्षिण दिशा में स्थित होते हैं। वाह्य परिषद के बारह हजार देव पश्चिम दक्षिण दिशा में आसनारुढ़ होते हैं और सात सेनाओं के महत्तरदेव पश्चिम दिशा में आसन ग्रहण करते हैं। चारों दिशाओं में अठारह हजार अंगरक्षक रहते हैं और चारों दिशाओं में उतने ही भद्रासन हैं[12]। विजयदेव की इस सभा की किसी राजा की सभा के रूप में कल्पना की जाय तो स्थिति इस प्रकार होती है - नगर के बीच के भवन में राजा का उत्तम सिंहासन है, उस पर वह पूर्व की ओर मुखकर बैठता है। उसकी उत्तर दिशा में उसके सभासद बैठते हैं और आगे दो दिशाओं में पट्ट रानियाँ आसन ग्रहण करती हैं। पूर्व दक्षिण दिशा में उत्तम पारिषद सभा सह बैठते हैं। दक्षिण सभा में मध्यम परिषद के सदस्य बैठते हैं, पश्चिम दक्षिण में वाह्य परिषद् के सदस्य बैठते हैं। पश्चिम दिशा में सात सेनाओं के महत्तर (प्रधानपुरुष) बैठते हैं। वे चारों दिशाओं में अठारह हजार अंगरक्षक बैठते हैं। उपर्युक्त कल्पना से राजाओं की उत्तम परिषद्, मध्यम परिषद् और वाह्य परिषदों के अस्तित्व का अनुमान होता है। इन परिषदों के साथ सेनामहत्तरों के बैठने की सूचना भी प्राप्त होती है तथा चारों दिशाओं में रक्षा के लिए अंगरक्षकों की नियुक्ति की भी जानकारी प्राप्त होती है।

सुधर्मा सभा और उसके समान अन्य सभायें - विजयदेव के भवन से उत्तरदिशा में एक सुधर्मा नामक सभा है, जो छह योजन लम्बी, तीन योजन चौड़ी, 9 योजन ऊँची और एक कोश गहरी है। सुधर्मा सभा से उत्तरदिशा में एक जिनालय है, उसकी लम्बाई, चौड़ाई आदि का विस्तार सुधर्मा सभा के समान है। पश्चिमोत्तर दिशा में उपपार्श्व सभा है। उसके आगे अभिषेक सभा, उसके आगे अलंकार सभा और उसके आगे व्यवसाय सभा है। ये सबी सभायें सुधर्मा सभा के समान है[13]। उपर्युक्त वर्णन से यह अनुमान होता है कि राजा के मुख्य सभा के उत्तर में जिनालय का निर्माण होता था तथा पश्चिमोत्तर सभा में मुख्य सभा के समान ही उपपार्श्वसभा, और अलंकार सभायें बनाई जाती था।

शक्रसभा[14] - इन्द्र सभा।

बलदेव सभा - हरिवंशपुराण के 41 वें सर्गके उल्लेखानुसार बलदेव के महल केआगे एक सभामण्डल था जो शक्र सभामण्डल (इन्द्रसभा मण्डल) के समान दीप्तिमान था[15]। इससे ज्ञात होता है कि राजाओं के महल के आगे सभामण्डप का निर्माण किया जाता था।

राजा वसु की सभा - राजा वसुं प्रातः काल सभा के समय सिंहासन पर बैठता था[16]। जब महत्त्वपूर्ण विषय पर राजा का निर्णय होना होता था तो प्रश्नकर्त्ताओं से घिरे हुए वादी और प्रतिवादी सभा (आस्थानी) में आते थे। इस समय निमन्त्रित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा आश्रमवासी आते थे और अनिमन्त्रित साधारण मनुष्य भी सहजस्वभाव वश प्रश्न करने के लिए आ बैठते थे[17]।

एक ऐसे ही समय का जिनसेन ने बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है। उस समय रासभा में कितने ही ब्राह्मण मनुष्यों के कानों को सुख देने वाले सोमवेद का गायन करते थे और कितने ही वेदों का स्पष्ट एवं मधुर उच्चारण करते थे। कितने ही ऊंकार ध्वनि के साथ यजुर्वेद का पाठ करते थे और कितने ही पद तथा क्रम से युक्त अनेक मंत्रों की आवृत्ति करते थे। कितने ही ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेदों को लिये हुए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के स्वरूप का उच्चारण करते थे[18]। जो ऋगवेद, सामवेद, यजुर्वेद का प्रारम्भ का जोर-जोर से पाठ करते थे तथा दिशाओं को बहिरा बनाते थे ऐसे ब्राह्मणों से सभा का आंगन खचाखच भर जाता था . वादी प्रतिवादी शिष्टाचारपूर्वक अपने सहायकों के साथ योग्य स्थानों पर बैठ जाते थे। बड़े-बड़े कमण्डलु, जटा और बल्कलों को धारण करने वाले तापस वहाँ विद्यमान होते ते। ऐसे अपूर्व समय पर जो पण्डित सबा में बैठे होते, उनमें से कितने ही सभारूपी सागर में क्षोभ उत्पन्न होने पर उसे रोकने के लिए सेतुबन्ध के समान होते थे, कितने ही पक्षपात न हो इसके लिए तुलादण्ड के समान होते थे, कितने ही कुमार्ग में चलने वाले वादी रूपी हाथियों को वश में करने के लिए उत्तम अंकुश के समान होते थे और कितने ही श्रेष्ठ तत्तव की खोज करने के लिए कसौटी के पत्थर के समान होते थे। ये सब विद्वान जब यथायोग्य आसनों पर बैठ जाते तब ज्ञान और अवस्था में वृद्ध लोग राजा से वादी और प्रतिवादी के विवाद की चर्चा कर न्यायमार्ग के वेत्ता होने के कारण राजा से न्याय की मांग करते थे[19]। राजा की अध्यक्षता में सब विद्वानों के आगे वादी और प्रतिवादी जय और पराजय को प्राप्त करते थे[20]। सबसे पहले पूर्वपक्ष रखा जाता था[21]। पूर्वपक्षी जब अपना पक्ष रखकर चुप हो जाता तो उत्तरपक्षी उसका निराकरण करने के लिए अपने पक्ष की पुष्टि में युक्तियाँ उपस्थित करता था[22]।

सभा में बैठे हुए परीक्षक जब सही बात समझ लेते थे तो वे सिर हिला हिलाकर तथा अपनी-अपनी अंगुलियाँ चटखाकर सही पक्ष रखने वाले को धन्यवाद देते थे[23]। पश्चात् शिष्टजन राजा से निर्णय की प्रार्थना करते थे, तब राजा निर्णय देता था[24]। सामान्यत: राजा ठीक निर्णय देता था। यदि सब कुछ समझते हुए भी राजा अनुचित निर्णय देता था तो सब लोग उसकी निन्दा करते ते और उसे दैवीय प्रकोप का भी सामना करना पड़ता था। राजा वसु का नारद पर्वत संवाद में अनुचित निर्णय देने के कारण यही हाल हुआ[25]। तत्ववादी, गम्भीर एवं वादियों की परास्त करने वाले को लोग ब्रह्मरथ पर सवार करते थे और उसका सम्मान कर यथास्थान चले जाते थे[26]।

राजसभा - आदिपुराण के पंचम पर्व से राजसभा की एक झलक प्राप्त होती है, तदनुसार राजसभा में राजा सिंहासन पर बैठता था। अनेक वारांगनायें उस पर चँवर ढोरती थीं[27]। मंत्री, सेनापति, पुरोहित सेठ तथा अन्य अधिकारी राजा को घेरकर बैठते थे। राजा किसी के साथ हंसकर, किसी के साथ सम्भाषण कर, किसी को सम्मान देकर, किसी को स्थान देकर, किसी को दान देकर, किसी का सम्मान कर और किसी को आदरसहित देखकर सन्तुष्ट करता था। गन्धर्वादि (संगीतादि) कलाओं का जानकार राजा विद्वान् पुरुषों की गोष्ठी का बार-बार अनुभव करता जाता था तथा श्रोताओं के समक्ष कलाविद पुरुष परस्पर में जो स्पर्धा करते थे, उसे भी देखते जाते थे। इसी बीच राजा सामन्तों द्वारा भेजे हुए दूतों को द्वारपालों के हाथ बुलाकर बार-बार सत्कार करता था तथा अन्य देश के राजाओं के प्रतिष्ठित पुरुषों (महत्तरों) द्वारा लाई गई भेंट को देखकर उनका भी सम्मान करता था। इस प्रकार राजसभा में राजा मन्त्रिवर्ग के साथ्स स्वेच्छानुसार बैठता था[28]।

मन्त्रियों में से जो सम्यग्दृष्टि, व्रती, गुण और शील से शोभित, मन, वचन, काय का सरल, गुरुभक्त, शास्त्रों का वेत्ता, अत्यन्त बुद्धिमान, उत्कृष्ट श्रावकों (गृहस्थों) के योग्य गुणों से शोभायमान और महात्मा होता था, राजा उसकी प्रशंसा कर उसके वचन को स्वीकार करता था[29] ।

वाद-विवाद में प्रमाण - यथार्थ अनुभव (भुक्ति) सच्चे गवाही (साक्षी) और सच्चालेख (शासन) इन प्रमाणों से वाद विवाद की सत्यता का निर्णय होता है[30] । जहाँ पर सदोष अनुभव, झूठे गवाही और झूठें लेख वर्तमान होते हैं, वहाँ विवाद का अन्त नहीं आता है[31] । पूर्वोक्त अनुभव व साक्षी आदि जब (सभ्यों द्वारा बलात्कार व अन्यायपूर्वक एवं राजकीय शक्ति की सामर्थ्य से उपयोग में लाए जाते हैं, तब वे प्रमाण नहीं माने जाते हैं[32]। यद्यपि वेश्या और जुआरी झूठें होते हैं, परन्तु न्यायालय में उनके द्वारा कही हुई बात भी उक्त अनुभव, साक्षी आदि द्वारा निर्णय किए जाने पर प्रमाण मानी जाती है[33] । धरोहर (नीवी) के नष्ट होने पर जो विवाद हो उसे या तो धरोहर रखने वाले पुरुष की प्रमाणता अथवा दिव्यक्रियाओं के द्वारा निर्णय करना चाहिए[34] । जब मुकदमे में जिस किसी प्रकार का व्यक्ति होता है तब शपथ कराकर सत्य का निर्णय करना व्यर्थ है । इसी प्रकार उभयसम्मत या नीच व्यक्ति द्वारा भी शपथ कराना व्यर्थ है[35] । दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करने वाले अपराधी का निर्णय करने के लिए साक्षी के अभाव में न्यायाधीश को दिव्य क्रिया (शपथ आदि) उपाय काम में लाना चाहिए[36] । जो व्यक्ति शपथ आदि कूटनीति से निर्दोष होने पर पुनः चोरी आदि का अपराधी सिद्ध हो उसका सब धन हरण कर प्राणदान देना चाहिए[37] । सन्यासी के वेष में रहने वाले, नास्तिक, अपने आचार से पतित व्यक्तियों से शपथ न खिलाकर युक्तियों के द्वारा उनके अपराध वगैरह की परीक्षा कर दण्ड देना चाहिए या छोड़ देना चाहिए[38]। यदि वादी के पत्र व साक्षी संदिग्ध हों तो अच्छी प्रकार सोच समझकर निर्णय देना चाहिए[39] । वाद-विवाद के निर्णयार्थ ब्रह्मामणों को सोना व यज्ञपवीत छूने की, क्षत्रियों को शस्त्र, रत्न, पृथिवी, हाथी, घोड़े आदि वाहन और पलाण की, वैश्यों को कर्ण, बच्चा, कौड़ी, रुपया - पैसा, व सोने के स्पर्श की, शूद्रों को दूध, बीज व सांप की बामी छूने की तथा (धोबी चमार आदि) कास शूद्रों को उनके जीविकोपयोगी उपकरणों की शपथ करानी चाहिए[40] । इसी प्रकार व्रती व अन्य पुरुषों की शुद्धि उनके इष्टदेवता के चरणस्पर्श से व प्रदिषणा कराने से तथा धन, चावल व तराजू को लाँघने से होती है। व्याधों से धनुष लाँघने की और (चाण्डाल, चमार आदि) अन्त्यवर्ण से गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ खिलानी चाहिए[41] ।

पराजित के लक्षण - जो वाद-विवाद करके सभा में न आए, बुलाए जाने पर जो सभा में उपस्थित न हो, पहले कही हुई बात को बाद में कही हुई बात से बाधित करता हो, पूर्व में कहे हुए अपने वचनों पर प्रश्न पूछे जाने पर यथोचित उत्तर न दे सकता हो, अपनी गलती पर ध्यान न देकर प्रतिवादी को ही दोषी बताता हो तथा यथार्थ कहने पर सभा से द्वेष करता है उसे समझना चाहिए कि वह (वादी या साक्षी) वाद विवाद में हार गया है[42] ।

दण्ड की आवश्यकता - अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना दण्डनीति है[43] । राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा करने के लिए अपराधियों को दण्ड दिया जाता है, धन प्राप्ति के लिए नहीं[44] । यदि अपराधियों पर दण्ड प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय तो प्रजा में मत्स्यन्याय (बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली का खाया जाना उत्पन्न हो जायेगा[45]। जिस प्रकारकठिनाई से चढ़ने

योग्य वृक्ष पर दण्ड का प्रहार किया जाय तो फलदायक होता है, उसी प्रकार नीच प्रकृति का मनुष्य भी दण्डित किए जाने पर वश में आता है[46]। अधिक दोष वाले व्यक्तियों का विनाश राजा को क्षणभर के लिए दु:खदाई होता है, परन्तु यह उसका उपकार ही समझना चाहिए[47]। (क्योंकि इससे राज्य की श्रीवृद्धि होती है)।

दण्डनीति का उद्देश्य – प्रजा के योग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) की व्यवस्था के लिए दण्डनीति की आवश्यकता पड़ती है[48] और यही उसका उद्देश्य है।

दण्डनीति का प्रारम्भिक इतिहास – सर्वप्रथम इस पृथ्वी के विशिष्ट पुरुष (कुलकर) हुए। उनमें से प्रथम पाँच कुलकरों ने अपराधी पुरुषों के लिए हा, उनके आगे के पाँच कुलकरों ने हा और मा तथा शेष कुलकरों ने हा, मा और धिक इन तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की[49]। यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा का लङ्घन करने की इच्छा करता था तो उसके साथ दोषों के अनुरूप उक्त तीन नीतियों का प्रयोग किया जाता था। तीन नीतियों से नियन्त्रण को प्राप्त समस्त मनुष्य इस भय से त्रस्त रहते थे कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाय और इसी भय से वे दूर रहते थे[50]। इस प्रकार की नीति अपनाने के कारण ये राजा प्रजा के तुल्य माने जाते थे[51]। बाद में प्रजा की मनोवृत्ति बदलने के कारण अपराधों में बढ़ोत्तरी होती गई, फलत: दण्डविधान भी कठोर बना। भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे अत: उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देने की रीति चलाई[52]। उनका विचार था कि बड़ा पुत्र भी यदि सदोष (अपराधी) हो तो राजा को उसे भी दण्ड देना चाहिए[53]।

दण्ड और उसके भेद – दण्ड का यह नियम है कि न तो अधिक कठोर हो और न अत्यन्त नम्र। कठोर दण्ड देने वाला राजा अपनी प्रजा को और अधिक उद्विग्न कर देता है। प्रजा ऐसे राजा को छोड़ देती है और प्रकृतिजन भी ऐसे राजा से विरक्त हो जाते हैं[54]। ऐसे अपराध जिनमें प्रजा के नैतिक पतन की अधिक सम्भावना, हो, होने पर अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था। धरोहर को छिपाने पर जीभ उखाड़ी जाती थी[55]। बहुमूल्य वस्तुओं को चुराने पर शूली पर चढ़ाने का दण्ड दिया जाता था[56]। निकट सम्बन्धी की पुत्री से व्यभिचार करने वाले व्यक्ति के अंग काट दिए जाते थे[57]। यदि कोई रानी किसी नौकर के साथ फँस जाती थी तो उसे मारकर जला दिया जाता था[58]। लोभवश किसी को मार डालने की सजा देश निकाला थी[59]। राजा की घोषणा के बाद भी यदि कोई मेढ़ा आदि पशु मारकर खा लेता था तो उसके हाथ काटकर उसे विष्टा खिलाई जाती थी[60]।

जुए में जीते गये धन को यदि कोई व्यक्ति देने में असमर्थ रहता था तो जीतने वाला उसे दुर्गन्धित धुयें के बीच बैठाना आदि दण्ड दे सकता था[61]। परस्त्री सेवन करने वाले व्यक्ति को मार दिया जाता था[62]। दूसरे की वस्तु ले जाकर न लौटाने की भी यही सजा थी[63]। चोरी का धन लेने की तीन सजायें[64] थीं –

(1) मिट्टी की तीन थाली भरकर विष्टा अथवा गोबर खिलाना।

(2) मल्लों के मुक्को से पिटवाना।

(3) सब धन छीन लेना।

एक राजा दूसरे राजा को दण्डस्वरूप बन्धनगार[65] (कारागृह) में बन्दी रखता था, जिससे छुटकारे का उसके स्वजन प्रयत्न करते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी पशु के अंग का छेदन करता था तो राजा उस व्यक्ति को मारने की आज्ञा देने में[66] संकोच नहीं करता था। परस्त्री का अपहरण करने वाले की सजा पाँव काटकर भंयकर शारीरिक दण्ड देने की थी[67]।

राजा अपने पुत्र को भी अपराधानुरूप दण्ड दे, क्योंकि राजा किसी का मित्र नहीं होता है[68]। राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा के गुण व दोषों की तराजू की दण्डी के समान निष्पक्ष भाव से जाँच करने के उपरान्त ही उन्हें गुरु अथवा लघु समझे[69]। समस्त प्रयोजनों को एक नजर से देखने वाला राजा अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड देकर उनके फल का अनुभव कराता है[70]। जो राजा शक्तिशाली होकर अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड न देकर क्षमा धारण करता है, उसका तिस्कार होता है[71]। अपराधियों का निग्रह करने वाले राजा से सभी लोग नाश की आशंका करते हुए सूर्य के समान डरते हैं[72]। राजा को अपनी बुद्धि और पौरुष के गर्व के कारण एकमत रखने वाले उत्तमसमूह को दण्ड नहीं देना चाहिए। एक ही मत रखने वाले सौ या हजार आदमी दण्ड के अयोग्य होते हैं[73]। जो शत्रु दण्डसाध्य है उसके लिए अन्य उपायों का प्रयोग करना अग्नि में आहुति देने के समान है[74]। जिस प्रकार यन्त्र, शस्त्र, अग्नि, व क्षारचिकित्सा द्वारा नष्ट होने योग्य व्याधि अन्य औषध्रि द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दण्ड द्वारा वश में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य उपाय द्वारा वश में नहीं किया जा सकता है, जिस प्रकार साँप की दाढ़ें निकाल देने पर वह रस्सी के समान शक्तिहीन हो जाता है, उसी प्रकार जिसका धन व सैन्य नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु भी शक्तिहीन हो जाता है[75]।

प्रशासन की स्थिति - सातवीं से दशवीं शताब्दी के जैन साहित्य में प्रमुख रूप से राजतन्त्रात्मक शासन के दर्शन होते हैं। इस शासन प्रणाली में यद्यपि राजा सर्वोपरि था, किन्तु जनता की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए वह सदैव सचेष्ट रहता था। उसके राज्य में अन्याय नहीं होता था[76]। राजा की यह भावना रहती थी कि उसके राज्य में गोधनादि सम्पत्ति की वृद्धि तथा सुभिक्ष हो, जनता की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति ऐसी हो कि वे सदा ही उत्सव, भोग आदि मना सकें, गुणोजनों की कीर्ति चिरकाल तक पृथ्वी पर विद्यमान रहे तथा समस्त दोषों का नाश हो। राजा स्वयं शत्रुओं को जीतने में समर्थ, जिनधर्म का अनुयायी तथा न्यायमार्ग के अनुसार प्रजा का पालन करने वाला हो[77]। इस प्रकार की भावना से युक्त राजा के राज्य की शोभा देखते ही बनती थी। छोटी-छोटी ग्वालों की बस्तियाँ ग्रामों की समानता धारण करती थीं और ग्राम नगर के तुल्य हो जाते थे और नगर का तो कहना ही क्या, वे अपनी सम्पन्नता के कारण इन्द्र की अलकापुरी का भी उपहास करते थे[78]। ऐसे नगर सब प्रकार के उपद्रवों से रहित होते थे, किसी अनुचित भय को वहाँ स्थान न होता था। दोषों में फँसने की वहाँ आशंका नहीं होती थी। वहाँ पर सदा ही दान महोत्सव, मान सत्कार तथा विविध उत्सव चलते रहते थे। भोगों की प्रचुर सामग्री वहाँ विद्यमान रहती थी, सम्पत्ति की कोई सीमा नहीं होती थी। इस प्रकार वहाँ के निवासी अपने को कृतार्थ मानते थे[79]।

राज्य शासन करने वाले व्यक्ति को बड़े उत्तरदायित्व का पालन करना पड़ता था। अत: कभी-कभी विरक्ति का भी कारण हो जाता था। एक स्थान पर कहा गया है कि राज्य अनेक

दुःखों का कारण है, इससे चित्त सदा आकुल रहता है, यह शोक का मूल है, वैरों का निवास है। तथा हजारों क्लेशों का मूल है। अन्त में इसका फल तुमड़ी के समान तिक्त होता है। बड़े-बड़े राज्यों की धुरा को धारण करने वालों की भी दुर्गति होती है[60]। गद्यचिन्तामणि से ज्ञात होता है कि दुर्बल राजा के होने पर चोर लुटेरों वगैरह का भय हो जाता था। व्याधादि जंगली जातियाँ समीपवर्ती ग्रामों वगैरह से गोधनादि सम्पत्ति लेकर भाग जाती थीं, अथवा सेना द्वारा मुकाबला करती थीं, पराक्रमी राजा ही इनको दबाने में समर्थ होता था और दुःखी प्रजा ऐसे ही राजा का स्मरण करती थी[61]।

प्रशासन की सुव्यवस्था हेतु राजकीय कर्त्तव्य - राजा को चाहिए कि वह अपने वंश के सब लोगों के साथ राज्य का विभाग कर-उपभोग करे। ऐसा करने पर परिवार वाले उसके शत्रु (सहज शत्रु) नहीं रहेंगे[62] और वह अखण्ड रूप से चिरकाल तक अपनी राजलक्ष्मी का उपभोग करेगा। सज्जनों की दृष्टि में लक्ष्मी सर्वसाधारण के योग्य है[63]। राजा के राज्य में कोई मूलहर (मूल पूँजी को खाने वाला), कदर्य (कृपण) और तारात्विक (भविष्यत् का विचार न रख वर्तमान में ही मौज उड़ाने वाला) न हो, किन्तु सभी सदव्यय करने वाले हों[64]। जिसके पुण्य के उदय से वस्तुयें प्रतिदिन बढ़ती रहें उसका तादात्विक (वर्तमान की ओर दृष्विट रखकर जो कुछ कमाता है, उसे खर्च करना) रहना ही उचित है[65]। राजा को चाहिए कि उसके पार्श्ववर्ती (समीवपर्ती) लोग घूसखोर न हों। यदि पार्श्ववर्ती रिश्वत खोर हों तो दूसरे व्यक्ति वेष बदलकर घुसपैठ कर सकते हैं। राजा श्रेणिक ने चेटक के समीपवर्ती लोगों को घूस दे, उन्हें वश में कर स्वयं वोद्रक नामक व्यापारी बनकर चेटक के घर में प्रवेश कर लिया था[66]।

ग्राम्य संगठन - ग्राम में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी समान अनुपात में रहना चाहिए। विशेषकर ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों की अधिकता होना ग्राम के लिए अच्छा नहीं माना जाता है। जिन ग्रामों में क्षत्रिय अधिक होते हैं, वहाँ वे थोड़ी सी बाधा होने पर आपस में लड़ाई झगड़ा करते हैं[67]। ब्राह्मण चूँकि अधिक लोभी होते हैं, अतः राजा के कर वगैरह को प्राण जाने पर भी बिना दण्ड के शान्ति से नहीं देते हैं[68]।

ग्रामीण एवं नागरिक शासन पद्धति - आदिपुराण में ग्रामीण शासन पद्धति के दर्शन होते हैं। ग्रामीण पद्धति का अर्थ यह है कि प्रत्येक बड़ा गाँव राष्ट्र का अंग समझा जाता था और उसी की सुव्यवथा के समस्त राज्य या राष्ट्र की सुव्यवस्था समझी जाती थी। ग्राम सम्बन्धी शासन के लिए राजा निम्न कार्य[69] करता था -

(1) गाँव बसाना। (2) उपभोक्ताओं के योग्य नियम बनाना।
(3) बेगार लेना। (4) अपराधियों को दण्ड देना।
(5) जनता से राजस्व या अन्य कर वसूल करना।

गाँव को आदर्श बनाने के लिए राज्य की ओर से सभी प्रकार की सुव्यवस्थायें प्रचलित थीं। प्रत्येक गाँव का एक मुखिया रहता था[70], जो गाँव की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था और उत्पन्न हुई कठिन समस्याओं को दण्ड धर्माधिकारी अथवा अन्य पदाधिकारियों से निवेदन करता था। दण्डाधिकारी के अतिरिक्त शासन व्यवस्था में स्वयं राजा सम्मिलित होता

था और गूढ़ समस्याओं एवं भंयकर अपराधों की स्वयं छानबीन करता था। प्रशासन की इकाई गाँव के रहने पर भी नागरिक प्रशासन कमजोर नहीं था। राजा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए दूत एवं गुप्तचर नियुक्त करता था[91]। नगर के रक्षक को पुररक्षक[92] कहा जाता था। नगर के शासन के लिए पौर नामक सुगठित संस्थायें थीं, जिनका उल्लेख चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

पुलिस व्यवस्था - आदिपुराण में पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी के लिए तलवर शब्द का प्रयोग हुआ है। चोर, डकैत एवं इसी प्रकार के अन्य अपराधियों को पकड़ने के लिए आरक्षी नियुक्त रहते थे। तलवर का पयार्यवाची आरक्षिण[93] शब्द आया है। कतिपय राजकर्मचारी उत्कोच (घूस) भी ग्रहण करते थे। वे उत्कोच (घूस) लेकर अपराधी को छोड़ देते थे। राजा उनका पता चलने पर यथेष्ट दण्ड देता था[94]। आदिपुराण के एक उपाख्यान[95] में बतलाया गया है कि फल्गुमती ने राजा के शयनाध्यक्ष को धन देकर अपने वश में कर लिया और कहाँ कि तुम रात के समय देवता की तरह तिरोहित होकर कहना कि हे राजन्! कुबेर मित्र पिता के समान पूज्य है, अतः उन्हें अपने पास नहीं रखना चाहिए, आवश्यकता पड़ने पर ही बुलाना चाहिए। पहरेदार ने फल्गुमती के कथन का अनुसरण किया, जिससे राजा ने कुबेरमित्र को अपने यहाँ से हटा दिया। पर आगे चलकर घूसखोरी की बात प्रकट हो गई, जिससे शयनाध्यक्ष को दण्ड भोगना पड़ा[96]।

प्रान्तीय शासन पद्धति - प्रान्त को मण्डल कहा जाता था। मण्डल का शासन महामाण्डलिक अथवा माण्डलिक करते थे। इनके विषय में तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है।

फुटनोट

1. उत्तरपुराण 67/109-111
2. वही 50/4
3. नीतिवाक्यामृत 28/25
4. वही 28/22
5. वही 28/23-28
6. वही 28/21
7. वही 28/3
8. नीतिवाक्यामृत 28/5
9. वही 28/8
10. वही 28/6
11. वही 28/13
12. हरिवंशपुराण 5/411-415
13. हरिवंशपुराण 5/417-419
14. वही 41/30
15. वही 41/30
16. वही 17/82
17. वही 17/83-84
18. हरिवंशपुराण 17/85-87
19. वही 17/88-97
20. वही 17/96
21. वही 17/98-112
22. वही 17/113-145
23. वही 17/146-147
24. वही 5/148-150
25. वही 5/151-155
26. वही 5/156
27. आदिपुराण 5/2-3
28. वही 5/7-12
29. वही 5/158-160
30. नीतिवाक्यामृत 28/9
31. वही 28/10
32. वही 28/11
33. वही 28/12
34. वही 28/14

35. नीतिवाक्यामृत 28/15
36. वही 28/16
37. वही 28/17
38. वही 28/18-19
39. वही 28/20
40. वही 28/31-35
41. वही 28/36-38
42. वही 28/7
43. वही 9/2
44. वही 9/3
45. वही 9/7
46. नीतिवाक्यामृत 10/132
47. वही 10/163
48. वही 16/250
49. आदिपुराण 3/214-215 हरिवंशपुराण 7/140-141
50. हरिवंशपुराण 7/142-143
51. वही 7/176
52. आदिपुराण 3/216
53. वही 45/63
54. आदिपुराण 42/142
55. वही 46/274-275
56. वही 46/275-276
57. वही 46/276-274
58. वही 47/109
59. वही 46/277-278
60. वही 46/280-281
61. वही 46/278-279
62. वही 46/321
63. वही 46/31
64. हरि. 27/41, 46/292-293
65. वही 25/71
66. वही 28/26-27
67. वही 43/180-182
68. नीतिवाक्यामृत 26/64
69. वही 28/1
70. वही 28/2
71. नीतिवाक्यामृत 29/89
72. वही 29/90
73. वही 29/96
74. वही 30/39
75. वही 30/41
76. वरांगचरित 28/16
77. वरांगचरित 23/98-99
78. वरांगचरित 21/47
79. वही 21/45
80. वरांगचरित 29/23-24
81. गद्यचरित द्वितीय लम्भ
82. उत्तरपुराण 62/450
83. वही 55/9
84. वही 54/116
85. वही 62/379
86. उत्तरपुराण 75/28-29
87. नीतिवाक्यामृत 19/11
88. वही 19/12
89. आदिपुराण 16/168
90. वही 29/123
91. डॉ. नेमीचन्द शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 360
92. आदिपुराण 46/277
93. आदिपुराण 46/291
94. वही 46/296
95. वही 46/52-56
96. डॉ. नेमीचन्द शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 362

❑❑❑

दशम अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

दूत और उसका महत्त्व - एक राजा दूसरे राजा के पास सन्देश भेजने का लिए साम, दाम आदि नीति के साथ दूत भेजता[1] था। प्रत्युत्तर स्वरूप भी राजा दूसरे राजा के पास दूत भेजा करते थे। जैसे भरत के प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट करने के लिए बाहुबली ने 'मैं आपके आधीन नहीं हूँ,' यह कहकर दूत भेज दिए थे[2]। दूत के लिए 'वचोहर[3]' अथवा 'वचनहर[4]' शब्द का प्रयोग होता था। कन्या के पिता अपनी कन्या के विवाह सम्बन्ध के लिए भी दूसरे राजा के पास दूत भेजते थे[5]। दूत सावधानी से परिषद अथवा राजसभा में प्रविष्ट हो नमस्कार कर बैठता था, अनन्तर अवसर जानकर अपनी बात राजा के समक्ष रखता था[6]। गद्यचिन्तामणि के द्वितीय लम्भ में बाण की दूत के रूप में सम्भावना कर उसे कान में बात कहने वाला तथा हृदय के भेदने में चतुर व्यंजित किया गया है[7]। दूत का पद बहुत महत्त्वपूर्ण और कठिन था। मित्र राजाओं के यहाँ उन्हें धन्यवाद, दान और सम्मान[8] की प्राप्ति होती थी और विरोधी राजाओं के यहाँ तिरस्कार मिलता था। दूसरे स्थान पर तो कभी-कभी उन्हें कहना पड़ता था कि हम लोग तो केवल स्वामी का समाचार ले जाने वाले दूत (वचोहर) हैं, सदा स्वामी के अभिप्राय के अनुसार चलते हैं तथा गुण और दोषों का विचार करने में असमर्थ हैं[9]। दूत प्रारम्भ में साम दाम आदि के वचन ही कहता था, किन्तु विरोधी राजा को अशान्त जानकर लौट आता था और सब समाचार अपने स्वामी से निवेदन करता था[10]। दूसरे राजा को अनुकूल करने के लिए चित्त का हरण करने वाला[11] तथा दूसरे के साथ विग्रह करने के लिए कलहप्रिय तथा दुर्वचन बोलने वाला[12] दूत भेजा जाता था। दूत राजाओं के मुख होते थे[13]।

दूत का लक्षण - जो अधिकारी दूरदेशवर्ती राजकीय कार्य का साधक होने के कारण मन्त्री के समान होता है, उसे दूत कहते हैं[14]।

दूत के गुण - दूत को शास्त्रज्ञान में निपुण, राजकर्त्तव्य में कुशल, लोकव्यवहार का ज्ञाता, गुणों में स्नेह रखने वाला[15], संकेत के अनुसार अभिप्राय को जानने वाला[16] तथा स्वामी के कार्य में अनुरक्त बुद्धि वाला होना चाहिए[17]। अपने पक्ष की सम्पत्ति और दूसरे पक्ष की विपत्ति का विचार करना, अपने मन्त्र को छिपाकर रखना, दूसरे मन्त्रियों के द्वारा नहीं फोड़ा जाना, मन्त्रभेद के भय से एकान्तस्थान में गुप्तरीति से शयन करना, युद्ध करने तथा युद्ध स्थल से निकलने के स्थानों को देखना[18], विशेष स्थिति में युद्ध न होने का उद्योग करना[19] तथा कार्य को जानना[20] दूत के विशेष गुण हैं। नीतिवाक्यामृत के अनुसार दूत के निम्नलिखित[21] गुण हैं -

1. स्वामिभक्ति। 2. अव्यसनी होना।
3. दक्षता। 4. पवित्रता।
5. विद्वत्ता। 6. उदारता।
7. सहिष्णुता। 8. शत्रु के रहस्य का ज्ञाता होना।

दूतों की योग्यतायें - दूत को निष्कपट, शिष्ट, कीर्ति और प्रताप का इच्छुक, उत्कृष्ट नीति

का ज्ञाता तथा प्रिय वेषधारी होना चाहिए। दूत को ऐसे वचनों का प्रयोग करना चाहिए, जिनसे जो बात कहना हो वह भी न छूटे और वह अशिष्ट रीति से न कही जाय[22]। दूत विविध भाषाओं, लिपियों और वेषों के ज्ञाता गुप्तचरों द्वारा प्रजा की उदासीनता वगैरह को भांपकर अपने कर्त्तव्य का निश्चय करें[23]। वह सब कार्यों को करने में समर्थ, भविष्यत को जानने वाला तथा प्रसिद्ध पराक्रमी हो[24]। लोभी दूत का अन्तरंग स्वभाव (चेतना) खंडित हो जाता है, वह किसी प्रकार से ही जीता है।

लोभवश दूतों के शत्रु के वश में हो जाने पर तथा अपनी प्रकृति के विरूद्ध हो जाने पर राजा का राज्य भी उसके शरीर में सीमित हो जाता है[25]।

दूतों के भेद - दूत तीन प्रकार के होते हैं - (1) निसृष्टार्थ (2) परिमितार्थ (3) शासनहार।

निसृष्टार्थ - स्वामी के कान के पास रहने वाले, रहस्य रक्षा करने वाला, सुनियोजित, पत्र लेकर जल्दी जाने वाला, मार्ग में सीधे जाने वाला, शत्रुओं के हृदय में प्रवेश कर कठिन से कठिन कार्य को सिद्ध करने वाला[26] तथा विवेकी बुद्धि वाला[27] दूत निसृष्टार्थ कहलाता है। आचार्य सोमदेव के अनुसार जिसके द्वारा निश्चित किए हुए सन्धि विग्रह को उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह निसृष्टार्थ है। जैसे पाण्डवों के कृष्ण[28]।

परिमितार्थ या मितार्थ - परिमित समाचार सुनाने वाले[29] अथवा राजा द्वारा भेजे हुए सन्देश और लेख को जैसा का तैसा शत्रु को कहने वाला[30] दूत परिमितार्थ या मितार्थ कहलाता है।

शासनहारी - उपहार के भीतर रखे हुए पत्र को ले जाने वाले दूत को शासनहारी कहा जाता है[31]।

दूतों का कार्य - दूत का कार्य बड़ा साहसपूर्ण था। स्वामी के अभिप्राय के अनुसार उसे शत्रु पक्ष से निवेदन करना पड़ता था। इतना होते हुए भी दूत अवध्य था[32]। रावण के धृष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने वाले दूत पर ज्यों ही भामण्डल ने तलवार उठाई, त्यों ही नीतिवान् लक्ष्मण ने उसे रोक लिया[33]। यहाँ पर लक्ष्मण कहते हैं कि प्रतिध्वनियों पर, लकड़ी के बने पुरुषाकार पुतलों पर, सुआ आदि तिर्यंचों पर और यन्त्र से चलने वाली पुरुषाकार पुतलियों पर सत्पुरुषों को क्या क्रोध करना है[34]? ऐसे ही एक स्थल पर दूत के प्रति कहा गया है - जिसने अपना शरीर बेच दिया है और तोते के समान कही बात को ही दुहराता है ऐसे दूत पापी, दीनहीन भृत्य का अपराध क्या है[35]? दूत जो बोलते हैं, पिशाच की तरह अपने हृदय में विद्यमान अपने स्वामी से ही प्रेरणा पाकर बोलते हैं। दूत यन्त्रमयी पुरुष के समान पराधीन है[36]।

दूत शत्रु द्वारा अज्ञात होकर उसकी आज्ञा के बिना न तो शत्रुस्थान में प्रविष्ट हो और न वहाँ से निकले37। जब दूत को यह निश्चय हो जाय कि यह शत्रु मेरे स्वामी से सन्धि नहीं करेगा, किन्तु युद्ध करने का इच्छुक है और इसी कारण मुझे यहाँ रोक रहा है, तब उसे शत्रु की आज्ञा के बिना ही वहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए या स्वामी के पास गुप्तदूत भेज देना चाहिए[38]। यदि शत्रु ने दूत को देखकर ही वापिस लौटा दिया हो तो दूत उसका कारण सोचे[39]। दूत शत्रु के यहाँ ठहरकर निम्नलिखित[40] कार्य करे।

1. नैतिक उपाय द्वारा शत्रुकार्य-सैनिक संगठन आदि को नष्ट करना ।

2. राजनैतिक उपाय द्वारा शत्रु का अनर्थ करना - शत्रु विरोधी क्रुद्ध, लुब्ध, भयभीत और अभिमानी पुरुषों को सामदानादि द्वारा वश में करना ।

3. शत्रु के पुत्र, कुटुम्बी व जेल में बन्द मनुष्यों में द्रव्यदानादि द्वारा भेद उत्पन्न करना ।

4. शत्रु द्वारा अपने देश में भेजे हुए गुप्तचरों का ज्ञान ।

5. सीमाधिप, आटविक, कोश, देश, सैन्य और मित्रों की परीक्षा ।

6. शत्रु राजा के यहाँ वर्तमान कन्यारत्न तथा हाथी, घोड़े आदि वाहनों को निकालने का प्रयत्न ।

7. शत्रु प्रकृति (मंत्री, सेनाध्यक्ष आदि) में गुप्तचरों के प्रयोग द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना ।

दूत शत्रु के मन्त्री, पुरोहित तथा सेनापति के समीपवर्ती पुरुषों का धनदान द्वारा अपने में विश्वास उत्पन्न कराकर शत्रु हृदय की गुप्त बात का निश्चय करें[41] । वह शत्रु के प्रति स्वयं कठोरवचन न कहकर उसके कहे हुए कठोरवचन सहन करे[42] । जब दूत शत्रुमुख से अपने गुरू व स्वामी की निन्दा सुने तब उसे शान्त नहीं रहकर उसका प्रतीकार करना चाहिए[43] । दूत को निरर्थक विलम्ब नहीं करना चाहिए । जो मनुष्य स्थित होकर भी किसी प्रयोजनसिद्धि के लिए देशान्तर में गमन करने का इच्छुक है, यदि वह रूक जाता है तो इससे उसके प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं[44]।

दूतों से सुरक्षा - (विजिगीषु को) स्वयं बहादुर सैनिकों से घिरा रहकर और शत्रुदेश से आए हुए दूतों को भी शूरपुरुषों के मध्य रखकर उनसे बातचीत करना चाहिए[45] । सुना जाता है कि चाणक्य ने तीक्ष्णदूत (विषकन्या) के प्रयोग द्वारा नन्द को मार डाला था[46]।

शत्रुप्रेषित लेख तथा उपहार के विषय में राजकर्त्तव्य - राजा शत्रु द्वारा भेजे हुए लेख व उपहार आत्मीय जनों से बिना परीक्षा किए स्वीकार न करें[47] । अनुश्रुति है कि करहाट देश के राजा कैटभ ने वसु नाम के राजा को दूत द्वारा भेजे हुए फैलने वाले विष से वासित अद्भुत वस्त्र के उपहार द्वारा मार डाला था[48] । करवाल ने कराल नामक शत्रु को दृष्टिविष सर्प से व्याप्त रत्नों के पिटारे भेंट भेजकर मार डाला ।

दूत के प्रति राजकर्त्तव्य - उठे हुए शस्त्रों के बीच (घोरयुद्ध के बीच) भी राजालोग दूत मुख वाले होते हैं[50] । अतः दूत द्वारा महान् अपराध किए जाने पर (राजा) उसका वध न करें[51]। दूतों में यदि चाण्डाल भी हों तो उनका भी वध नहीं करना चाहिए, उच्चवर्ण वाले ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है[52] ? चूंकि दूत अवध्य होता है, अत: सभी प्रकार के वचन बोलता है[53] । राजा का कर्त्तव्य है कि वह शत्रु राजा के रहस्य को जानने के लिए नीतिज्ञ स्त्रियों, दोनों और से वेतन पाने वाले दूतों तथा दूत के गुण, आचार, स्वभाव से परिचित रहने वाले दूतमित्रों द्वारा वश में करें[54]। कोई भी बुद्धिमान पुरुष दूत द्वारा कहे हुए शत्रु के उत्कर्ष और अपने अपकर्ष को नहीं मानता है[55]।

लेख की प्रमाणता - वचन की अपेक्षा लेख अधिक प्रामाणिक है[56], किन्तु अज्ञात लेख प्रमाणिक नहीं माने जाते हैं[57] । किसी के भी लेख का अनादर नहीं करना चाहिए, राजा लोग लेख को प्रधानता देते हैं, क्योंकि लेख द्वारा ही सन्धि विग्रह व सारे संसार का व्यापार (कार्य) होता है[58] । वक्ता के गुणों की गरिमा के अनुसार उसके वचन का गौरव होता है[59] । (विजिगीषु को) शत्रुराजा के पास भेजे हुए लेखों में चार वेष्टन व उनके ऊपर खड्ग की मुद्रा लगा देना चाहिए[60]।

गुप्तचर और उनका महत्त्व – गुप्तचर स्वदेश, परदेश सम्बन्धी कार्य-अकार्य का ज्ञान करने के लिए राजाओं के नेत्र हैं[61]। पद्मचरित में इन्हें चार कहा गया है[62]। राजा माली के विषय में कथन है कि उसे वेश्या, वाहन, विमान, कन्या, वस्त्र तथा आभूषण आदि जो श्रेष्ठवस्तु गुप्तचरों से मालूम होती थीं, उन सबको शूरवीर माली बलात् अपने यहाँ बुलवा लेता था, क्योंकि विद्या, बल, विभूति आदि से वह अपने आपको श्रेष्ठ मानता था[63]। राजा मम ने गुप्तचरों द्वारा दशानन के महल का पता लगाया था[64]। गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणि के अनुसार बड़ी सावधानी के साथ गुप्तचररूपी नेत्रों को प्रेरित करने वाले जीवन्धर स्वामी शत्रु, मित्र और उदासीन राजाओं के देशों में उनके द्वारा अज्ञात समाचार को भी जान लेते थे[65]। राजा के राज्य कार्य के देखने में गुप्तचर और विचार शक्ति ही नेत्र का काम देती है। नेत्र तो केवल मुख की शोभा और दृश्य के दर्शन के लिए होते हैं[66]। गुप्तचरों के कारण एक स्थान पर स्थित रहता हुआ भी राजा अपने तथा दूसरे राज्य की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता था। इस प्रकार उसकी स्थिति सूर्य और चन्द्रमा से भी विशिष्ट थी। सूर्य सारे संसार का परिभ्रमण कर आताप देता है। चन्द्रमा भी संचार करता हुआ सृष्टि को अपनी चाँदनी से आह्लादित करता है, किन्तु राजा राजधानी में रहता हुआ भी गुप्तचरों द्वारा स्थावर तथा जंगम संसार की पूर्ण जानकारी रखता है और उन पर प्रसाद तथा निग्रह करता है[67]।

गुप्तचरों की नियुक्ति – कृषि के क्षेत्र में किसानों, वाह्य प्रदेश में ग्वालों, जंगलों में भीलों, शहरों में व्यवसायियों, देश की सीमाओं पर योगियों, राजाओं, राजपुत्रों, कुटुम्बियों तथा मंत्रियों में उनके कर्मचारियों तथा अन्तःपुर में बहिरों और कुबड़ों को गुप्तचर बनाया जाता था[68]।

गुप्तचरों के गुण – सन्तोष, अमन्दता (आलस्य का न होना), सत्य भाषण और विचारशक्ति ये गुप्तचरों के गुण हैं[69]।

गुप्तचरों के भेद – गुप्तचर 34 प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ अवस्थायी (अपने ही देश में रहने वाले) और कुछ यायी (बाहर जाने वाले) होते हैं[70]। गुप्तचरों के 34 भेद निम्नलिखित हैं[71]।

छात्र – दूसरे के रहस्य का ज्ञाता गुप्तचर।

कर्पाटक – किसी भी शास्त्र को पढ़कर छात्रवेश में रहने वाला गुप्तचर।

उदास्थित – बहुत से शिष्यों वाला, बुद्धि की तीक्ष्णता से युक्त, राजा द्वारा निश्चित जीविका को प्राप्त गुप्तचर उदास्थित कहलाता है।

गृहपति – कृषक वेष में रहने वाला गुप्तचर गृहपति है।

वैदेहिक – जो गुप्तचर सेठ के वेष में रहता है

तापस – वाह्य व्रत और विद्या के द्वारा ठगने वाला गुप्तचर तापस है।

किरात – जिसके शरीर के अंग छोटे हों, उसे किरात कहते हैं।

यमपट्टिक – प्रत्येक घर में जाकर चित्रपट दिखाने वाला और गला फाड़कर चिल्लाने वाला गुप्तचर यमपट्टिक है।

अहितुण्डिक – सर्पक्रीड़ा में चतुर गुप्चतर अहितुण्डिक है।

शौण्डिक – शराब बेचने वाले के वेष में वर्तमान गुप्तचर।

शौभिक – रात्रि में पर्दा लगाकर रूप प्रदर्शन करने वाला।

पाटच्चर - चोर अथा बन्दी ।

विट - व्यसनी लोगों को उनके अभीष्ट स्थान पर भेजने की जीविका वाला गुप्तचर विट है ।

विदूषक - सभी को हंसाने में चतुर पुरुष विदूषक है ।

पीठमर्द - कामशास्त्र का आचार्य ।

नत्तिक - जो गुप्तचर कमनीय व स्त्री वेष प्रदर्शक वस्त्र (साड़ी आदि) पहनकर नाचने की जीविका करता है अथवा नाटक की रंगभूमि में अभिनयपूर्वक नृत्य करने वाले गुप्तचर को नर्त्तक कहते हैं ।

गायक - जो वेश्याओं के आचरण का उपदेश देता है ।

वादक - गीत सम्बन्धी प्रबन्धों की गतिवि शेषों को बजाने वाले और तत, अवनद्ध, धन, सुमिर रूप चार प्रकार के वाद्य बजाने की कला में प्रवीण गुप्तचर वादक हैं ।

वान्जीवी - जो स्तुतिपाठक या सूत (बन्दी) बनकर राजकीय कार्य सिद्ध करता है ।

गणक - गणितशास्त्र अथवा ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता ।

शाकुतिक - शकुन कहने वाला ।

भिषगृ - आयुर्वेद अथवा शल्यचिकित्सा का ज्ञाता ।

ऐन्द्रजालिक - जो तन्त्रशास्त्र में कही हुई युक्तियों द्वारा मन को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला अथवा मायावी हो, उसे ऐन्द्रजालिक कहते हैं ।

नैमित्तिक - निशाना मारने में प्रवीण अथवा निमित्त शास्त्र का ज्ञाता ।

सूद - पाकविद्या में प्रवीण गुप्तचर ।

आरालिक - अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाने वाले ।

संवाक - अङ्गमर्दन की कला में कुशल अथवा भारवाहक ।

तीक्ष्ण - धन के लोभ में जो कठिनकार्य (हाथी, शेर वगैरह का मुकाबला आदि) करते हों तथा अपने जीवन को भी खतरे में डाल देते हों ऐसे तथा सहनशीलता न रखने वाले गुप्तचर तीक्ष्ण है ।

क्रुर - बन्धु - बान्धवों के स्नेह से रहित ।

रसद - आलसी गुप्तचर ।

जड़, मूक, वधिक और अन्ध ये प्रसिद्ध है ।

गुप्त रहस्य की रक्षा – मनुष्य को प्राणों से भी अधिक गुप्त रहस्य की रक्षा करना चाहिए[72]। निरर्थक व विश्वास करने के अयोग्य दूसरे की गुप्त बात भी नहीं कहना चाहिए[73]। जो पुरुष परस्पर की गुप्त बात प्रकट कर देते हैं वे अपना-अपना ही पराक्रम दिखाते हैं।

गुप्तचर रहित राजा की हानि - (जीतने का इच्छुक) राजा दोनों पक्षों से वेतन पाने वाले गुप्तचरों के स्त्री-पुत्रों को अपने यहाँ सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु देश में भेजे[74], ताकि वे वापिस आकर उसे शत्रु की चेष्टा निवेदन करें । जिस राजा के यहां गुप्तचर नहीं होते, वह स्वदेश और परदेश सम्बन्धी शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होता है[75] । जिस प्रकार द्वारपाल के बिना धनाढ्य का रात्रि में कल्याण नहीं हो सकता[76], इसी प्रकार गुप्तचरों के बिना राजाओं का कल्याण नहीं हो सकता ।

गुप्तचर के वचनों की प्रमाणता – यदि राजा को गुप्तचर की बातों में सन्देह हो जाय तो तीन गुप्तचरों द्वारा कही हुई बात एक सी मिलने पर प्रमाण मान लेना चाहिए[77]।

गुप्त रहस्य प्रकाश की अवधि - महानुभाव दूसरे के प्रयोजन - अप्रयोजन को जानकर अपने हृदय की बात प्रकट करते हैं[78] ।

गुप्तचरों का कर्त्तव्य - जब राजा दूर हो और शत्रु की सेना आ रही हो तो ऐसे अवसर पर जंगल में रहने वाले उसके गुप्तचर धुंआ करना, आग जलाना, धूल उड़ाना अथवा भैसे का सींग फूकना आदि के बहाने उसे शत्रु की सेना के आने का निवेदन करें[79]।

गुप्तचरों का वेतन - कार्य सिद्ध हो जाने पर राजा द्वारा सन्तुष्ट होकर जो प्रचुर धन दिया जाता है, वही गुप्तचरों का वेतन है, क्योंकि उस धनप्राप्ति के लोभ से वे अपने स्वामी की कार्य सिद्धि शीघ्र करते हैं[80] ।

तीन शक्तियाँ - राजा लोग शक्तित्रय अर्थात प्रभु, मन्त्र और उत्साहशक्ति[81] के द्वारा प्रजा के समस्त दु:खों को दूर करने का प्रयत्न करते थे[82] । राजा का राजपना तीनों शक्तियों- प्रभु, मन्त्र और उत्साह से प्रकट होता है[83] । ये राजा की सारभूत सम्पत्तियाँ है, इससे वह समस्त पृथ्वी को कल्पलता के समान बना देता है, जिससे दिन पर दिन राज्य का सुख बढ़ता है[84] ।

मन्त्रशक्ति - ज्ञानबल को मन्त्रशक्ति कहते हैं[85] । बुद्धिशक्तिशारीरक शक्ति से भी श्रेष्ठ मानी जाती है[86] । इसका उदाहरण यह है कि थोड़ी शारीरिक शक्ति रखने वाले खरगोश ने बुद्धिबल से सिंह को मार डाला[87] ।

प्रभुशक्ति - कोश और दण्डबल को प्रभुशक्ति कहते हैं[88] । इसके उदाहरण के रूप में शुद्रक और शक्ति कुमार के दृष्टान्त को लिया जा सकता है[89] । प्रभुशक्ति की सम्पदा से पृथ्वी का पालन करके ही राजा का पृथ्वीपाल नाम सार्थक होता है[90] ।

उत्साह शक्ति - पराक्रम और सैन्यशक्ति को उत्साह शक्ति कहते हैं । इसके उदाहरण श्री रामचन्द्र जी है[91] ।

जो शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की शक्तियों से अधिक होता है, वह श्रेष्ठ है । जो शक्तित्रय से शून्य है, वह जघन्य है, एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु के समान है, वह सम है[92]।

षाड्गुण्य सिद्धान्त - पद्मचरित के षष्ठ पर्व में राजा कुण्डलमझिडत को गुणात्मक: । (गुणों से युक्त) कहकर उसको विशेषता बतलाई गई है । कौटिल्य अर्थशास्त्र में सन्धि, विग्रह यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये षाड्गुण्य अर्थात् छ गुण कहे गए हैं[93] । किन्तु पद्मचरित में सन्धि[94] और विग्रह[95] इन दो गुणों का ही उल्लेख मिलता है । बात व्याधि ऋषि का भी कहना है कि सन्धि और विग्रह ये दो ही मुख्य गुण है, क्योंकि इन्हीं दोनों गुणों से अन्य छह गुण स्वत: उत्पन्न हो जाते हैं[96] । आसन और संश्रय का सन्धि में, यान का विग्रह में और द्वैधीभाव का सन्धि तथा विग्रह दोनों में अन्तर्भाव हो जाता है । द्विसंधान महाकाव्य में शम और व्यायाम को योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) का उद्‌गम कहा है । इन्हीं दोनों के षड्‌गुण निहित हैं[97]। समझदार लोग शत्रुओं के बल की थाह लेकर ही इन छह गुणों में से किसी कर्त्तव्य का निश्चय करते हैं[98] ।

सन्धि - कुछ भेंट आदि देकर[99] अन्य राजा से समझौता करना सन्धि है । जिस प्रकार ग्वाला पशुओं को देखने की इच्छा से आए हुए राजा को धन, सम्पदा वगैरह देकर सन्तुष्ट करता है, उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा राज्य के सम्मुख आए तो वृद्ध लोगों के साथ विचारकर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए । युद्ध बहुत से लोगों के विनाश का कारण है, उसमें

बहुत सी हानियाँ होती है और उसका भविष्य भी बुरा होता है । अत: कुछ देकर बलवान् शुत्र के साथ सन्धि करना ठीक है[100] । उत्तरपुराण के अनुसार युद्ध करने वाले दो राजाओं का पीछे किसी कारण से जो मैत्रीभाव हो जाता है, उसे सन्धि कहते हैं । यह सन्धि दो प्रकार की होती है - अवधिसहित (कुल समय के लिए) और अवधिरहित[101] (सदा के लिए)। नीतिवाक्यामृत के अनुसार दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना सन्धि है[102] । हीनशक्ति वाले राजा को धनादि देकर शत्रु राजा के साथ सन्धि कर लेना चाहिए, यदि उसके द्वारा की हुई व्यवस्था में मर्यादा का उल्लंघन न हो[103] । यदि शत्रु द्वारा भविष्यकालीन अपनी कुशलता का निश्चय हो जाय कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को नष्ट करूंगा, तब उसके साथ विग्रह न कर मित्रता ही करना चाहिए[104] । जब कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और वह भूमिग्रहण करने का इच्छुक हो तो उसे भूमि से पैदा होने वाली धान्य अनित्य (कुछ समय बाद नष्ट होने वाली) है (अत: पैदावार देने में कोई हानि नहीं है) । यदि शत्रु के हाथ में भूमि चली गई तो पुन: प्राप्त नहीं हो सकती है[106]। जिस प्रकार तिरस्कार पूर्वक भी आरोपण किया हुआ वृक्ष पृथ्वी पर अपनी जड़ों के कारण ही फैलता है, उसी प्रकार विजिगीषु द्वारा दी हुई पृथ्वी को प्राप्त करने वाला सीमाधिपति भी दृढ़मूल होकर पुन: उसे नहीं छोड़ता[107]।

विग्रह - शत्रु तथा उसे जीतने का इच्छुक राजा ये दोनों परस्पर में एक दूसरे का अपकार करते हैं, उसे विग्रह कहते हैं[108] । अथवा किसी के द्वारा किए हुए अपराधवश युद्ध करना विग्रह है[109] । यदि विजिगीषु शत्रु राजा से सैन्य व कोष आदि में अधिक शक्तिशाली है और उसकी सेना में क्षोभ नहीं है, तब उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिए[110] ।

यान - अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि होने पर अथवा दोनों होने पर शत्रु के प्रति जो उद्यम (शत्रु पर आक्रमण करने के लिए गमन) है, उसे यान कहते हैं (यह यान अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि रूप फल देने वाला है[111] । राजा यदि सर्वगुण सम्पन्न है एवं उसका राज्य निष्कण्टक है तथा प्रजा आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना ही ठीक है[112] । जो राजा स्वदेश की रक्षा न कर शत्रु के देश पर आक्रमण करता है, उसके कार्य नंगे की पगड़ी धोने के समान निरर्थक है[113] ।

आसन - इस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी दूसरे को नष्ट करने में समर्थ नहीं हूँ, ऐसा विचारकर जो राजा चुप बैठा रहता है, उसे आसन कहते हैं । यह आसन नामक गुण राजाओं की वृद्धि का कारण है[114] । नीतिवाक्यमृत के अनुसार शत्रु के आक्रमण को देखकर उसकी उपेक्षा करना आसान है[115] ।

संश्रय - जिसका कोई शरण नहीं है, उसे अपनी शरण में रखना संश्रय नामक गुण है[116]। आचार्य सोमदेव के अनुसार बलिष्ठ शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होने पर जो उसके प्रति आत्मसमर्पण किया जाता है, उसे संश्रय कहते हैं[117] । यदि शत्रु राजा व्यसनी नहीं है तो शक्तिहीन को उसके सामने समर्पण कर देना चाहिए । ऐसा करने से निर्बल राजा उसी प्रकार शक्तिशाली हो जाता है, जिस प्रकार अनेक तन्तुओं के आश्रय से रस्सी में मजबूती आ जाती है[118] । बलवान का ही आश्रय लेना चाहिए । जो शत्रु के आक्रमण के भय से बलहीन का आश्रय लेता है, उसकी उसी प्रकार हानि होती है, जिस प्रकार हाथी द्वारा होने वाले उपद्रव से डर से एरण्ड के वृक्ष पर चढ़ने वाले मनुष्य की तत्काल हानि होती है[119] । जो स्वयं अस्थिर है वह यदि दूसरे अस्थिर राजा

का आश्रय लेता है तो उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार नदी में बहने वाला दूसरे बहने वाले का आश्रय करने से नष्ट हो जाता है[120]। स्वाभिमानी व्यक्ति को मर जाना अच्छा है, किन्तु पराई इच्छापूर्वक अपने को बेचना अच्छा नहीं है[121]। यदि (राजा का) भविष्य में कल्याण निश्चित हो तो उसे किसी व्यक्ति का आश्रय लेना श्रेयस्कर है[122]। सोमदेव के पूर्ववर्ती आचार्य जिनसेन का कथन है कि यदि सन्धि न की जा सकती हो तो किसी (किले वगैरह) का आश्रय कर लेना चाहिए। ऐसा करने से बड़े शत्रु को भी जीता जा सकता है[123]। अपने स्थान पर रहने वाला क्षुद्र भी बड़ों-बड़ों से बलवान् हो जाता है[124]। सजातीय पुरुष निर्बल होने पर भी किसी बलवान् पुरुष का आश्रय पाकर राजा को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार निर्बल दण्ड कुल्हाड़ी का तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदि को नष्ट कर देता है[125]।

द्वैधीभाव - बलवान् और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किए जाने पर बलिष्ठ के साथ सन्धि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिए[126]। विजय का इच्छुक जब अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ पहिले मित्रता कर लेता है, फिर कुछ समय बाद शत्रु के हीनशक्ति होने पर उसी से युद्ध छेड़ देता है, उसे बुद्धि आश्रित द्वैधीभाव कहते हैं[127]। जब यह ज्ञात हो जाय कि दो शत्रु परस्पर में युद्ध कर रहे हैं तब द्वैधीभाव-बलिष्ठ से सन्धि और निर्बल से युद्ध करना चाहिए[128]।

विजय को इच्छुक राजा को अच्छी तरह प्रयोग में लाए हुए सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों से सिद्धि मिल जाती है[129]। आदि पुराण के 44 वें पर्व में बाणों की उपमा षाड्गुण्य से दी गई है। जिस प्रकार कुछ देर ठहरते हैं जिस प्रकार राजा लोग अपने स्थान से चल देते हैं, उसी प्रकार बाण भी सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों को धारण कर रहे थे। राजा पहले सन्धि करते हैं, उसी प्रकार बाण भी डोरी के साथ सन्धि - मेल करते हैं। राजा अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय ठहरे रहते हैं, उसी प्रकार बाण भी षाड्गुण्य को धारक करने वाला राजासिद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार शत्रु को मारने के लिए धनुष से चल पड़ते हैं। जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभाव को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार बाण भी मध्यस्थ हो द्वैधीभाव को प्राप्त होते हैं अर्थात शत्रु के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। अन्त में राजा जैसे शत्रु को वश में कर लेते हैं, उसी प्रकार बाण भी शत्रु को वश में कर लेते हैं[130]।

उपाय - वरांगचरित में राजा की प्रयोजन सिद्धि के शान्ति (साम), दान, आश्रय, स्थान, भेद तथा दण्ड[130] (अ) में छह तथा अन्य साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार उपाय बतलाए गए हैं। ये उपाय ही परराष्ट्र नीति के प्रमुख आधार है। जो उपाय कुशल क्षेत्र को बढ़ाता हो वही सोचना चाहिए, किन्तु यदि उद्देश्य की सफलता में साधक गति असम्भव हो तब अपने हित तथा उत्कर्ष की कामना करने वाले व्यक्ति को ही मार्ग पकड़ना चाहिए, जिस पर चलकर दूसरों के द्वारा तिरस्कृत होने की आशंका न हो[131]। जिस प्रयत्न में बुद्धि अग्रसर नहीं होती है, वह प्रयत्न कभी सफल नहीं होता[132]। साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायों का यथायोग्य स्थानों में नियोग करना कार्यसिद्धि का कारण है और विपरीत नियोग करना पराभव का कारण है[133]। इसी को स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि उपाय का योग्य रीति से विनियोग न किया जाय तो अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि दूध को कच्चे घड़े में रख दिया जाय तो वह सहज ही दही नहीं बन करता[134]।

साम - अपने से प्रबल शत्रु से वैर नहीं करना चाहिए। समान शक्ति वाले से लड़ना भी अत्यधिक बाधापूर्ण है, अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि साम, दाम आदि छह उपायों में से साम का

उपाय करके ही अपने कार्य को सिद्ध कर लेना चाहिए। छह उपायों में से भेद तथा दण्ड ये दोनों (प्राणों का नाश), धन का व्यय तथा क्लेशों के मूल हैं और मौत के पद है[135]। सब राजाओं में यदि कोई पारस्परिक भेद है तो वह मान का ही है। जितने भी शुभ तथा उन्नति के अवसर हैं वे सब आदर, मान बढ़ने के साथ ही प्राप्त होते हैं। यदि कोई सम्मान का लोलुप है तो उसका स्वागत सत्कार करके उससे बचना चाहिए[136]। सामनीति का अनुसरण कर कार्य सिद्ध करना सबसे सुखकर होता है[137], उसका कारण यह है कि इसमें किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका नहीं है।

जिसमें अपना और दूसरे का समय सुख से व्यतीत हो वही अवस्था प्रशंसनीय मानी जाती है[138]। जो दैव और काल के बल से युक्त हो, देव जिसकी रक्षा करें वह सोते हुए सिंह के समान होता है[139]। ऐसे व्यक्ति से युद्ध करना खतरे से खाली नहीं होता है। साम स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों के लिए शान्ति का कारण होता है, अत: साम का ही प्रयोग करना चाहिए[140]। जिस प्रकार अपनी सेना में कुशल योद्धा हो, उसी प्रकार प्रतिपक्षी की सेना में भी कुशल योद्धा हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध में यदि एक भी स्वजन की मृत्यु होती है तो जैसे वह शत्रु के लिए दु:खदाई होगी, उसी प्रकार अपने लिए भी दु:खदाई हो सकती है। इस प्रकार सब की भलाई के लिए साम ही प्रशंसनीय है, अत: अहंकार छोड़कर साम के लिए दूत भेजना चाहिए[141]। साम के द्वारा भी यदि शत्रु शान्त नहीं होता है तो फिर उसके अनुरूप कार्य कर सकते हैं[142]।

साम के द्वारा मित्र प्राप्ति और शत्रु विनाश होता है। दण्ड के उपयोग से शत्रु ही होते हैं, मित्र नहीं होते·हैं। साम के स्थान पर दण्ड और दण्ड के स्थान पर साम का प्रयोग नहीं करना चाहिए[143]। आदर्श पुरुषों का यह न्यायोचित तथा पालन करने योग्य व्रत है कि जिसे उखाड़ दिया जाए उसकी पुन: स्थापना कर दें[144]। तीक्ष्ण प्रकृति वह कार्य नहीं कर पाता, जो कोमल प्रकृति करता है। अग्नि पेड़ की जड़ तक नहीं पहुंच पाती, किन्तु पानी उसे उखाड़कर फेंक देता है। टेढ़ा चलने वाला (कुटिल) जब तक अभीष्ट के पाय पहुँचता भी नहीं है, तब तक सीधा चलने वाला उसके पास पहुँचकर उपभोग भी कर लेता है[145]।

जिस प्रकार हाथी के शरीर पर लगाए हुए चमड़े को कोमल करने वाली औषधि कुछ काम नहीं करती है, उसी प्रकार स्वाभाव से कठोर रहने वाले व्यक्ति के विषय में साम का प्रयोग करना निरर्थक है[146]। प्रतापशाली पुरुष के साथ साम का प्रयोग करना एकान्त रूप से शान्ति करने वाला नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध होने पर भी यदि क्रोध से उत्तप्त हो जावे तो उसके साथ शान्ति का प्रयोग करना चिकने किन्तु गरम घी में पानी खींचने के समान है[147]। यदि न्यायपूर्ण विरोध करने वाले पुरुष के विषय में पहले कुछ देकर साम का प्रयोग किया जाय और बाद में भेद तथा दण्ड काम में लाए जाँय तो साम बाधित हो जाता है[148]।

उपाय के जानकारों ने कहा है कि कठोर से कोमल अधिक सुखकर होता है। सूर्य पृथ्वी को तपाता है और चन्द्रमा आह्लादित करता है[149]। जगत में भी तेज निश्चय से मृदुता के साथ ही रहकर हमेशा स्थिर रह सकता है। दीपक स्नेहरहित (तेलरहित) अवस्था के बिना बुझ जाता है[150]। सामने खड़े हुए परिपूर्ण शत्रु का भी मृदुता (कोमलता) से ही भेद हो सकता है। नदियों का वेग प्रतिवर्ष पर्वतों का भेदन करता है[151]। जो शत्रु साम से सिद्ध कर लिया गया वह मौके पर विरुद्ध नहीं हो सकता। जिस अग्नि को पानी डालकर ठंडा कर दिया जाय वह फिर जलने की चेष्टा

नहीं कर सकती है[152] । जो मृदुता से शान्त हो सकता है, उसके ऊपर भारी शस्त्र नहीं छोड़ा जाता, जो शत्रु साम से सिद्ध किया जा सकता है, उसके लिए दूसरे उपायों के करने से प्रयोजन नहीं रहता। कुपित शत्रु को शान्त करने के लिए विद्वान लोग पहले साम का ही उपयोग करते हैं कीच में सिर्फ जल निर्मली (फिटकरी) के बिना प्रसन्न नहीं हो सकता[153] । साम तीक्ष्ण होने पर भी हृदय में प्रवेश करता है और निरपेक्ष होकर भी उसके प्रयोजन को सिद्ध करता है । राजा साम के सिवाय अन्य अभीष्ट धारण नहीं करते हैं[154] । योग्य स्थान पर यदि साम का प्रयोग न किया जाय तो राज्य के मुख्य पुरुष राजा की मर्यादा तोड़ने वाला समझकर शत्रु से मिल जाते हैं[155] ।

आचार्य सोमदेव के अनुसार कोई राजा शक्तिहीन हो और शत्रु पराक्रमी तथा सैन्य युक्त हो तो उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए[156] । यदि शत्रु ने कुछ हानि की होतो उसके अधिक उसकी हानि करके उससे सन्धि कर लेना चाहिए[157] । जिस प्रकार ठण्डा लोहा गर्म लोहे से नहीं जुड़ता किन्तु गरम लोहे ही जुड़ते हैं, उसी प्रकार दोनों राजा कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधते हैं[158] । सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाला प्रयोजन युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिए । गुड़ अधिक इष्ट होने पर कोई भी व्यक्ति विषभक्षण नहीं करता है[159] ।

सामनीति के भेद – सामनीति के पाँच भेद हैं[160] - (1) गुणसंकीर्तन - प्रतिकूल व्यक्ति के गुणों का कथन करना। (2) सम्बन्धोपाख्यान - सम्बन्ध बतलाना। (3) परोपकारदर्शन विरूद्ध व्यक्ति की भलाई करना । (4) आयति प्रदर्शन - हम लोगों की मित्रता का परिणाम सुखदायी है, यह प्रकट करना और (5) आत्मोपसन्धान - जो मेरा धन है, वह आपका है, इसे आप अपने कार्यों में प्रयुक्त करें, इस प्रकार का कथन करना आत्मोपसन्धान हैं[161]।

दान – यदि परिस्थिति अपने अनुकूल न हो तो धन, देश, नगर, रत्न हाथी[162] तथा कन्या[163] प्रदान कर सन्धि करना चाहिए, क्योंकि लोग देश, काल कुल अथवा बल की भली-भाँति परीक्षा कर ही कार्य करते हैं[164] । यदि साम सम्भव न हो तो दान का आश्रय लेना चाहिए । दान द्वारा प्राप्त की गई सफलता मध्यम कोटि की होती है[165] । साम की तरह दान में भी किसी उपद्रव की आशंका नहीं रहती है[166] । शत्रु राजा के साथ जो राजा आदि आयें वे यदि अर्थलोलुप हों तो उन्हें साम, दान आदि उपायों द्वारा अपने वश में कर लेना चाहिए[167] । कुछ राजा केवल आश्वासनों या सामनीति से नहीं मानते हैं, क्योंकि वे सम्पत्ति के लोलुप होते हैं । जब तक उन्हें धन नहीं मिलता, वे विरत नहीं होते हैं। शत्रुता का सूत्रपात करने वाली दानहीनता के कारण वे अन्त में कुपित भी हो जाते हैं। अत: दानहीनता को सबसे निकृष्ट वैर माना चाहिए[168] । अत्यधिक प्रतापशाली पुरुष को कुछ देने का विधान करना भी नि:सार है, क्योंकि हजार समिधायें देने पर भी प्रज्वलित अग्नि शान्त नहीं होती है[169] । दान को नीतिवाक्यामृत में उपप्रदान कहा है । बहुत धन के संरक्षण के लिए अल्प धन प्रदान करने के द्वारा शत्रु को प्रसन्न करना उपप्रदान है। अल्पव्यय के भय से मूर्ख अपना सर्वनाश करता है[170] । कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं है जो शुल्क देने के भय से अपना व्यापार छोड़ दे[171] । जो शक्तिहीन शक्तिशाली को धन नहीं देता है उसे आगे बहुत सा धन देना पड़ता है और शत्रु की कठोर आज्ञा में बन्धना पड़ता है[172] । वह कोई व्यय नहीं है, जो प्रयोजन की रक्षा करे[173]। पूरे भरे हुए तालाब की रक्षा का बहाव के सिवाय कोई उपाय नहीं है[174] । शत्रु यदि बलवान् है और उसे धन नहीं दिया गया तो वह प्राणों के साथ धन को ग्रहण कर लेता है[175] । अत: शक्तिहीन

राजा शक्तिशाली सीमाधिपति के लिए प्रयोजनवश धन देने का इच्छुक हो तो वह उसे विवाहादि उत्सव के अवसर पर सम्मानपूर्वक घर बुलाकर किसी भी बहाने प्रदान करे[176]।

आश्रय यदि आक्रमण करने वाला राजा मध्यमकोटि का है, उसमें सार्वभौम राजा का गुण नहीं है तो उसकी शरण में न जाकर किसी उत्तम कोटि के राजा की सहायता पाकर उसे जीतना अधिक सुगम हैं[177]। प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति में बढ़े हुए इस प्रकार के राजा को वह धन जो कि मध्यम कोटि के शत्रु राजा को भेंट करना चाहते थे, भेंट करने पर आक्रमण के लिए तैयार किया जा सकता है[178]।

स्थान - यदि समृद्धव्यक्तियों से पर्याप्त कोश की सहायता मिल सके तथा दूसरों के द्वारा अजेय शूर मनुष्य अपने पास हो तथा स्वयं राजा प्रभु, मन्त्र और उत्साह शक्ति से सम्पन्न हो तो शत्रु राजा के प्रधान पुरुषों में फूट डलवाकर गुप्तचरों को सक्रिय कर दिया जाय और किसी समर्थ राजा द्वारा उस पर आक्रमण कराकर कुछ समय ठहरा जाय[179] तो भी शत्रु को दुर्बल किया जा सकता हैं।

भेद तथा दण्ड के प्रयोग का अवसर - भेद और दण्ड अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इनका परिणाम मृत्यु और नाश है[180]। इससे हजारों आदमियों को क्लेश का भी सामना करना पड़ता है[181]। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त चार उपाय ही इस संसार में पृथ्वी की रक्षा कर सकते हैं[182]। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शान्ति, दान, आश्रय तथा स्थान का यदि अवसर निकल जाये जो भेद और दण्ड का ही प्रयोग करना चाहिए[183]। मनुष्य लोक में धन, शरीर, बल, आयु, ऐश्वर्य चिरकाल तक नहीं ठहरते हैं, किन्तु यदि कोई पुरुष सत्कर्म करके यश कमा सके तो वह अवश्य ही स्थायी होगा, अत: यश के लिए प्रयत्न करना चाहिए[184]। चारों उपायों का अवसर न होने पर भेद तथा दण्डनीति का प्रयोग राजा के यश और तेज को बढ़ाने के साथ आर्थिक विकास में ही साधक होता है। इस प्रकार का प्रस्ताव हृदयाकर्षक होता है और प्रस्ताव रखने पर राजा प्रसन्न होता है[185]।

दण्ड - अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त के संरक्षण के लिए दण्ड का प्रयोग करना चाहिए[186]। शत्रु पक्ष के विषय में कृत्याकृत्य का विचार कर जब साम, भेद, आदि उपाय त्याज्य हो जांय तो शत्रु दण्डनीय होता है। स्वयं उन्नत पद पर नियुक्त किन्तु अत्यन्त निर्दय तथा पापमार्ग में प्रवृत्त अपने प्रिय लोगों को भी राजा उसी प्रकार फैंक देता है, जिस प्रकार लोग बढ़े हुए नखों को काटकर फैंक देते हैं। कठोर अथवा निर्दय मित्र को भी राजा दण्ड देने में नहीं चूकता हैं[187]। इस प्रकार साम से विपरीत दूसरी स्थिति दण्ड की है। किसी कार्य के विषय में कहना और चीज है और कर्त्तव्य का ज्ञान और चीज है। हल चलाने की योग्यता रखने वाला बैल सवारी का काम नहीं दे सकता। कृत्य का निरूपण न करने वाली और खीर की तरह मनोहर वाणी के प्रति कोई आकृष्ट नहीं होता। फल (निष्पत्ति) बीज (कारण) के पद (शब्द) पर स्थित हैं और बातें तो सब वृथा वाणी का आडम्बर है। पराई बढ़ती पर डाह करने वाले, व्यर्थ शत्रुता रखने वाले राजा के साथ साम का व्यवहार नहीं होता। उससे प्रियवचन कहे जांयेगे तो वह और क्रूरता का व्यवहार करेगा। दुर्जन की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह अनुकूल नहीं किया जा सकता। योग्य पुरुष के प्रतिप्रयुक्त होने पर ही अच्छा उपाय सफल होता है, अन्यथा नहीं। वज्र से तोड़ने लायक पहाड़ पर टाँकी कुछ काम नहीं कर सकती। मदान्ध और पराया अपमान करने के लिये तैयार पुरुष के प्रति दण्ड का प्रयोग करना ही बुद्धिमानों की सलाह है। जो नथा नहीं है, वह बैल सहज ही वश में नहीं होता।

जब तक शत्रु आक्रमण नहीं करता तब तक स्वर्ण के समान भारी रहता है, वही जब शत्रुओं से तोला जाता है तब वह तत्क्षण तृण के समान हलका हो जाता हैं। क्षमा असंदिग्ध रूप से कल्याण का कारण कही गयी है, किन्तु वह व्रतधारियों के लिए गुण है, राजाओं के लिए नहीं। संसार के अनुयायी और मुक्ति की कामना करने वालों में बड़ा अन्तर है। चन्द्रमा की किरणों को सभी चाहते है किन्तु सुर्य की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। यह सब तेज की महिमा है। दूसरे के मन के मार्ग पर चलने वाले नित्य पीड़ित हीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। पूँछ आदि डुलाकर ललित अनुनय विनय करके तो कुत्ता भी अपने पेट पाल लेता है। अपने उचित महत्त्व को छोड़कर जो दुष्ट पुरुष से प्रिय वचन कहता है वह जलशून्य बादल की तरह गरजकर अपनी असारता प्रकट करता है। चाहे जन्म के पहले ही मर जाय या विनष्ट हो जाय, किन्तु पराधीन होकर रहना अच्छा नहीं है। मान के विनाश को कोई नहीं सह सकता। स्वाभाविक तेज से रहित पुरुष को बलपूर्वक बैल की तरह पकड़कर सभी पुरुष चालाते हैं, अत: महापुरुष सिंह के आचरण को पसन्द करते हैं। प्रबल हिस्सेदारों से लड़ने के कारण जब शत्रु की शक्ति क्षीण हो गई हो और उसके मित्र संकट में पड़े हुए हो, उस समय उस पर चढ़ाई कर देना चाहिए। शत्रु के स्थान पर चढ़कर ही भाग्यशाली पुरुष ही सम्पत्ति पाने में सफल होता है[188]। लोहा आग से नरम होता है, और जल से नरम बनाता है, इसी तरह दुर्जन भी शत्रुओं से पीड़ित होकर ही नम्रता को धारण करता है अन्यथा नहीं[189]। शत्रु के पास आदि आवश्यक सामग्री की चोरी करा लेना, उनका बध करना, किसी वस्तु को छिपा देना अथवा नष्ट कर देना[190], शत्रु का वध करना, उसे क्लेश पहुँचाना या उसके धन का अपहरण करना[191] दण्ड है।

भेद – उपजाप (परस्पर फूट) के द्वारा अपना कार्य सिद्ध करना भेद कहलाता है[192]। शत्रु के द्वारा वश में करणीय मंत्री आदि यदि नहीं फूटते हैं तो शत्रु भेदनीति द्वारा नहीं जीता जा सकता है और यदि मन्त्री आदि में फूट पड़ गई तो शत्रु पराजित ही समझना चाहिए[193]। सदैव शत्रु का प्रतीकार साम द्वारा नहीं होता है। यदि शत्रु का प्रतीकार साम द्वारा आरम्भ हो जाये तो गुप्तचरों की आवश्यकता है ? अर्थात् तब तो गुप्तचरों की आवश्यकता हीं नहीं रहेगी। अत: शत्रु के सन्निकट परार्मशदाताओं में भेद डाल देना चाहिए। भेद के शिकार राज्य पर विजय उसी प्रकार आसान होती है, जैसे वज्र के द्वारा भेदे गये मणि में आसानी से धागा डाला जा सकता है[194]। आचार्य सोमदेव के अनुसार अपने सेनानायक तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों तरफ से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की सेना में परस्पर एक दूंसरे के प्रति सन्देह उत्पन्न करना या उनमें फूट डालना भेदनीति हैं[195]।

उपायों का सम्यक प्रयोग – जो व्यक्ति नीति में चतुर है, उसे भेदा नहीं जा सकता है, जो पराक्रमी है उसे युद्ध में वश नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार जिसका आशय विकृत है उसके साथ साम (शान्ति) का प्रयोग नहीं किया जा सकता है[196]। जिस प्रकार लौहा तपाने से नरम नहीं होता है, उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देने से नरम नहीं होता, अत: उसके साथ दण्ड का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अनुनय विनय कर पकड़ने योग्य हाथी पर ही दण्ड चल सकता है, सिंह पर नहीं चल सकता[197]। जो व्यक्ति साम, दान, दण्ड और भेदरूप उपायों का विपरीत प्रयोग करता है, अथवा उपाय जानता नहीं है, वह दु:खी होता है[198]। इसके विपरीत जो इन उपायों को जानता है, वह प्रजा को अनुरक्त बना लेता है[199]। आचार्य गुणभद्र के अनुसार समादि उपायों का ठीक-

ठीक विचारकर यथास्थान प्रयोग करने पर ये समाहर्ता (दाता) के समान इच्छित फल प्रदान करते हैं[200] अथवा जिस प्रकार यथा स्थान यथा बोये हुये धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार राजा द्वारा यथा स्थान यथा समय प्रयोग किए हुए सामादि उपाय फल देते हैं[201] । सामादि उपायों के साथ शक्ति का प्रयोग करना प्रधान कारण है । जिस प्रकार खोदने से पानी और परस्पर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उद्योग से जो उत्तम फल अदृश्य है वह भी प्राप्त करने योग्य हो जाता है[202] । जय की इच्छा रखने वाले पुरुष को सदा नीति और पराक्रम दोनों वृक्षों को पकड़े रहना चाहिए । इनको छोड़कर फल सिद्धि का दूसरा कारण नहीं है । नीति और पराक्रम में भी नीति श्रेष्ठ है । नीतिहीन का पराक्रम वृथा है । मस्त हाथी को फाड़ डालने वाले सिंह को व्याघ्र भी मार लेता है । नीति के अनुगामी प्रबल शत्रु को भी सहज ही वश में कर लेते हैं । शिकारी लोग मस्त हाथी को भी उपाय से बाँध लेते हैं । नीतिमार्गानुगामी पुरुष का काम यदि बिगड़ जाय तो उसमें पुरुष का कोई दोष नहीं है । वह सब पापकर्म का पराभव है । जो पुरुष नीतिशास्त्र के दिखलाये मार्ग पर नहीं चलता वह कुबुद्धि बालकों की तरह कष्टरूपी जलती लकड़ी को हाथ से अपनी ओर खींचता है । विवेकी पुरुष को शत्रु पर सहसा दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कुछ राजा अभिमानी होने के कारण केवल साम (प्रियवचनों) से ही शान्त हो जाते हैं। अभिमानी मनुष्य दण्ड की धमकी से बिगड़ जाता है, शान्त नहीं होता । आग से आग नहीं बुझती है । बुद्धिमान् पुरुष सिद्धि के लिए शत्रु के प्रति साम का प्रयोग करते हैं । उसके बाद दान और भेद का प्रयोग किया जाता है । दण्ड से पीड़ा पहुँचाना विवेकी पुरुषों का अन्तिम उपाय है । पुरुष की एक प्रिय बात सैकड़ों अपराधों को धो डाल सकती है । वज्रपात करने वाले बादल शीतल जल देने के कारण ही लोगों को प्यारे हैं । दान में धन हानि होती है । दण्ड में बल (सेना) की हानि होती है । भेद में कपटी होने का अयश फैलता है । इस कारण साम से बढ़कर अच्छा उपाय नहीं है[203] ।

नीतिमार्ग – नीतिमार्ग के अनुसारण से भोगों की परम्परा चलती है[204] तथा घोर पतन रोका जाता है[205], अतः शक्तिशाली शत्रुओं के विनाश में समर्थ तथा निर्दोष आचरण को धारण करने वाले राजा को नीति की अवज्ञा नहीं करना चाहिए, क्योंकि नीतिपथ ही विपत्तियों का नाश करता है तथा अभिलषित पदार्थों को सहज ही जुटाता है[206] । नीतियों में मध्यम मार्ग अथवा माध्यस्थ नीति को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए । इससे नीति, शौर्य, धन, कीर्ति सरस्वती तथा लक्ष्मी की अनवरत वृद्धि होती है[207] । कभी मध्यस्थ मित्र की स्थिति नाजुक हो जाती है । मित्रमण्डल के कर्त्तव्यों की भावना से प्रेरित संघर्षरत दोनों पक्षों का मित्र राजा जब संघर्ष रोकने के लिए मध्यस्थ बनता है तो उसे दोनों के आक्रमण सहने पड़ते हैं तथा कुछ समय दोनों ही उस पर शंका करते हैं[208] ।

राजा को नीतिज्ञ होना चाहिए । यदि वह सिद्धि की कामना करता है तो उसे बिना विचार किए कार्य नहीं करना चाहिए[209] । यद्यपि यह सत्य है कि अभिमानी पुरुषों को अपना पराभव सहन नहीं हो सकता है, किन्तु बलवान पुरुषों के साथ विरोध करना भी पराभव का कारण है[210] । महापुरुषों का आश्रय लेने में कोई हानि नहीं है । महापुरुषों का आश्रय करने से मलिन पुरुष भी पूण्यता को प्राप्त हो जाते हैं[211] । पूज्य पुरुषों की पूजा करने से इसलोक तथा परलोक दोनों ही लोकों में जीवों की उन्नति होती है और पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने से दोनों ही लोकों में पाप बन्ध होता है[212] । बलवान से भी अधिक बलवान् है, इसलिए मैं बलवान् हूँ, ऐसा गर्व नहीं

करना चाहिए[213] । सेना को रोकने वाला कौन है कहाँ से आया है ? इसकी सेना कितनी है, यह कितना बलवान् है इन सब बातों का बिना विचार किए ही उसकी सेना के सामने नहीं आना चाहिए[214]। प्राप्त नहीं हुई वस्तु का प्राप्त होना और प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजा का आश्रय लिए बिना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते[215] । इस संसार में जो समानशक्तिशाली हैं, उनमें परस्पर जय और पराजय का निर्णय नहीं हो सकता है[216]।

फुटनोट

1. हरिवंशपुराण 11/60
2. वही 11/78
3. वही 36/60
4. वही 30/60
5. वही 36/55-57
6. वही 36/55
7. गद्यचिन्तामणि,
8. आदिपुराण 45/73
9. वही 35/64
10. वही 44/89
11. उ. पु. 58/65
12. वही 58/102
13. चन्द्रप्रभचरित 12/5
14. नीतिवाक्यामृत 13/1
15. पद्मचरित 39/85
16. वही 66/13
17. वही 39/87
18. आदिपुराण 35/25-26
19. वही 35/23
20. वही 35/20
21. नीतिवाक्यमृत 13/2
22. द्विसंधान महाकाव्य 13/15
23. वही 13/36
24. वही 18/125
25. वही 5/14
26. आदिपुराण 44/136-137
27. वही 34/89
28 नीतिवाक्यामृत 13/4
29. आदिपुराण 43/202
30. नीतिवाक्यामृत
31. आदिपुराण 43/202
32. पद्मचरित 66/90
33. वही 66/4 34. वही 66/54
35. वही 8/187
36. वही 8/88
37. नीतिवाक्यमृत 13/5
38. वही 13/6
39. वही 13/7
40. वही 13/8
41. वही 13/9
42. वही 13/10
43. वही 13/11
44. वही 13/12
45. नीतिवाक्यामृत 13/13
46. वही 13/14
47. वही 13/15
48. वही 13/16
49. वही 13/17
50. नीतिवाक्यामृत 13/19
51. वही 13/18
53. वही 13/20-21
53. वही 13/22
54. वही 13/24
55. वही 13/23
56. वही 27/63
57. वही 27/64
58. वही 31/29
59. वही 15/17
60. वही 13/25
61. नीतिवाक्यामत 14/1

62. पद्मचरित 8/22
63. वही 7/35, 36
64. वही 8/22
65. गद्यचिन्तामणि लम्भ क्षत्रचुड़ामणि 11/6
66. आदिपुराण 4/170
67. द्विसंधान महाकाव्य 2/15
68. वही 2/16, 17
69. नीतिवाक्यामृत 14/2
70. वही 14/8
71. वही 14/9-38
72. नीतिवाक्यामृत 10/147
73. वही 17/26
74. वही 29/83
75. वही 14/6
76. वही 14/7
77. वही 14/5
78. नीतिवाक्यामृत 10/130
79. वही 30/97
80. वही 14/4
81. वरांगवचरित 16/60
82. वही 1/47
83. आदिपुराण 32/124
84. वर्धमानचरित 2/43
85. नीतिवाक्यामृत 29/36
86. वही 29/37
87. वही 29/38
88. वही 29/39
89. वही 29/40
90. चन्द्रप्रभचरित 12/3
91. नीतिवाक्यामृत 29/41
92. वही 29/42
93. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् 7/1
94. पद्मचरित 37/3, 36/8
95. वही 37/3
96. वही 7/1 कोटिलीयं अर्थशास्त्रम्
97. द्विसंधान 11/15
98. चन्द्रप्रभचरित 12/104
99. आदिपुराण 35/24
100. वही 42/194-196
101. उत्तरपुराण 68/67-68
102. नीतिवाक्यामृत 10/44
103. वही 29/51
104. नीतिवाक्यामृत 29/53
105. वही 29/65
106. वही 29/66
107. वही 29/67
108. उत्तरपुराण 68/68
109. नीतिवाक्यामृत 29/45
110. वही 29/52
111. उत्तरपुराण 68/70
112. नीतिवाक्यामृत 29/54
113. वही 29/55
114. उत्तरपुराण 68/69
115. नीतिवाक्यामृत 29/47
116. उत्तरपुराण 68/71
117. नीतिवाक्यामृत 29/48
118. वही 29/56
119. वही 29/57
120. वही 29/58
121. वही 29/59
122. वही 29/60
123. आदिपुराण 32/54
124. वही 45/145
125. वही 34/43
126. नीतिवाक्यामृत 29/49
127. वही 29/50
128. वही 29/63
129. नीतिवाक्यामृत 58/55
130. (अ) वरांगचरित 16/70
130. आदिपुराण 44/129-130
131. वही 13/70
132. आदि. 46/61
133. वही 35/99
134. वर्धमानचरित 7/27
135. वरांगचरित 16/53-54
136. वही 16/55
137. वही 21/66
138. हरिवंशपुराण 50/29

139. वही 50/28
140. वही 50/50
141. वही 50/52-54
142. वही 50/55
143. द्विसंधान महाकाव्य 11/17
144. वही 12/47
145. वही 11/18
146. आदिपुराण 35/14
147. वही 35/100
148. वही 35/98
149. वर्धमानचरित 7/18
150. वही 7/29
151. वही 7/28
152. वही 7/24
153. वही 7/21
154. वही 7/20
155. वही 4/41
156. नीतिवाक्यामृत 30/62
157. नीतिवाक्यामृत 30/57
158. वही 30/58
159. वही 30/25-26
160. वही 29/71
161. वही 29/32
162. वरांगचरित 16/57
163. वही 21/47
164. वही 16/97
165. वही 21/66
166. वह 16/54
167. वही 18/1
168. द्विसंधान महाकाव्य 11/25
169. आदिपुराण 35/101
170. नीतिवाक्यामृत 30/27
171. नीतिवाक्यामृत 30/28
172. वही 30/33
173. वही 30/29
174. वही 30/30
175. वही 30/31
176. वही 30/32
177. वरांगचरित 16/58
178. वही 16/7, 59
179. वही 16/62-64
180. वही 21/66
181. वही 16/54
182. वरांगचरित 21/66
183. वही 16/70, 16/65
184. वरांगचरित 16/71
185. वही 16/74
186. द्विसंधान महाकाव्य 2/25
187. वही 2/24
188. चन्द्रप्रभचरित 12/83-97
189. वही 7/36
190. उत्तरपुराण 68/64-65
191. नीतिवाक्यामृत 29/75
192. उत्तरपुराण 68/64
193. द्विसंधान महाकाव्य 11/26
194. द्विसंधान महाकाव्य 11/19
195. नीतिवाक्यामृत 29/74
196. आदिपुराण 33/12
197. वही 35/102
198. वही 35/103
199. वही 8/223
200. उत्तरपुराण 54/38
201. उत्तरपुराण 62/32
202. वही 68/73-74
203. चन्द्रप्रभचरित 12/72-81
204. द्विसंधान महाकाव्य 17/11
205. वही 16/76
206. वही 11/33
207. वही 11/35
208. वही 17/63
209. आदिपुराण
210 वही 28/139
211. वही 17/210
212. वही 28/151
213 वही 28/142
214. वही 32/52
215. आदिपुराण 28/141
216. वही 28/194

❑❑❑

एकादश अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि आज से करीब बारह सौ तेरह सौ वर्ष पूर्व भारत के जैन साहित्य मनीषियों और चिन्तकों ने राजशास्त्र सम्बन्धी अनेक विषयों का यथेष्ट चिन्तन-मनन किया था। इस अध्ययन के फलस्वरुप हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुचते हैं :-

राज्य - सातवें से दशवीं शताब्दी तक के संस्कृत जैन साहित्य में राज्य के सात अंग स्वामी (राजा), अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा बल (सेना) का प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप में सम्यक् विवेचन उपलब्ध होता है। राज्य का लक्षण देते हुए आचार्य सोमदेव ने कहा है- राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म राज्य है[1]। सामान्य दृष्टि से विचार किया जाय तो राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म अपने विस्तृत क्षेत्र और अर्थ को लिए हुए है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक सुरक्षा वा बाह्यसुरक्षा दोनों के उपाय आते हैं। सोमदेव ने पृथ्वी पालनोचित कर्म से तात्पर्य सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव, जिन्हें सम्मिलित रूप में षाड्गुण्य कहा जाता है, बतलाया है। इस प्रकार सोमदेव ने बाह्य सुरक्षा पर अधिक जोर दिया है। हो सकता है सोमदेव के काल में इस प्रकार की परिस्थिति रही हो कि बाहरी आक्रमण के खतरे के कारण आन्तरिक सुरक्षा की अपेक्षा बाह्य सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना पड़ा हो, किन्तु यह निश्चित है कि बाह्य सुरक्षा के साथ साथ आन्तरिक सुरक्षा भी आवश्यक है, यही कारण है कि सोमदेव ने राज्य की उपर्युक्त परिभाषा के साथ साथ वर्ण तथा आश्रम से युक्त तथा धान्य, हिरण्य, पशु, एवं कुप्य (लोहा आदि धातुयें) तथा वृष्टि रुप फल को देने वाली पृथ्वी को भी राज्य कहा है[2]। सोमदेव के समय तक वर्ण और आश्रम व्यवस्था बद्धमल हो गयी थी। आन्तरिक सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि लोग वर्ण आश्रम में विभक्त होकर अपने अपने कर्तव्यों का समुचित रूप में पालन करें, इसी से ही शान्ति कायम रह सकती थी। इसे ही कायम रखने हेतु दण्ड व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, गुप्तचरों की नियुक्ति, नगर एवं ग्राम की रक्षा आदि साधन प्रयुक्त किए गए।

राज्य एक बहुत बड़ी साधना है। जिस प्रकार तप में यह ध्यान रखा जाता है कि अप्राप्त इष्ट तत्व की प्राप्ति हो और प्राप्त इष्ट तत्व की रक्षा हो उसी प्रकार राज्यपालन के समय भी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति (योग) और प्राप्त वस्तु की रक्षा (क्षेम) पर अधिक ध्यान दिया जाता है। योग और क्षेम के विषय में यदि प्रमाद हुआ तो अध: पतन हो जाता है प्रमाद न होने पर भारी उत्कर्ष होता है[3]। आचार्य गुणभद्र ने सुखतत्त्व को प्रधानता दी। संसार में सारे कार्य सुख के लिए किए जाते हैं। अत: गुणभद्र ने कहा -'राज्यों मे राज्य वही है जो प्रजा को सुख देने वाला हो।' राजा प्रजा को सुख देने में तभी समर्थ हो सकेगा जब उसके पास रक्षा के लिए पर्याप्त सेना तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त कोश हो। इसी को ध्यान में रखकर सोमदेव ने देश की परिभाषा दी-''स्वामी को दण्ड (सेना) और कोश की जो वृद्धि दे उसे देश कहते हैं[5]। ऐसे देश के प्रति किसी भी व्यक्ति का पक्षपात होना स्वाभाविक है अत: कहा गया-समस्त पक्षपातों में देश का पक्षपात महान् है[6]। राज्य और देश के साथ सोमदेव ने जो विषय, मण्डल, जनपद, दारक

तथा निर्मम की परिभाषायें दी वे महान् अर्थ को अपने अन्दर संजोए हुए हैं । इन परिभाषाओं को राज्य नामक अध्याय में दिया गया है । चूकिं राज्य धर्म, अर्थ और कामरुप फलों को प्रदाता है अत: नीतिवाक्यामृत के आदि में[7] उसे नमस्कार किया गया है किन्तु धर्म से परम्पर या मोक्ष की उपलब्धि होती है अत: कहा जा सकता है कि राज्य पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का साधक है ।

राजा की आवश्यकता - राजा मर्यादाओं का रक्षक और धर्मों की उत्पत्ति का कारण था[8]। उसका आश्रय लेकर प्रजा सुख से निवास करती थी[9] । दुष्टों का निग्रह करना और शिष्ट पुरुषों का पालन करना रुप सम असत्व गुण[10] राजा में निहित था अत: लोक को राजा की आवश्यकता थी ।

राजा की महत्ता - विभिन्न दृष्टियों से राजा का अत्यधिक महत्व था । पद्मचरित में राजा की मर्यादा, हरिवंशपुराण में लोकरंजन, छत्रचूड़ामणि में प्रजा वात्सल्य, उत्तर पुराण में दानवीरता, चन्द्रप्रभूचरित में सर्वदेवमयत्व तथा नीतिवाक्यामृत में धर्मपरायणता एवं कुलीनता रूप गुणों का विशेष वर्णन किया गया है । उसके सत्य से मेघ कृषकों की इच्छानुसार बरसते हैं और वर्ष के आदि मध्य तथा अन्त में बोए जाने वाले सभी धान्य फल प्रदान करते हैं[11] । राजा के पृथ्वी का पालन करते समय जब सुराज्य होता है जो प्रजा उसे ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त होती है[12] ।गुणवान् राजा दैव, बुद्धि और उद्यम के द्वारा स्वयं लक्ष्मी का उपार्जन कर उसे सर्वसाधारण के उपभोग करने योग्य बना देता है, साथ ही स्वयं उसका उपभोग करता है[13] । राजा जब न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है और स्नेहपूर्ण पृथ्वी को मर्यादा में स्थित रखता है, तभी उसका भूभृतपना सार्थक होता है[14] ।

राजा में नैतिक गुणों की अनिवार्यता - प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजा के लिए राजर्षि शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । लोकानुरञ्जन करने के कारण वह राजा तथा ऋषि के अनुकूल आचरण के कारण वह ऋषि था । यही कारण है कि विभिन्न ग्रन्थों में उसे अरिषड्वर्ग विजेता, (काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह का विजेता) कहा गया है । जो राजा इन पर विजय प्राप्त नहीं करता है, अपनी आत्मा को नहीं जानने वाला वह राजा कार्य और अकार्य को नहीं जान सकता है[15] । त्रिवर्ग का अविरोध रूप में सेवन करना, मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना, कार्य को निश्चित समय पर करना, शत्रुओं का विजेता होना, प्रजापालन, सतत जागृत रहना, नियमपूर्वक कार्य करना, यथापराध दण्ड देना, न्यायपरायणता, सत्संग, प्रत्युपकार, समयानुसार कार्य करना, अनीतिपूर्ण आचरण का परित्याग तथा धार्मिकता आदि गुण राजा में नैतिक गुणों की अनिवार्यता को पुष्ट करते हैं ।

सुशिक्षित राजकुमार - राजकुमारों को उत्तम शिक्षा दिलाने का पूरा प्रयत्न किया जाता था, ताकि वह आगे राजकार्य पूर्णता से संचालन कर सके । सातवीं से दशवीं सदी के संस्कृत जैन काव्यों में राज्याभिषेक के समय, शिक्षा प्राप्ति के बाद अथवा अन्य विशेष अवसर पर माता-पिता अथवा गुरुजन राजपुत्र को शिक्षा देते हुए पाए जाते हैं जो गुरुजन स्वंय गुणी अर विद्वान होते हैं, उनका पुत्र को उसके ही कल्याण के लिए अपनी बहुज्ञता के अनुकूल उपदेश देना स्वाभाविक है[16] । प्राय: राजकुमारों को निम्नलिखित उपदेश दिए जाते थे

(1) शत्रुओं पर नीतिपूर्वक विजय प्राप्त करना।

(2) दुष्टों को दण्ड देना।

(3) शिष्टों का पालन करना।

(4) त्रिवर्ग का अविरोध रुप से सेवन करना।

(5) कर्त्तव्य की भावना से दान देना।

(6) सेवकों के प्रति क्षमाभाव रखना।

(7) गुणों को ग्रहण करना, दोषों को छोड़ना।

(8) यौवन, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, बलवत्ता को मनुष्य का अनर्थकारी मानना।

(9) सज्जनों की संगति करना और दुर्जनों से दूर रहना।

(10) अहंकार न करना।

(11) कृतज्ञ होना।

(12) परिवार को वश में रखना।

(13) वृद्धजनों की सलाह से कार्य करना।

(14) अपनी चित्तवृत्ति को छिपाए रखना।

दोषपूर्ण राजा – रविषेण आदि आचार्यों ने राजा के गुणों के साथ उनके दोषों का भी दिग्दर्शन कराया है, जो निम्नलिखित हैं-

(1) अत्यन्त क्रूर होना।

(2) इन्द्रियों का वशवर्ती होना।

(3) सदाचार से विमुख होना।

(4) लोभ में आसक्ति।

(5) विचारशुन्यता।

(6) तष्णा

(7)मूर्ख मनुष्यों से घिरा होना।

(8) पुज्यपुरुषों का तिरस्कार करना।

(9) अपनी जर्बदस्ती दिखलना।

(10) अपने गुणों तथा दूसरे के दोषों को प्रकट करना।

(11) अधिक कर लेना।

(12) अस्थिर प्रकृति का होना।

(13) दूसरे के अपमान से मलिन हुई विभूति को धारण करना।

(14) कठिनाई से दर्शन होना।

(15) पुत्र का कुपुत्र होना।

(16) सहायक, मित्र तथा दुर्ग आदि आधारों से रहित होना।

(17) निर्दयी, असहनीय और द्वैषी होना।.

(18) बुरे रोगों से घिरा होना।

(19) खोटे मार्ग में चलना।

(20) बिना क्रम के प्रत्येक कार्य में आगे आना ।

(21) मूर्खता ।

(22) दुराचार ।

(23) स्वतन्त्र रहना (मन्त्री आदि से सलाह न लेना)

(24) आलस्य ।

(25) अपनी शक्ति को न जानना ।

(26) अधार्मिकता ।

(27) बलात्कारपूर्वक प्रजा से धन ग्रहण ।

(28) यथापराध दण्ड न देना ।

(29) क्षुद्र् अधिकारी रखना ।

(30) ब्रह्मघात (शस्त्रहीन शत्रु की हत्या करना) ।

राजा के सहायक - राजा के सहायकों में मन्त्रियों का विशिष्ट स्थान है । जिस प्रकार मन्त्रशक्ति के प्रभाव से बड़े बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकाररहित हो जाते हैं। उसी प्रकार मन्त्रशक्ति के प्रभाव से बड़े बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकाररहित हो जाते हैं[17] । राजा मन्त्रियों द्वारा चर्चा किए जाने पर शत्रुओं का सब प्रकार आना जाना आदि जान लेता है[18] और उसके द्वारा उसका आत्मबल सन्निहित रहता है, इस प्रकार वह जगत को जीतने में समर्थ होता है[19] । राजा को मन्त्रियों की परीक्षा धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा इन चार उपधाओं तथा जाति आदि गुणों से करना चाहिए[20] तथा निम्नलिखित[21] कार्य मन्त्री की सलाह से करना चाहिए ।

(1) बिना जाने या प्राप्त किए हुए शत्रु सैन्य वगैरह का जानना या प्राप्त करना।

(2) जाने हुए कार्य का निश्चय करना ।

(3) निश्चित कार्य को दृढ़ करना ।

(4) किसी कार्य में सन्देह होने पर उसका निवारण करना ।

(5) एकोदेश प्राप्त हुए भूमि आदि पदार्थों का प्राप्त करना अथवा एकोदेश जाने हुए कार्य के शेष भाग को जान लेना ।

अमात्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है - जो राजा द्वारा दिया हुआ दान- सम्मान प्राप्त कर अपने कत्तर्व्यपालन में उत्साह व आलस्य करने में राजा के साथ सुखी दु:खी होते हैं, उन्हें अमात्य कहते हैं[22] । जिस प्रकार (रथ आदि का) एक पहिया नहीं चल सकता है, उसी प्रकार मन्त्री आदि की सहायता के बिना राज्यशासन नहीं चल सकता है[23] । जिस प्रकार अग्नि ईंधन युक्त होने पर भी हवा के बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसी प्रकार मन्त्री के बिना बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी राज्य शासन करने में समर्थ नहीं हो सकता है । मन्त्री के अतिरिक्त अन्य उच्च पदाधिकारियों में पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तर्वंशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौरव्यावहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल, आटविक स्थपति, राजश्रेष्ठी, पीठमर्द, नैमित्तिक, भाण्डागारिक, पौर, महत्तर, गृहपति, ग्राममुख्य, लेखवाह, लेखक, भोजक, गोष्ठमहत्तर, पुररक्षक, पालक, धर्मस्थ, आयुधपाल तथा याममहत्तर ये राजा के कार्यों में सहायता देने वाले प्रधान अधिकारी थे । इनके कार्यों आदि का विवरण सप्रमाण मन्त्रिपरिषद तथा अन्य अधिकारी नामक अध्याय में दिया गया है ।

सहायकों के प्रति राजा के कर्त्तव्य - जिस प्रकार बिलावों से दूध की रक्षा नहीं हो सकती है उसी प्रकार अधिकारियों से (राजकोष की) रक्षा नहीं हो सकती है। अत: राजा को सदा उनकी परीक्षा करना चाहिए[25] ।

अर्थव्यवस्था - राजाओं की स्थिति तभी तक सुरक्षित रह सकती है, जब तक उसकी आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ हो, अतएव कोष की महत्ता स्वीकार की गई है। कोष ही राजाओं का प्राण है[26] । इस लोक में पर्याप्त सम्पत्ति संकलित करन से धर्म, अर्थ और काम तीनों सम्भव हो सकते हैं[27] । राजा दशरथ के पास इतनी सम्पत्ति थी कि उनकी दानशीलता को याचक नहीं संभाल सके[28] । वे निर्मल तथा पर्याप्त यशरुपी धन संचय करने के लिए व्यवसायियों से भरे बाजारों, खनिक क्षेत्रों, अरण्यों, समुद्री तीरों पर स्थित पत्तनों, पशुपालकों की बस्तियों, दुर्गों तथा राष्ट्रों में गुणों की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति को बढ़ाते थे29। वादीभसिंह ने दरिद्रता को प्राणों से न छूटा हुआ मरण कहा है[30] । गद्यचिन्तामणि में कहा गया है कि मनुष्य को पितृ पितामह के धन का अधिक भरोसा न कर सम्पत्ति अर्जित करने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि आय से रहित धन अविनाशी नहीं हो सकता है31। नीतिवाक्यामृत में इसी की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि पुरुष का पुरुष दास नहीं है, अपितु पुरुष का धन दास है[32] । जो राजा अपने राज्य में धनसंग्रह नहीं करता है और अधिक धन व्यय करता है, उसके यहाँ सदा अकाल रहता है, क्योंकि नित्य स्वर्ण का व्यय होने पर मेरू भी नष्ट हो जाता है[33] । अत: अर्थव्यवस्था पर ध्यान देना आवश्यक है। आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत के 21वें समुद्रदेश में कोषवृद्धि के उपायों का प्रतिपादन विशद रूप से किया है[34] ।

लोकरक्षा के लिए किए गए निर्माण कार्य - इन कार्यों में राजनीतिक दृष्टि से दुर्ग रचना, सभा रचना तथा नगर तथा ग्राम निवेशों का विशेष महत्त्व है। दुर्ग राजा और उसकी सेना वगैरह के बचाव के उत्तम आश्रयस्थल थे, उन्हें शत्रु द्वारा अलंघनीय कहा गया है[35]। दुर्गों में यन्त्र, शस्त्र, जल, जो घोड़े तथा रक्षक भरे रहते थे[36] । बलवान् शत्रु का सामना दुर्गों का आश्रय लेकर किया जा सकता था, क्योंकि अपने स्थान पर स्थित खरगोश भी हाथी से बलवान् हो जाता है[37] । दुर्गविहीन देश सभी के तिरस्कार का पात्र होता है[38]। हरिवंशपुराण में विभिन्न प्रकार की सभाओं तथा पद्मचरित में विभिन्न प्रकार सन्निवेशों का कथन उपलब्ध होता है। सभाओं का निर्माण प्रारम्भ में लोकरक्षा के लिए ही किया गया होगा, बाद में ये राजनीति का केन्द्र होने के साथ राजाओं की शान शौकत का स्थान भी बन गई। आदिपुराण के पंचम पर्व से राजसभा की एक झलक प्राप्त होती है, तदनुसार राजसभा में राजा सिंहसान पर बैठता था। अनेक वारांगनायें उस पर चमर ढोरती थीं[39]। मन्त्री, सेनापति, पुरोहित, सेठ तथा अन्य अधिकारी राजा को घेरकर बैठते थे। राजा किसी के साथ हँसकर, किसी के साथ सम्भाषण कर, किसी को स्थान देकर, किसी को दान देकर, किसी का सम्मानकर और किसी को आदरसहित देखकर सन्तुष्ट होता था। गन्धर्वादि कलाओं का जानकार राजा विद्वान पुरुषों की गोष्ठी का बार बार अनुभव करता था तथा श्रोताओं के समक्ष कलाविद् पुरुष परस्पर में जो स्पर्धा करते थे, उसे भी देखता जाता था। इसी बीच सामन्तों द्वारा भेजे हुए दूतों को द्वारपालों के हाथ बुलाकर बार बार उनका सत्कार करता था तथा अन्य देश के राजाओं के प्रतिष्ठित पुरुषों (महत्तरों) द्वारा लाई गई भेंट को देखकर उनका भी सम्मान करता था। राजसभा में राजा मन्त्रिवर्ग

के साथ स्वेच्छानुसार बैठता था[40]। मन्त्रियों में से जो सम्यगदृष्टि, व्रती, गुण और शील से शोभित, मन, वचन, काय से सरल, गुरुभक्त, शास्त्रों का वेत्ता, अत्यन्त बुद्धिमान उत्कर्ष श्रावकों (गृहस्थों) के योग्य गुणों से शोभायमान तथा महात्मा होता था, राजा उसकी प्रशंसा कर उसके वचनों को स्वीकार करता था[41]।

सैन्यशक्ति – राज्य की सुरक्षा वगैरह का सारा दायित्व सेना पर था अत: अधिकाधिक संख्या में सैनिक रखने पड़ते थे। एक स्थान पर अक्षौहिणी प्रमाण सेना का उल्लेख हुआ है[42]। अक्षौहिणी सेना के अन्तर्गत इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर हाथी, एक लाख नौ हजार तीन सौ पचास पदाति और पैंसठ हजार छह सौ चौदह घोड़े आते थे[43]।

युद्धस्थल में योद्धाओं की जागरूकता अनुपम होती थी। योद्धा बाण को बरसाते थे, बाण घोड़े को गिरा देता था, घोड़ा घुड़सवार को गिरा देता था। इस प्रकार योद्धा लोग एक दूसरे को गिराने की परम्परा से खूब साधकर बाण छोड़ते थे[44]। अश्वसेना अपनी वेगशीलता के लिए प्रख्यात रही है। इसकी वेगशीलता का धनञ्जय ने बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है- 'पूरी की पूरी चंचल वायुसेना का वेग वायु के समान था, चित्त वेग मय था, शरीर चित्तमय था तथा चित्त और शरीर एकमेक हो जाने के कारण वह अश्वारोहियों की प्रेरणा से जलराशि को पार कर गई थी[45]। इसी प्रकार गज सेना और रथसेना की कार्यकलापों तथा उनकी शक्तियों का वर्णन यत्र तत्र प्राप्त होता है।

मित्रशक्ति – इस लोक और परलोक में मित्र के समान हित करने वाला कोई दूसरा नहीं है न मित्र से बढ़कर कोई बन्धु है। जो बात गुरु अथवा माता पिता से नहीं कही जाती है ऐसी गुप्त से गुप्त बात भी मित्र से कही जाती है। मित्र अपने प्राणों की परवाह न करता हुआ कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर देता है। उत्तरपुराण में मणिकेतु इसका दृष्टान्त है, अत: सबको ऐसा मित्र बनाना चाहिए[46]।

नागरिक और ग्राम्य शक्ति – किसी भी राज्य या राजा की मुख्य शक्ति का केन्द्र उसके नगर या ग्रामनिवासी होते हैं। ये जितने अधिक सम्पन्न और गुणों से भरपूर होगें, राष्ट्र उतनी ही समृद्ध और गुणवान होगा। चन्द्रप्रभचरित में इनके जीवन का चित्रण किया गया है तदनुसार पुरनिवासी बुद्धि में तीक्ष्ण होते थे, किन्तु उनके वचन तीक्ष्ण (कठोर) नहीं होते थे[47]। द्विजिहवता (चुगलखोरी), चिन्ता और दरिद्रता का वहाँ (नागरिकों में) नाम ही नहीं होता था[48]। मद, उपसर्ग, (रोग, बाधा) तथा निपात वहाँ दिखाई नहीं पड़ता था[49]। परलोक सम्बन्धी कार्यों में लगे हुए नागरिक धर्म के लिए धनोपार्जन और वंश चलाने के लिए कामभोग करते थे। उन्हें धन कमाने और कामभोग करने का व्यसन नहीं होता था[50]। सभी लोग राजा की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मानकर महोत्सवादि मनाते थे, गणिकायें नृत्य करती थीं[51]। नगर की शोभा मनुष्यों से, मनुष्यों की शोभाधन से. धन की शोभा भोग से और भोग की शोभा निरन्तरता से होती है[52]। नगर की समृद्धि में अन्य लोगों की अपेक्षा वणिकों (व्यापारियों) तथा तार्किकों (विद्वानों) का अधिक योग रहता है अत: आवश्यक है कि वणिक और तार्किक दोनों ही लोकप्रसिद्ध अविरोधी और व्याभिचार रहित मान (तौल, प्रमाण) से वस्तुओं को तोलें या प्रमाणित करें[53]।

तत्कालीन गोधन तथा धान्यसम्पदा को देखकर लोग आनन्दित हो उठते थे[54]। ईख पैलने में यन्त्रों तथा नृत्य करते हुए मयूरों की मधुर ध्वनि के कारण राजा भी गोकुल निवास की प्रशंसा करते थे[55]।

दूतों की भूमिका – दूतों की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। राजा लोग अपना अभिप्राय व्यक्त कर दूतों को दूसरे राजाओं के पास भेजा करते थे[56]। कुशाग्रबुद्धि दूत दूसरे राजा की सभा में जाकर अपने स्वामी का अभिप्राय निपुणतापूर्वक निवेदन करता था[57], इसीलिए दूत को राजाओं का मुख कहा जाता था[58]।

चार-प्रचार– गुप्तचर लोकरक्षा के मुख्य अंग थे। गुप्तचरों के द्वारा शत्रु के सब हाल को सब तरह जानकर राजा अपने पराए को जानने की चेष्टा करता था[59]। गुप्तचरों द्वारा ही शत्रु के आगमन का समाचार प्राप्त होता था[60]। राजा शत्रुओं के भृत्यों को गुप्तचरों के द्वारा दूना वेतन दिलाकर वश में करता था और जाली पत्र भेजकर उसका सामन्तों से बिगाड़ करा देता था[61]।

शक्तित्रय – प्रभुशक्ति मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति से युक्त राजा सबको जीतने की शक्ति रखता है[62]। प्रभुशक्ति की सम्पदा से पृथ्वी का पालन करके ही राजा का पृथ्वीपाल नाम सार्थक होता है[63]।

षाड्गुण्य - सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये छह गुण कहे गए हैं। समझदार लोग शत्रुओं के बल की थाह लेकर इन छह बातों में से किसी कर्त्तव्य का निश्चय करते हैं[64]। ये छहों गुण लक्ष्मी के स्नेही हैं[65]।

शत्रुताओं का प्रतीकार - शत्रु अपने मनोरथ की सिद्धिपर्यन्त प्रसन्न करने योग्य होते हैं[66]। अपने शत्रु के कार्यों की प्रबलता और उसके विचार को जानकर प्रतीकार करना चाहिए[67]। इस प्रकार उत्तम उपायों से प्रसिद्ध मनुष्य कार्य को पूर्ण करने में रुकावट रहित होते हैं[68]।

रणविधान – युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व शत्रु राजाओं के यहाँ दूत भेजा जाता था। दूत स्वामी का अभिप्राय निवेदन कर लौट आता था। यदि शत्रु राजा दूत द्वारा कही गई बातों की अवेहलना करता था या उनको ठुकराता था तो युद्ध प्रारम्भ हो जाता था[69]। युद्ध करने से पूर्व बड़ों की सलाह ली जाती थी[70]। इसके बाद मन्त्रियों से मन्त्रणा की जाती थी। सोच विचार कर ही कार्य किया जाता था, क्योंकि बिना विचारे कार्य करने वालों का कार्य निष्फल हो जाता है[71]। जीत हार के विषय में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को महत्ता दी जाती थी। केवल पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धि का कारण नहीं हैं, क्योंकि निरन्तर कार्य करने वाले पुरुषार्थ किसान का वर्षा के बिना क्या सिद्ध हो सकता है? अर्थात कुछ भी नहीं। एक ही समान पुरुषार्थ करने वाले और एक ही समान आदर से पढ़ने वाले छात्रों मे से कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ कर्मों की विवशता से सफल नहीं हो पाते हैं[72]। अच्छी सेना के लिए आवश्यक था कि उस सेना में मलिन भूखा, दीन, प्यासा, कुत्सित वस्त्र धारी और चिन्तातुर व्यक्ति दिखाई न पड़े। सैनिकों के उत्साहवर्धन हेतु स्त्रियाँ भी साथ में जाया करती थीं[73]। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व मध्य में और अन्त में बाजे बजाए जाते थे। सबसे पहले यन्त्र आदि के द्वारा कोट को अत्यन्त दुर्गम कर दिया जाता था तथा अनेक प्रकार की विधाओं द्वारा नगर को गहवरों एवं पाशों से युक्त कर दिया जाता था[74]। सच्चे शूरवीर युद्ध में प्राण त्याग करना अच्छा समझते थे पर शत्रु के लिए नमस्कार करना अच्छा नहीं समझते थे[75]।

युद्ध की यह विधि है कि दोनों पक्षों के खेदखिन्न तथा महा प्यास से पीड़ित मनुष्यों को जल दिया जाता है, भूख से दुःखी मनुष्य को अमृत तुल्य भोजन दिया जाता था। पसीना से युक्त मनुष्यों को आहलाद का कारण गोशीर्ष चन्दन दिया जाता है, पंखें आदि से हवा दी जाती है, बर्फ के जल के छींटें दिए जाते हैं तथा इसके अतिरिक्त जो कार्य आवश्यक हो, उसकी पूर्ति समीप में रहने वाले मनुष्य तत्परता के साथ करते हैं। युद्ध की यह विधि जिस प्रकार अपने पक्ष के लोगों के लिए है उसी प्रकार दूसरे पक्ष के लिए भी है। युद्ध में निज और पर का भेद नहीं होता है। ऐसा करने से ही कत्तर्व्य की सिद्धि होती है[76]। जो राजा अतिशय बलिष्ठ शूरवीरों की चेष्टा धारण करने वाले हैं वे भयभीत, ब्राह्मण, मुनि, निहत्थे, स्त्री, बालक, पशु, और दूत पर प्रहार नहीं करते हैं[77]। शरणागत तथा शस्त्र डाल देने वाले पर भी प्रहार नहीं किया जाता था[78]।

न्याय व्यवस्था – दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करना यह राजाओं का धर्म नीतिशास्त्रों में बतलाया गया है। स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणों से राजा ही यदि नीतिमार्ग का उल्लघंन करता है तो प्रजा भी उसकी प्रवत्ति करती है, अतः राजा को चाहिए कि उसका दायाँ हाथ भी यदि दुष्ट हो तो उसे काट दे[79]। आचार्य सोमदेव का कहना है कि दूराचार करने वालों को वश में करने के लिए दण्ड को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार टेढ़ी लकड़ी आग लगाने से ही सीधी होती है, उसी प्रकार दुराचारी दण्ड से ही सीधे होते हैं[80]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सातवीं से दशवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य में राजनीति के सभी पक्षों का विशद निरुपण प्राप्त होता है। इस साहित्य के प्रणेताओं द्वारा की गई राजनैतिक व्याख्यायें उनके राजनीति विषयक गहन चिन्तन को अभिव्यक्त करती है, इससे स्पष्ट है कि धर्म के गहनतत्त्वों का गहराई से चिन्तन करने के साथ लोकनीति और राजनीति के विभिन्न पहलुओं की उन्होंने उपेक्षा नहीं की तथा अपने प्रतिभ चक्षुओं द्वारा जीवन के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों रूपों को देखा। इस प्रकार चिन्तन और विश्लेषण के क्षेत्र में उनकी अमूल्य देन है, जो प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के मूल्यवान् सन्दर्भो से भली भाँति स्पष्ट हैं।

फुटनोट

1. सोमदेव : नीतिवाक्यामृत 5/4
2. वही 5/5
3. क्षत्रचूड़ामणि 11/8
4. उत्तरपुराण 52/40
5. नीतिवाक्यामृत 19/2
6. वही 10/6
7. वही मंगलाचरण
8. पद्मचरित 66/10
9. वही 27/27
10. आदिपुराण 42/189-203
11. उत्तरपुराण 52/5
12. वही 54/117
3. वही 56/6
14. वही 57/5
15. आदिपुरण 34/75
16. जटासिंहनन्दि : वरांगचरित 29/42
17. आदिपुराण 4/161
18. वही 18/14
19. वही 5/251
20. उत्तरपुराण 59/156
21. सोमदेव : नीतिवाक्यामृत 10/23
22. नीतिवाक्यामृत 18/5

23. वही 18/3
24. वही 18/4
25. नीतिवाक्यामृत 18/44
26. वही 21/4
27. द्वि म. 21/18
28. वही 2/4
29. वही 2/13
30. क्षत्रचूड़ामणि 3/5
31. गद्यचिन्तामणि द्वितीय लम्भ पृ. 124
32. सोमदेव : नीतिवाक्यामृत 17/54
33. वही 8/6, वही 8/5
34. वही 21/24
35. आदिपुराण 28/92
36. उत्तरपुराण 54/24
37. क्षत्रचूड़ामणि 2/64
38. नीतिवाक्यामृत 20/4
39. आदिपुराण 5/2-3
40. वही 5/7-12
41. वही 5/158-160
42. द्विसंधान महाकाव्य 5/49
43. पद्मचरित 56/11, 12
44. द्विसंधान महाकाव्य 16/51
45. वही 14/31
46. उत्तरपुराण 48/142
47. चन्द्रप्रभचरित 2/138
48. वही 1/33
49. वही 1/32
50. वही 2/119
51. वही 3/71-72
52. चन्द्रप्रभचरित 1/35
53. वही 2/142
54. वही 14/46
55. वही 2/123, 13/48
56. वीरनन्दी : चन्द्रप्रभचरित 6/89
57. वही 12/1
58. वही 12/5
59. वही 12/105
60. वही 14/68
61. वही 12/106
62. वही 7/69
63. वही 12/3
64. वही 12/104
65. उत्तरपुराण 68/67
66. क्षत्रचूड़ामणि 10/22
67. वही 10/12, वही 10/18
68. वही 10/23
69. रविषेण: पद्मचरित - अष्टम पर्व - वैत्रेवण और सुमाली का युद्ध
70. वही 12/163
71. वही 12/164
72. वही 12/166
73. वही 102/106-107
74. पद्मचरित 46/230
75. वही 12/1177
76. रविषेण : पद्मचरित 75/1-4
77. पद्मचरित 66/90
78. वही 57/24
79. गुणभद्र : उत्तरपुराण 67/109-111
80. नीतिवाक्यामृत 28/25

❑❑❑

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. पद्मचरित (प्रथम भाग) मूल लेखक - रविषेण (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम आवृत्ति, जुलाई 1958
2. पद्मचरित (द्वितीय भाग) मूललेखक - रविषेण (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम आवृत्ति, फरवरी 1959
3. पद्मचरित (तृतीय भाग) मूल लेखक - रविषेण (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम आवृत्ति, नवम्बर 1959
4. वराङ्गचरित- मूल लेखक - -जटासिंहनन्दि, (अनु. प्रो. खुशालचन्द गोरावाला), भारतीयवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, वीर नि. सं. 2480
5. हरिवंशपुराण - मूल लेखक - आचार्य जिनसेन (अनु. पं. पन्नालाल, साहित्यचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम आवृत्ति, 1962 ई.
6. आदिपुराण (भाग 1) मूल लेखक - आचार्य जिनसेन (अनु. पं. पन्नालाल साहित्यचार्य) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1963 ई.
7. आदिपुराण (भाग 2) मूल लेखक - आचार्य जिनसेन (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1965
8. द्विसन्धान महाकाव्य - मूल लेखक - महाकवि धनञ्जय, सम्पादक-खुशालचन्द्र गोरावाला, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन सन् 1970 (प्रथम संस्करण)
9. क्षत्रचूड़ामणि-वादीभसिंह सूरि (अनु. मोहन लाल शास्त्री) सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, लाखा भवन, पुरानी चरहाई, जबलपुर वीर नि. सं. 2480 (द्वि. सं.)
10. गद्यचिन्तामणि - मूल लेखक- वादीभसिंह सूरि (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968, प्रथम संस्करण (1958 ई.)
11. उत्तरपुराण- मूल लेखक- आचार्य गुणभद्र (अनु. पं. पन्नालाल साहित्यचार्य) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय आवृत्ति 1968
12. चन्द्रप्रभचरित - वीरनन्दि (सम्पादक पं. दुर्गाप्रसाद) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1902 ई.
13. वर्धमानचरित - मूल ले. महाकवि असग (अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य), जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, 1974
14. चन्द्रप्रभचरित . वीरनन्दि (अनु. रूपनारायण पाण्डेय, जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, चन्दाबाड़ी, गिरगाँव बम्बई, 1916 ई.
15. नीतिवाक्यामृत - सोमदेव सूरि (अनु. पं. सुन्दरलाल शास्त्री, श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला, 23 दरियागंज, देहली (नवम्बर1950), प्रथमवृत्ति
16. रघुवंशमहाकाव्य- कालिदास (अनु. डॉ. बाबूराम त्रिपाठी) महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-2 (1970-71)
17. अपराजिपृच्छा

18. ऋग्वेद (सूरत, 1950)
19. अथर्ववेद (सूरत, 1950)
20 महाभारत शान्तिपर्व - चित्रशाला प्रेस पूना
21. रामायण
22. पार्श्वभ्युदय -जिनसेन (सम्पादक मौ. गौ. कोठारी) जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (प्रथम संस्करण)
23. गोमट्टसार (कर्मकाण्ड)
24. उपासकाध्ययन - सोमदेव सूरि (अनुवाद. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1964 (प्रथम संस्करण)
25. साहित्य दर्पण- विश्वनाथ (अनु. डॉ. सत्यव्रतसिंह), चौखम्भा विद्याभवन चौका वाराणसी, प्रथमावृत्ति 1957
26. मनुस्मृति- मनु (सम्पादक पं. रामतेज शास्त्री) पंडित पुस्तकालय, काशी सं. 2004
27. कौटिलीय अर्थशास्त्र- कौटिल्य (अनु. वाचस्पति गैरोला) चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण - 1962
28. शुक्रनीतिसार - जीवननन्द विद्यासागर, कलकत्ता प्रथम सं. 1881 ई.
29. शुक्रनीतिसार - (अनु0 विनयकुमार सरकार), इलाहाबाद
30. कामन्दकीय नीतिसार - कामन्दक (भाषा टीका- पं.ज्वाला प्रसाद मिश्र संवत् 29 शक 1874 प्र. खेमराज श्रीकृष्णदास मालिक वेंङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
31. याज्ञवल्क्यस्मृति - याज्ञवल्क्य (हिन्दी व्याख्या- उमेश चन्द्र पाण्डेय) चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी (प्रथम संस्करण- 1967)
32. वराङ्गचरित- जटासिंहनन्दि सम्पादक डॉ. ए. एन. उपाध्ये मासिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला. हीरा बाग बम्बई, प्रथम आवृत्ति 1938
33. मुद्राराक्षस- विशाषदत्त
34. कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्भा विद्याभवन, चौक वाराणसी।
35. महावीर चरित्र - असग (अनु. पं. खूबचन्द शास्त्री) प्र. मूलचन्द किशनदास कापड़िया। दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गाँधी चौक, सूरत (द्वितीययावृत्ति)
36. नीतिवाक्यामृत में राजनीति. डॉ. एम. एल. शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सितम्बर 1971
37. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका- हरिहरनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर देहली, प्रथम संस्करण (1965)
38. हिन्दू सभ्यता - डा।. राधाकुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन, देहली, द्वितीय संस्करण (1958)
39. प्राचीनभारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास- विमल चन्द्र पाण्डेय सेण्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद, तृतीय संस्करण (1968)

40. महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनीयें - डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र, भारतीय मनीषा प्राच्यविद्या गद्रन्थमाला अमत्मलकरा डी 147/293 गौदोलिया वाराणसी प्र. सं.1972
41. वैदिक साहित्य और संस्कृति -बलेदव उपाध्याय, शारदा मन्दिर 29/17 गणेश दीक्षित, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1967
42. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि-महामहोपाध्याय पंडित विश्वेश्वर नाथ रेड्, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण (1967)
43. राजनीतिविज्ञान के सिद्धान्त-पुखराज जैन ।
44. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
45. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनातमक परिशीलन-डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली, जिला, मुजफ्फरनगर (बिहार) 1965 ई.
46. धर्मशास्त्र का इतिहास-प्रथम भाग, डा1. पी. वी. काणे (अनु. प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप) एम. ए. हिन्दी समित सूचना विभाग, उ. प्र. लखनऊ, प्रथम संस्करण ।
47. अद्भुत भारत - ए. एल. बाशम (अनु. वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय) शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा - 3 (1967 ई.)
48. प्राचीनभारत के अभिलेखों का अध्ययन - डॉ. वासुदेव उपाध्याय
49. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सितम्बर 1971
50. कौटिल्य की शासनपद्धति -भगवानदास केला, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (तृतीय संस्करण-संवत् 2005 वि.)
51. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत: डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री प्र. गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला डुमरावबान बसति, अस्सी, वाराणसी ।
52. संस्कृत साहित्य का इतिहास - कीथ (प्र. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी)
53. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लेखक वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन,काशी, (1960)
54. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार नानुराम व्यास, साहित्य निकेतन, कानपुर (1964)

पत्रिकायें :- अनेकान्त वर्ष 5, किरण 3, 4 अ. मई 1942 पृ. 148-149